॥ श्रीः ॥

श्री माधवकर प्रणीतं

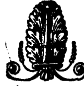
माधवनिदानम्

'सर्वाङ्गसुन्दरी' हिन्दी व्याख्या विभूषितम् ।

व्याख्याकारः—

पं० लालचन्द्र वैद्यशास्त्री आयुर्वेदाचार्य R. A. P.

प्रधानाध्यापक आ० वि० प्र० पाठशाला, काशी ।



प्रकाशकः

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः—

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस

विद्याविलास प्रेस, बनारस

तृतीयावृत्तिः] वि० संवत् २००७

मुद्रक—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस
१९५०

पूज्य पिताजी

के

चरण कमलों

में

श्रद्धा एवं भक्ति

के

साथ समर्पित



विनम्र

लाल चन्द्र वैद्य

प्रस्तावना

किसी भी दुःखकारक कारण के उपस्थित होने पर ही उसके विनाश का उपाय भी मनुष्य खोजने लगता है। यों तो पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ पाई जाती हैं जो सृष्टि के रचयिता, रक्षक और संहारकर्ता हैं, उनको भी व्याधि ने नहीं छोड़ा। तो फिर मनुष्य की कथा ही क्या ? ऐसी दशा में बिना किसी शंका-समाधान और तर्क-वितर्क के यह मान ही लेना पड़ेगा कि संसार की सबसे प्राचीन चिकित्सापद्धति और चिकित्साशास्त्र हमारा आयुर्वेद ही है।

आज-कल नवीन चिकित्साशास्त्र-वेत्तागण अपने आविष्कारों पर फूले नहीं समाते, उनसे मैं साग्रह-सानुरोध निवेदन करूँगा कि जिस बात को आप अपने उर्वर मस्तिष्क की आश्चर्यमयी उपज समझ रहे हैं, उसको आज से कई हजार वर्ष पूर्व हमारे त्रिकालज्ञानी महर्षियों ने रच डाला था। किन्तु उस पर हम इतने फूल गए थे, इतने उन्मत्त हो गए थे कि उस उन्मादजन्य-निद्रा में अचेत हो गए, हमारे घर में लूट होने लगी और हम सोते ही रह गए। हमारी ही चीज जरा तड़कभड़क के साथ हमारे सामने रखी जाती है और कहा जाता है कि—देखो, मैंने कितना सुन्दर आविष्कार किया है, अब तुम भी इससे लाभ उठाओ। हमारी इसी चेतना-हीनता के कारण आज हमारी अनेक संहितायें अप्राप्य हैं, कुछ अधूरी हैं, कुछ तुलसीकृत रामायण की भांति क्षेपकयुक्त मिल भी रही हैं। हमारी इतनी बड़ी वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति का कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता, यह कितनी लज्जास्पद कथा है। तथापि आज अपनी इस गई-गुजरी दशा पर भी महर्षियों के अक्षय ज्ञान-भण्डार और उनके आशीर्वाद के बल पर मैं उन्नतमस्तक होकर कह सकता हूँ कि आज भी हमारे आयुर्वेद में जो कुछ है, वह कहीं नहीं है। संसार की सर्वोन्नत कोई भी चिकित्सापद्धति अभी हमारे आयुर्वेद की तुलना में नहीं आ सकती। इसका ज्वलन्त उदाहरण अभी 'नालन्दा विश्व-विद्यालय' की खोदाई होने पर उपस्थित हुआ था। उसमें शल्यशास्त्र सम्बन्धी अनेक ऐसे अस्त्र-शस्त्र मिले थे, जिनके विषय में वैज्ञानिकों ने कहा था कि हम असमर्थ हैं यह बतलाने में कि इन शस्त्रों का उपयोग कहां और किस समय किया जाता है। अस्तु।

सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि इस पर अनेकानेक भयंकर प्रहार हुए, तथापि आजतक यह इतनी बड़ी शक्ति के साथ संसार-क्षेत्र में डटा हुआ है। बौद्ध-कालीन भारत तथा यवन-साम्राज्य में इतने बड़े भयंकर आक्रमण हमारे आयुर्वेद पर हुए कि दोनों शक्तियों ने इसे छिन्न-भिन्न करने में कोई कोर-कसर नहीं रखी। यद्यपि अनेकानेक शक्तियों ने अपने-अपने समय पर प्रहार किया और शान्त हो गई। लेकिन उसके बाद बहुत दिनों से डट कर उसके विनाश का उपाय किया जाने लगा। जो कुछ बचे-बचाए संहिता ग्रन्थ थे, उनको लेकर आचार्य पदवी के इच्छुक महानुभावों ने उनके अनेक स्थलों से छांट छांट कर संग्रह ग्रंथों की सृष्टि आरम्भ कर दी। सुलभ साधनों के मिलने से लोगों ने संग्रह-ग्रंथों का अपनाना आरम्भ किया। फलतः धीरे-धीरे संहिता ग्रंथों का पठन-पाठन शिथिल गति को प्राप्त हुआ। यदि यहीं तक रहता, तो भी कुछ गनीमत थी। लेकिन इससे भी लोगों को संतोष न हुआ। क्रमशः स्वयंभू विद्वानों की सृष्टि-रचना का श्रीगणेश हुआ, और आज तो इतनी बड़ी संख्या इस भारत के महान् उदर में सन्निहित है, जिसकी ठीक-ठीक संख्या निर्धारित करना असंभवप्राय है।

प्रस्तुत माधव-निदान भी उसी समय के संग्रह ग्रंथों में से एक बड़ा उपयोगी और ज्ञानवर्द्धक ग्रंथ है। माधवाचार्यजीने इतनी छोटी-सी पुस्तक में गागर में सागर भर देने का सफल प्रयत्न किया है। आयुर्वेदज्ञ संसार ने इस ग्रंथ को अपनाकर वास्तव में बड़ा भारी न्यायपूर्ण कार्य किया है। किन्तु यदि इस ग्रंथ के अध्यापन के साथ-साथ अध्यापकगण विद्यार्थियों को तत्स्थलीय संहिता ग्रंथों का भी निर्देश कर दिया करें, तो विद्यार्थियों की समझ में यह भलीभांति आ जावेगा कि वास्तव में मूल तो संहिता ग्रंथ ही हैं। यह तो माधवाचार्य जी के अथक परिश्रम और उर्वरज्ञान का सुन्दर फलमात्र है। ऐसा करने से विद्यार्थियों की रुचि अनायास ही संहिता-ग्रंथों की ओर हो जावेगी। यों तो अनेकानेक टीकायें माधव-निदान की प्रकाशित हो चुकी हैं और होती रहेंगी। किन्तु प्रस्तुत टीका माधवनिदान की एक उत्तम टीका की श्रेणियों में रखी जा सकती है। प्रस्तुत टीका के निर्माता हमारे मित्र श्रीयुत पं० लालचन्द्रजी आयुर्वेदाचार्य एक सफल अध्यापक और यशस्वी चिकित्सक हैं। काशी के तत्कालीन विद्वान् वैद्य और चिकित्सक स्वर्गीय आयुर्वेदमार्तण्ड पं० अर्जुनजी मिश्रके आप प्रधान और अन्तरंग शिष्य हैं, और उन्हीं की संस्थापित श्री आयुर्वेद-

विद्या-प्रबोधिनी पाठशाला में आप लगभग दस वर्षों से प्रधानाध्यापक-पद पर बड़ी योग्यतापूर्वक कार्य कर रहे हैं और अध्यापन कार्य के साथ-साथ आपने विशद अनुभव भी प्राप्त किया है तथा उसी पाठशाला के अन्तर्गत दातव्य औषधालय के आप प्रधान चिकित्सक भी हैं। ईश्वर की कृपा से आप आयुर्वेद के सुयोग्य विद्वान् और यशस्वी चिकित्सक हैं अतः इस ग्रंथ की टीका प्रस्तुत करने के आप स्वतःसिद्ध अधिकारी हैं। वास्तव में विद्वान् टीकाकार ने मघवा-मूल, बिडौजा-टीका वाली नीति से काम नहीं लिया है। यथासाध्य गहन विषय को भी बड़ी सरलता के साथ विस्तार-पूर्वक समझाने का प्रयत्न किया है, और अपने प्रयत्न में एक सीमातक सफल भी हुये हैं। हां, यत्र-तत्र भाषाशैथिल्य और प्रचुर पंजाबीपन अवश्य है। किन्तु वह प्रांतीयता हमारे मित्र की अपनी निज की सम्पत्ति है। जिसका आना अनिवार्य ही है।

मैं अपने सहयोगियों, वैद्य-बन्धुओं और अध्यापकगणों से सानुरोध निवेदन करूँगा कि वे माधवनिदान की इस टीका को अपनावें और टीकाकार महोदय के उत्साह को बढ़ावें, जिसमें वे उत्साहपूर्वक आयुर्वेद-साहित्य की अधिकाधिक सेवा कर सकें।

महाशक्ति औषधालय,
बुलानाला, बनारस सिटी
१५-७-३७

निवेदक—
हनूमानप्रसाद शर्मा, वैद्यशास्त्री

निवेदन

ता० ३० माह नवम्बर सन् १९३६ को प्रकाशक महोदय ने प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी अनुवाद करने की प्रेरणा की। बस उसी दिन से कार्यारम्भ कर दिया; ता० २५ अप्रैल सन् १९३७ (चैत्र शुक्ला पूर्णिमा) को ईश्वर की कृपा से कार्य पूर्ण हो गया। पाठशालीय कार्य-बाहुल्य एवं घरेलू झंझटों के कारण जो कुछ भी लिखा गया सब शीघ्रतापूर्वक, अतः भूलों तथा त्रुटियों का रह जाना अनिवार्य ही है इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

उद्देश्य

मेरा उद्देश्य केवल कास को खांसी या हिक्का को हिचकी लिखने का नहीं था अपितु अध्यापकों में तथा विद्यार्थियों में किम् (क्यों) कथम् (कैसे) और कुतः (किस कारण) की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने एवं शब्दों के मूल तक पहुँचने की उत्कट अभिलाषा को उत्पन्न करने का था, परञ्च अपनी अल्पश्रुतता तथा अल्पज्ञता के कारण इस कार्य में कुछ सफल हुआ हूं कि सर्वथा विफल, इसका निर्णय माननीय विद्वान् ही करेंगे। तो भी यदि इस अनुवाद से पाठकों को थोड़ा भी लाभ हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा। मैं प्रार्थना करता हूँ कि विद्वान् सरल एवं विशद टीकाएँ लिखने का कष्ट उठावें और आशा है कि मेरी इस प्रार्थना पर अवश्य ध्यान दिया जायगा।

अध्यापकों से प्रार्थना

आप जानते ही हैं कि वर्त्तमान पठन-पाठन-प्रणाली के अनुसार "माधवनिदान" प्रथम श्रेणी में पढ़ाया जाता है अतः आप चरक विमान अध्याय ८ सूत्र १ से १२ पर्यन्त एवं सु० सू० अ० २ को पहले ही समझाकर पढ़ा दीजिये कापी पर नोट करा दीजिये तथा स्पष्ट कह दीजिये कि "अहं वा त्वयि सम्यग्वर्तमाने यदि अन्यथा-दर्शी स्याम् एनोभाग्भवेयं अफलविद्यश्च" अर्थात् यदि मैं तुम्हारे उचित आचरण करने पर भी कपट रखूं तो पापी होऊँ तथा मेरी विद्या असफल हो जाय। ऐसा करने पर आप अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकेंगे और हो सकेंगे पुण्य तथा यश के अधिकारी।

आपको भली भाँति ज्ञात है कि संस्कृत भाषा के सभी शब्द सार्थक हैं; अपने वाच्य को या तात्पर्य को पूर्णतया अपने में निहित रखते हैं। इन्हें प्रायः दूसरे साधनों की सहायता अपेक्षित नहीं है। ये स्वयं सिद्ध हैं अतएव शब्द को ब्रह्म (बृहत्, बड़ा) या ईश्वर (सामर्थ्यवान्, शक्तिमान्) कहा गया है अतः आप अपने शिष्य को शब्द-ब्रह्म की उपासना या चिन्तन या विचार करने का अभ्यास करावें और प्रत्येक शब्द की ऐसी व्याख्या (यथासम्भव) करें कि उसके भीतर छिपी हुई अर्थनिधि प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगे। शिष्यों के सामने अपने हृदयगत भावों को स्पष्ट रूप से रख दीजिये और धो डालिये उस कलंक-कालिमा को जो अध्यापकों के मुख पर उनके "गोपनीयं गोपनीयं" के कारण पुती हुई (कुछ अंशों में सही भी है) है। विचारिये कि जो मनुष्य अपने जीवन के बहुमूल्य भाग को बड़ी बड़ी आशाएं लिए हुए आपकी सेवा में बिता रहा है वह फिर कब और किसके पास जाकर सीखेगा और कृपया कभी मत कहिये कि अमुक बात फिर बतलाएंगे[1]। इससे होगा यह कि छात्रों में आप के प्रति सद्भावना एवं श्रद्धा उत्पन्न होगी और उनका उत्साह भी बढ़ेगा।

कृपया एक काम और यह कीजिये कि छात्रों में उपयोगी विषयों को नोट करने करने की प्रवृत्ति को उत्पन्न कीजिये ताकि वे यह समझने लगें कि दिन भर की पढ़ाई में कौन बात उल्लेखनीय एवं स्मरणीय तथा विचारणीय है या कौन ऐसा शब्द या वाक्य है कि जिसके पूर्णतया समझ लेने या मन में बिठा लेने से सब का सब पाठ या विषय समझ में या मन में आ जायगा और बैठ जायेगा। कुछ दिनों ऐसा करने पर आपके विद्यार्थी स्वयं सोचने विचारने एवं समझने के अभ्यासी हो जायँगे और हो जायँगे नीर-क्षीर-विवेकी।

शिष्यों को शिक्षा

प्यारे विद्यार्थियों! तुम पहले-पहल जिस दिन अध्यापक महोदय की सेवा में उपस्थित हो पहिले अध्ययन विधि पढ़ो[2], उसमें लिखे हुए सभी नियमों का भली

१—विद्यार्थी का सम्पूर्ण भविष्य आपके हाथ में है आप ही उसके अभिभावक, संरक्षक एवं पथप्रदर्शक हैं।

२—यदि अध्यापक महाशय न पढ़ावें तो अनुरोध करके पढ़ो, परञ्च पढ़ो अवश्य।

भाँति पालन करो और उन बातों को सदैव स्मरण रखो तथा अध्यापक की सभी आज्ञाओं का पालन शुद्ध हृदय से करो बशर्ते कि वे (आज्ञाएँ) धार्मिक राजा के साथ द्वेष करने के लिये, किसी के प्राण हरने के लिये, बहुत बड़े (थोड़े भी) अधर्म के लिये एवं किसी प्रकार के अनर्थ के लिए न हों।

एक बात और—किसी भी शब्द को, वाक्य को तथा श्लोक को स्मरण करते (घोखते, रटते) समय उसके अर्थ को या तात्पर्य को भली प्रकार विचारो और मनन करो थोड़ा सा परिश्रम पूर्वक। अभ्यास करने पर शब्द ब्रह्म की प्रकाशमान ज्योतिः आपके हृदय मन्दिर को प्रकाशित कर देगी और आपको ब्रह्मानन्द का अनुभव होने लगेगा। .

एक बात और—अपनी पाठ्य-पुस्तकों के साथ साथ आधुनिक (इधर के संकलित) पत्र पत्रिकाओं तथा आयुर्वेदिक[1] ग्रन्थों का अध्ययन करो एवं अपनी पुस्तकों के साथ मिलान करो और देखो कि कहाँ कहाँ समता है और कहाँ कहाँ विषमता अथवा विरोध। पूर्णतया विचार के बाद जो भी अच्छी बात पाओ उसे ग्रहण कर लो क्योंकि (परेभ्योऽपि अगमयिताव्यम् तथा कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम् च० वि० अ० ८) अर्थात् बुद्धिमानों का सारा संसार ही आचार्य है, गुरु है, अध्यापक हैं एवं शिक्षक हैं और मूर्खों का शत्रु।

एक बात और—तुम कटिबद्ध[2] होकर आयुर्वेद का अध्ययन करो क्योंकि यह विषय अनन्त एवं व्यापक है अतः सर्वसाधारण की बातों पर भी पूर्णरूप से ध्यान दो अर्थात् तुम देखोगे कि तुम्हारे नगर के निवासी ऊँच नीच सभी लोग रोगविनिश्चय के सरल सूत्र उनकी अत्यन्त सरल चिकित्सा एवं रोगी के मृत्युसूचक तथा आरोग्यसूचक लक्षण आदि बातों को कितनी अच्छी तरह जानते हैं कि तुम देख सुन कर आश्चर्यचकित हो जाओगे। बस, तात्पर्य यह कि उनकी बातों पर खूब

१—यह मत समझो कि संस्कृत भाषा में लिखे हुए पुराने ग्रन्थ ही "आयुर्वेदिक ग्रंथ" हैं। नहीं, प्राणी के शरीर का, शरीर के रोगों का एवं रोगों के उपायों का चाहे किसी भी पुस्तक में या किसी भी भाषा द्वारा वर्णन किया हो बस वही "आयुर्वेद" है।

२—"परं प्रयत्नमातिष्ठेत्प्राणदः स्याद् यथा नृणाम्" अर्थात् इतना प्रयत्न करो कि तुम प्राणिमात्र के प्राणदाता बन सको।

ध्यान दो; मूर्खों की बातें जानकर उपेक्षा मत करो। वे आप को एक अच्छा चिकित्सक[1] बना देंगे; यही है इस विषय की अनन्तता तथा व्यापकता।

एक बात और—इस पुस्तक में रोग जानने के ही उपाय बतलाए गये हैं रोगी जानने के नहीं। सुनिये "दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्" (वा० सू० अ० १) अर्थात् उपस्थित व्यक्ति को दर्शन (उसके शरीर आदि की दशा देखकर) से, स्पर्शन (उसके शरीर की सरदी गर्मी एवं मृदुता कठिनता आदि देख कर) से और प्रश्न (कहां पर शूल है दाह है कण्डू है इत्यादि पूछकर) से जान लो कि वह रोगी है या नहीं। यदि रोगी है तो फिर उक्त निदान पूर्वरूपादि उपायों से रोग का विनिश्चय करो तत्पश्चात् करो विधिपूर्वक चिकित्सा। बस तुम्हारा कर्तव्य पूरा हो गया "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" गीता।

बस एक बात और—हमारे संस्कृत के ग्रन्थ ऐसे उत्तम ढंग से लिखे गये हैं कि उनके प्रकरणों की परम्परा भी बड़े से बड़ा अर्थ[2] रखती है तथा उनका एक एक शब्द वह अर्थ रखता है जो बड़ी से बड़ी व्याख्या द्वारा प्रकट किया जा सकता है। उदाहरण—उपलब्ध ग्रंथों में सम्भवतः कहीं नहीं लिखा कि अँतड़ियों (अन्त्रों) में एक प्रकार की गति सर्वदा होती रहती हैं किन्तु उसके लिये "अम गतौ" धातु से निर्मित "अन्त्र" शब्द का प्रयोग कर के महामान्य महर्षियों ने चुपके से बतला दिया कि अन्त्रों में सर्वदा गति होती रहती है ऐसी २ अनेक बातें जानने के लिये बाहरी पुस्तकों को पढ़ने की मेरी सम्मति अनुपयुक्त अथवा व्यर्थ नहीं समझी जायगी। मेरी दृढ़ धारणा होती जा रही है कि यूनानी तथा पाश्चात्य विद्वानों ने केवल[3] भारतीय आयुर्वेदिक ग्रन्थों की व्याख्या की है। इस कार्य के लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। यही नहीं संसार के वे सभी विद्वान् जिन्होंने ज्ञानवृद्धि करके

१—यह बात असत्य नहीं; कितने लोग ग्रन्थों का नाम तक नहीं जानते और उच्चकोटि के चिकित्सक हैं।

२—यथा ग्रहणी के बाद अर्शः पढ़ने का तात्पर्य है कि प्रायः ग्रहणी रोग वालों को अर्श हो जाती है, इत्यादि।

३—सम्भव है कुछ नई खोज भी की हो क्योंकि उनके हृदय में भी वही ज्ञान-ज्योतिः जग रही थी या जग रही है जिसके लिये भगवान् कृष्ण ने कहा है—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। गीता अ० १८ श्लो० ६१

मानव जाति का कुछ भी उपकार किया है चाहे वे देशीय हों या विदेशीय धन्यवाद के, श्रद्धा के, भक्ति के, प्रेम के तथा आदर के पात्र हैं। सर्वेभ्यो विद्वद्भ्यो नमः।

कृतज्ञता प्रकाशन

मैं अपने उन माननीय मित्रों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने में प्रोत्साहन, सहायता एवं बहुमूल्य सम्मतियां देकर मुझे अनुगृहीत किया है। मैं उनके आदरणीय शुभ नामों का उल्लेख करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, यथा—सर्व श्री पं० सत्यनारायण शास्त्री प्रो० हि० वि० वि० काशी, पं० दुर्गादत्त जी शास्त्री, मारवाड़ी हिन्दू अस्पताल, पं० हनुमानप्रसादजी[1] वैद्यशास्त्री, बुलानाला, पं० बृजमोहन जी दीक्षित रसशाला काशी, पाठशालीय छात्र पं० ताराशंकर जी मिश्र आयुर्वेद शास्त्री ने मेरी बहुत बड़ी सहायता की है; अतः मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि उनका भविष्य उज्ज्वल हो। पं० शम्भुनाथ जी भी अपनी दौड़ धूप के लिये धन्यवाद के पात्र हैं। पं० हरिनारायण जी शर्मा वैद्य (काशी) एवं स्वर्गीय त्रिलोकीनाथ जी वर्मा की पुस्तकों से मुझे बड़ी सहायता मिली है, उनके लिये भी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

शुभ कामना

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे कुशलिनस्सन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

इति शम्

विदग्ध
लालचन्द्र वैद्य

१—इन्हीं की विशेष कृपा से पुस्तक इतनी अच्छी प्रस्तुत हो सकी है।

॥ श्रीः ॥

विषयसूची

विषयाः — पृष्ठाङ्काः

अश्मरीरोगनिदानम् ।

मेह–प्रमेहपिडकानिदानम् ।

मेदोरोगनिदानम् ।

उदररोगनिदानम् ।

शोथनिदानम् ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः

व्रणशोथनिदानम् ।

शारीरव्रणनिदानम् ।

सद्योव्रणनिदानम् ।

भग्ननिदानम् ।

नाडीव्रणनिदानम् ।

भगन्दरनिदानम् ।

मुखरोगनिदानम् ।

प्राप्तिस्थानम्—

चौखम्बा-संस्कृत-पुस्तकालय,

बनारस—१

श्री धन्वन्तरये नमः ।

श्री रोगविनिश्चयः

माधव-निदानम्



पञ्चलक्षणनिदानम् ।

प्रणम्य जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम् ।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं त्रैलोक्यशरणं[1] शिवम् ॥ १ ॥
नानामुनीनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजा नियोगात् ।
सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम् ॥ २ ॥

अर्थ-मैं (माधवाचार्य) संसार की उत्पत्ति, पालन-पोषण तथा विनाश के कारण, सुख और मोक्ष के प्रदाता तीनों लोकों मे व्यापक भगवान् शंकर (परमेश्वर) को प्रणाम करके अनेक महर्षियों (चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट आदि) के कथनानुसार, माननीय चिकित्सकों की आज्ञा से[2] सब संक्षेप में उपद्रव[3], अरिष्ट[4], निदान[5] एवं लिंग[6] से युक्त इस "रोगविनिश्चय" नामक ग्रन्थ की रचना (संग्रह) करता हूं ।

वक्तव्य—प्रायः प्रत्येक लेखक को अपने ग्रन्थ के, लोगों द्वारा आदृत एवं प्रमाणित होने में सन्देह रहता है, अतएव माननीय माधव जी ने "नानामुनीनां वचनैः" के द्वारा सूचित कर दिया है कि यह ग्रन्थ

१—"त्रैलोक्यशरणं", "शरणं गृहरक्षित्रोः" "इत्यमरः" के अनुसार तीनों लोकों में है घर जिसका या तीनों लोकों का जो घर है अर्थात् सर्वव्यापकम् ।

२—अथवा इदमेव कर्तव्यमिति नियोगः—सु० उ० त० अ० ६५ के अनुसार ।

३—रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकार उपद्रवः अर्थात् रोगोत्पादक दोष के प्रकोप से उत्पन्न होने वाला कोई और रोग "उपद्रव" कहलाता है ।

४—निश्चित काल में या अवश्यं—भावी मृत्यु का सूचक लक्षण "अरिष्ट" कहलाता है । ५—रोगोत्पादक हेतु को "निदान" कहते हैं ।

६—रोग व्यापक पूर्वरूपादि को "लिंग" कहते हैं ।

मेरे मन की कोरी कल्पना नहीं है; अपितु श्रद्धेय चरक–सुश्रुत आदि महर्षियों के वाक्यों का संग्रह मात्र है। "इदानीं" शब्द से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसके पूर्व इस प्रकार का कोई संगृहीत ग्रन्थ नहीं था। यही कारण है कि सम्पूर्ण भारत के विद्वानों ने ही इसका अपूर्व आदर नहीं किया, अपितु विदेशियों ने भी इस पर मुग्ध होकर अपनी भाषा में इसका अनुवाद करके लाभ उठाया है। और इस ग्रन्थ पर अनेक भाष्य एवं टीका टिप्पणियों के अतिरिक्त घर २ में इसका प्रचार ही इसकी उत्तमता का ज्वलन्त उदाहरण है। इस पुस्तक का वास्तविक नाम "रोग विनिश्चय" है "माधवनिदान" तो केवल ग्रन्थकर्ता के प्रति सम्मान एवं कृतज्ञता प्रकट करने के लिये हमारे पूर्वजों द्वारा चलाया हुआ नामान्तर है। यही बात अन्यान्य ग्रन्थों के नामकरण के विषय में देखी जाती है।

नानातन्त्रविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम्।
सुखं विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति ॥ ३ ॥

अर्थ—अनेक तन्त्रों अर्थात् चरकादि संहिताओं के ज्ञान से विहीन अत एव अल्प बुद्धिवाले वैद्यों को सरलता से रोगों का ज्ञान कराने के लिये यही ग्रन्थ सहायक होगा।

वक्तव्य—उपर्युक्त तीनों श्लोकों द्वारा नमस्कार, वस्तु-निर्देश एवं आशीर्वादात्मक मंगलाचरण द्वारा शिष्टाचार की प्रणाली का पालन भी किया गया है।

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥ ४ ॥

अर्थ—निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं संप्राप्ति यह रोगों का निश्चय करने के पांच उपाय या साधन हैं।

वक्तव्य—ये पांचों ही पृथक् २ एवं सब मिलकर रोग जानने के साधन हैं। निदान—जिस से रोगकी उत्पत्ति होती है। पूर्वरूप—भावी रोग का सूचक लक्षण। रूप—वर्त्तमान रोग का निश्चायक लक्षण। उपशय—गूढ़ या अनिश्चित रोग का परिचायक उपाय जो कि केवल

उस रोग के लक्षणों को ध्यान में रख कर किया जाता है। स्मरण रखिये कि उपशय तथा चिकित्सा में यही थोड़ा सा भेद है। अर्थात् चिकित्सा निश्चित रोग की निवृत्ति के उपाय का नाम है। अत एव उपशय को रोगज्ञान के उपायों में गिना है सुखप्रद देश एवं काल को भी उपशय में गिन लेना चाहिये। यथा—यक्ष्मा के लिये पार्वत्य (पहाड़ी देश) प्रदेश या रक्त रोगों के लिये मरु देश एवं रक्त पित्त के लिये शीत काल या श्वास के लिये उष्ण काल। इसे रोगी ही वैद्य के पास आकर कहा करता है कि अमुक अमुक औषध आदि से मुझे आराम मिलता है। बस वैद्य को इतने ही से रोग विनिश्चय में सहायता मिल जाती है। सम्प्राप्ति—रोग की उत्पत्ति का प्रकार, प्रत्येक रोग की उत्पत्ति का प्रकार भिन्न-भिन्न होता है, यही कारण है कि केवल तीन ही दोषों से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः।

निदानमाहुः पर्यायैः,—

अर्थ—निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान एवं कारण ये सब निदान के पर्याय या नामान्तर हैं।

वक्तव्य – निमित्त—शकुन अर्थात् अपशकुन। हेतु—प्रयोजक कर्त्ता या प्रेरक जैसे पाण्डु रोग में दोषों को प्रेरित करने वाली मृत्तिका या मिट्टी। आयतन—स्थान जैसे उड़ीसा की भूमि रक्त विकारों को कर देती है अथवा प्रयत्न या साहस जिस से उरःक्षत हो जाता है। प्रत्यय—विश्वास इस से भी रोग हो जाते हैं जैसे—विषवेग। उत्थान—उद्गम अथवा उत्सर्ग दोषों धातुओं एवं मलों का उभरना जैसे शीतपित्त या रक्तपित्ती में क्षण भर के लिये रक्त का उबाल या विषम ज्वरों या अन्यान्य वेगवान् (दौरे वाले) रोगों का वेग होना अथवा उक्त दोष धातु मलों का उभर कर (उत्थाय) रुक जाना (स्थानं स्थागतिनिवृत्तौ धातु) इस से उदावर्त्त हो जाता है। कारण—अभिघातादि। इस प्रकार ये शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों के वाचक होते हुए भी रोगोत्पादक होने के कारण परस्पर पर्याय हैं और साथ ही भिन्न-भिन्न प्रकार के हेतु होने के सूचक भी हैं।

—प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥ ५ ॥

उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः ।

लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद्व्याधीनां तद्यथायथम् ॥ ६ ॥

अर्थ—किसी दोष विशेष से थोड़ा सम्बन्ध रखने वाला उत्पित्सु अर्थात् भावी रोग जिस लक्षण से जाना जाता है उसे प्राग्रूप या पूर्वरूप कहते हैं। अथवा व्याधि के अल्प (कम वा कुछ प्रकट) होने के कारण उस के अपने ठीक ठीक न प्रकट हुए लक्षण भी पूर्वरूप कहे जाते हैं।

वक्तव्य—भावि व्याधि बोधकं लिंगं पूर्वरूपं, तथा पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः (चरक) इन दोनों वाक्यों को भली भांति हृदय में बैठा लेना चाहिये। "प्राग्रूप·········धिष्ठितः" पर्यन्त उस पूर्वरूप का वर्णन है जो रूपावस्था में निश्चित रूप से नहीं रहता जैसे अतिसार का पूर्वरूप 'विट्संग" (मलावरोध) रूपावस्था (मलनिःसरण) के समय नहीं रहता तथा "लिंग·······यथायथम्" पर्यन्त उस पूर्वरूप का वर्णन है जो पूर्णतया व्यक्त हो कर "रूप" कहलाता है जैसे "अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्" (उरःक्षत) इत्यादि। तात्पर्य यह है कि कुछ पूर्वरूप व्याधि के प्रकट होने पर शान्त हो जाते हैं और कुछ और भी बलवान् होकर रूप बन जाते हैं।

तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते ।

संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृतिः ॥ ७ ॥

अर्थ—वही (अल्प होने के कारण व्याधि का अपना रूप) पूर्वरूप पूर्णतया प्रकट होकर "रूप[1]" कहलाता है। संस्थान, व्यञ्जन, लिंग, लक्षण, चिह्न, एवं आकृति उस (रूप) के पर्याय हैं।

१—यह स्मरण रखिये कि पूर्वरूप ही व्यक्त होकर "रूप" होता है इतना नहीं; अपितु कुछ नवीन एवं पूर्वरूप के सर्वथा विरुद्ध भी लक्षण उत्पन्न होते हैं। ज्वर के पूर्वरूप में ज्वर या सन्ताप नहीं पढ़ा गया है एवं अतिसार में "विट्सङ्ग के विरुद्ध विट्सरण'' होता है । मेरे विचार में चरक का यह "प्रादुर्भूत लक्षणं पुनर्लिङ्गम्" वचन बहुत ही स्पष्ट है अतः स्मरण रखना चाहिये।

वक्तव्य—संस्थान—सन्निवेश अर्थात् स्थान विशेष से रोग की विवेचना करना जैसे हृदयशूल, वस्तिशूल अथवा आमाशयशूल। व्यञ्जन—विशिष्ट व्यक्तित्व जैसे ज्वर में सन्ताप, गुल्म में गोला अथवा अश्मरी में पथरी इत्यादि। अर्थात् रोग का विशिष्ट लक्षण। लिंग-जिसका अनुभव रोगी ही को होता है दूसरे लोग केवल उसके कथनानुसार उसका अनुमान ही करते हैं जैसे वेदना, कण्डू एवं शूल इत्यादि। लक्षण—सहयोगी लक्षण जो कि मूल व्याधि के साथ साथ रहते हैं। इन सबका रहना आवश्यक नहीं है जैसे विसूची में मूर्च्छा इत्यादि एवं सब लक्षण तब ही उत्पन्न होते हैं जब रोग असाध्य हो जाता है। चिह्न—(चह—परिकल्कने "धातु" भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियां जैसे अन्त्रकूजन अर्थात् अतड़ियों में कुलल कुलल शब्द होना या "कपोत इव कूजेच्च" अपतन्त्रक में। आकृति—आकार जैसे कापालकुष्ठ या मण्डलकुष्ठ अथवा शतपोनक भगन्दर या उष्ट्रग्रीव भगन्दर अर्थात् जिसे नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया जा सकता है। इन प्रकारों से रोग का जो निरूपण होता है उसे "रूप" कहते हैं एवं इन्हीं के पहिले प्राग वा पूर्व या इसी प्रकार के अर्थ वाले अन्य शब्दों का प्रयोग होता है तो उसे "पूर्वरूप" कहते हैं। हां, यहाँ पर "रूप" शब्द केवल चक्षुर्ग्राह्य गुण का वाचक नहीं है अपितु पञ्च ज्ञानेन्द्रिय ग्राह्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध" का वाचक है अतः चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह आवश्यकता या सुविधा के अनुसार विवेचन करे। यथा-शब्द—उस उस रोग में यथा सम्भव भिन्न २ प्रकार की ध्वनियाँ सुने यथा गुल्म में अन्त्रकूजन। स्पर्श-मृदुता कठिनता आदि हाथ से स्पर्श करके जाने। रूप—कामला पाण्डु आदि में या रक्तपित्त में रक्त के वर्णों पर दृष्टिपात करे। रस—प्रमेह आदि में मूत्र के रसकी विवेचना। आप उसे चख कर रसास्वादन कर सकते हैं! (हंसिये) नहीं २ इस विज्ञान युग में इसके भी साधन बन गये हैं (देखिये प्रमेह निदान) अथवा चीटियों द्वारा मधुरता का ज्ञान एवं हरिद्रा द्वारा उसकी क्षारता का ज्ञान कर सकते हैं। गन्ध-विविध प्रकार को गन्धों का जानना। तात्पर्य यह कि रोग का रोगी के शरीर पर कहाँ २ एवं कैसा प्रभाव पड़ा है। इसका भली भाँति विचार कर लेना चाहिये।

उपशय चक्र।

नाम	औषधि	अन्न	विहार
हेतु विपरीत ।	शीतज्वर में उष्ण औषधि-शुण्ठी	श्रम तथा वात जन्य रोग में मांस रस एवं भात	दिवाशयन जन्य कफ रोग में विपरीत आचरण रात्रि जागरण
व्याधि विपरीत ।	अतिसार में मलावरोधक औषधि पाठा इत्यादि	अतिसार में मलावरोधक पथ्य मसूर आदि	उदावर्त्तमें अधोवायु निकालने के लिये कांखना
हेतु व्याधि विपरीत	वात जन्य शोथ में:-दशमूल क्वाथ । वायु एवं शोथ दोनों का परिहारक है ।	वात कफ जन्य संग्रहणी में तक्र पान । वात कफ एवं संग्रहणी नाशक ।	दिवाशयन जन्य तन्द्रा में:-तन्द्रा से विपरीत स्निग्धता-नाशक रूक्ष रात्रि जागरण ।
हेतु विपरीतार्थ कारी	पित्त प्रधान व्रण शोथ में पित्त-कारक उष्ण पिण्डी बांधना ।	पच्यमान व्रण शोथ में दाहकारक अन्न का भोजन करना ।	वातजन्य उन्माद में त्रास देना ।
व्याधि विप-रीतार्थकारी	छर्दि रोग में वमनकारक मैनफल ।	अतिसार में रेचक दुग्ध ।	छर्दि रोग में गले में हाथ की उंगली या कमलनाल डालकर वमन करना ।
हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी	अग्निदग्ध पर उष्ण अगर आदि का लेप । या 'विषस्य विषमौषधम्''	मद्यपान जन्य मदात्यय में मदकारक मद्य पान ।	दण्डकसरत इत्यादि व्यायामों से उत्पन्न वात रोग में जल में तैरना स्वरूप व्यायाम करना

नोट— इसी प्रकार का चक्र 'अनुपशय' का भी बन सकता है । अपने अध्यापक से बनवा कर देख लें ।

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम् ॥ ८ ॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ।

अर्थ—हेतु (कारण या निदान) से तथा व्याधि (रोग) से अथवा दोनों से विपरीत (प्रतिकूल) एवं विपरीत के अर्थ (प्रयोजन) को करने वाले औषध (हरीतकी, गुडूची तथा क्वाथ चूर्ण आदि) अन्न (खाद्य, पेय पदार्थ जो कि पथ्य में बतलाते जाते हैं) एवं विहार (नहाना, धोना, सोना, जागना एवं घूमना या बैठना) के सुखदायक उपयोग (सेवन) को "उपशय"[1] या व्याधि का सात्म्य कहते हैं ।

विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्याभिसंज्ञितः ॥ ९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त उपशय से विपरीत अनुपशय तथा व्याधि का असात्म्य कहा जाता है अर्थात् हेतु और व्याधि के अथवा दोनों के अनुकूल अथवा अनुकूल के अर्थ को करने वाले औषध, अन्न एवं विहार के दुःखदायक उपयोग को "अनुपशय" कहा जाता है ।

वक्तव्य—सीधी बात यह है कि जिस औषध, आहार एवं विहार से रोगी को स्थायी आराम मिलता है वह उपशय और जिससे कष्ट बढ़ता है वह अनुपशय कहलाता है । कुछ ऐसे उपशय भी होते हैं जिनसे

१—तात्पर्य यह है कि विपरीत न होते हुए भी अर्थात् हेतु-व्याधि के अनुकूल होते हुए भी विपरीत अर्थ को करने वाले औषधादि का सेवन भी उपशय होता है । जैसे साधारण जले हुए स्थान को सेंका या तापा जाता है—एवं दौड़ कर आये हुए घोड़े को धीरे २ टहलाया जाता है क्योंकि ऐसा करने से लाभ होता है अतः इसे उपशय कहा जाता है । हमारे विचार में "होमियो पैथिक" चिकित्सा का विशाल भवन इसी "विपरीतार्थकारी" सिद्धान्त की नींव पर खड़ा किया गया है। उक्त चिकित्सा प्रणाली का सिद्धान्त यही है अर्थात् "रोगजनक द्रव्य ही रोग नाशक होता है ।" विशेष जानने के लिए उक्त विषय की पुस्तकें पढ़िये । मानव समाज का कर्त्तव्य है कि वह होमियोपैथी के आविष्कर्त्ता उस चतुर चिकित्सक श्री हैनिमेन महोदय को धन्यवाद दें जिसने इस सिद्धान्त को सफल बनाया है ।

तत्काल तो कष्ट होता है किन्तु उसका फल सुखदायक होता है जैसे थोड़े२ वमन में भली प्रकार वमन करवा देना तथा इसी प्रकार कुछ अनुपशय भी ऐसे होते हैं जो तत्काल तो सुख देते हैं किन्तु उनका फल दुःखदायक होता है जैसे ज्वर की प्यास में शीतल जल का सेवन। शेष कोष्ठक से समझिये। आत्मा-प्रकृति-स्वभाव या शरीर के अनुकूल औषधादि-का सेवन सात्म्य[1] कहलाता है।

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः ॥१०॥

अर्थ—जिस प्रकार दुष्ट हुये और जिस प्रकार शरीर में गति करते हुये दोष से रोग की उत्पत्ति होती है उसे सम्प्राप्ति कहा जाता है। जाति और आगति उसके पर्याय हैं।

वक्तव्य—सम्प्राप्ति को भली प्रकार समझ लेने से चिकित्सा में सुविधा तो होती ही है, अपितु रोग जानने में भी पर्याप्त सहायता मिलती है, यथा-दोष किस प्रकार दुष्ट हुआ अर्थात् किस धातु या मल के साथ मिल कर उसमें विकृति आ गई है और दोष किस स्थान से चल कर कहाँ गया किस मार्ग से गया इत्यादि बातों को जान लेने से रोग की तह का पता चल जाता है। मेरे विचार में इसके पर्यायों में कुछ तात्पर्य है यथा-सम्प्राप्ति दोष की वह गति जिसे रोगी ही अनुभव करता है, जैसे-आमातिसार में मरोड़ या अपतन्त्रक में वायु उद्ध्र्वगमन।

जाति—प्रादुर्भाव—दोषों की वह गति जिसे दूसरे भी देख सकते हैं जैसे पादगत शोथ का मुख की ओर जाना।

आगति—आगमन—दोष का स्थानांतरित होना, यथा-तूनी प्रतितूनी में वायु की उद्ध्र्वाधः गति के भेद से वे दो रोग माने जाते हैं।

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः।

१—और सात्म्य ही उपशय (उपशेते) अर्थात् शरीर में शयन कर सकता है या व्याप्त हो सकता है; क्योंकि जो शरीर में रहने योग्य नहीं उसे तो स्वभाव या प्रकृति शीघ्र ही बाहर निकालने का यत्न करती है यदि नहीं निकाल सकती तो रोग हो जाता है।

सा भिद्यते यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति ॥ ११ ॥

अर्थ—उक्त सम्प्राप्ति संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल एवं काल की विवेचना के भेद से पांच प्रकार की होती है (अर्थात् रोगों की संख्या आदि का जो विचार किया जाता है वह सब सम्प्राप्ति के ही अन्तर्गत हो जाता है । अतः सिद्ध हो गया कि रोग जानने के पाँच ही उपाय हैं अधिक नहीं) संख्या सम्प्राप्ति—जैसे ज्वर आठ, अतिसार छः, कास पाँच एवं प्रमेह बीस होते हैं । इत्यादि अर्थात् रोगों की संख्या का निर्देश संख्या-सम्प्राप्ति कहलाती है ।

वक्तव्य—संख्या का निर्देश भिन्न २ विचार से भिन्न २ होता है । इसका निश्चय प्रायः दोषों के अनुसार किया जाता है; किन्तु कहीं २ विप्रकृष्ट कारणों के अनुसार भी मान लिया जाता है । यथा—आगन्तु ज्वर या शोकातिसार या मृत्तिका जनित पाण्डुरोग इत्यादि ।

दोषाणां समवेतानां विकल्पोंऽशांशकल्पना ।
स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥ १२ ॥

अर्थ—संमिलित दोषों के न्यूनाधिक्य का विचार कर निश्चय करना "विकल्प सम्प्राप्ति" एवं व्याधि की स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता का विचार करके उसकी प्रधानता अथवा अप्रधानता का निश्चय करना "प्राधान्य सम्प्राप्ति" मानी जाती है ।

वक्तव्य—तात्पर्य यह कि सम्मिलित दोषों का विभागशः विचार करना अर्थात् कौन दोष प्रबल है या कौन अबल है या कौन बढ़ा हुआ है या कौन घटा है इसका विचार ही "विकल्प सम्प्राप्ति" और मिली हुई व्याधियों की प्रधानता या अप्रधानता का विचार करना "प्राधान्य सम्प्राप्ति" कहलाती है । यह स्मरण रखना चाहिये कि "न रोगोऽप्येकदोषजः" कोई भी रोग एक दोष से उत्पन्न नहीं होता अर्थात् प्रत्येक रोग की उत्पत्ति में सब दोषों का हाथ रहता है इसी प्रकार व्याधियों का भी संकर या मिश्रण होता है । प्रत्येक रोग लक्षणों के रूप में यथा-पित्त ज्वर में अतिसार कफ ज्वर में कास अथवा कभी २ दो या कई रोग भी उत्प-

न्न हो जाते हैं जैसे अर्श के साथ गुल्म या उदर बस विकल्प सम्प्राप्ति एवं "प्राधान्य सम्प्राप्ति" द्वारा ही चिकित्सक किसी भी रोग को वातज, पित्तज आदि तथा ज्वर या अर्श आदि कहा करता है। अन्यथा उसके पास यह कहने के लिये दूसरा कोई साधन नहीं है।

हेत्वादिकात्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम् ।
नक्तं दिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥ १३ ॥

अर्थ—निदान पूर्वरूप आदि की सम्पूर्णतया या बलवत्ता से एवं उनकी अपूर्णता या दुर्बलता से रोग की प्रबलता अथवा दुर्बलता की जो विवेचना की जाती है वह क्रमशः "बल सम्प्राप्ति" और अबल सम्प्राप्ति कही जाती है तथा रात्रि, दिन, ऋतु एवं भुक्तआहार के पाक काल के विभागानुसार कुपित होने वाले दोष को देख कर जो निश्चय किया जाता है वह "काल सम्प्राप्ति" मानी जाती है।

वक्तव्य—एक ही रोग के निदान पूर्वरूप तथा रूप आदि कभी बड़े ही प्रबल होते हैं और कभी दुर्बल होते हैं, यथा—कभी खोया (जो अति गुरु है) खाने से भीषण हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोद आदि पूर्व रूपों के अनन्तर अतिसार हो गया जिस से रोगी को २४ घण्टे में २४ बार टट्टी जाना पड़ा और कभी दुग्ध (जो साधारण गुरु है) पीने से साधारण पूर्वरूप के अनन्तर अतिसार हो गया जिससे २४ घण्टे में ६ बार टट्टी जाना पड़ा बस यह क्रमशः प्रबल एवं दुर्बल अतिसार माना जायगा। अब काल संप्राप्ति के विषय में भी सुनिये—इस के द्वारा उस २ समय में उत्पन्न होने एवं बढ़ने वाला रोग उस २ दोष का समझा जाता है यह स्मरण रखिये कि रात्रि दिन आदि को तीन तीन भागों में विभक्त कर लिया जाता है बस उन्हीं विभागों में दोषों का वेग होता है जिस से रोग की उत्पत्ति या वृद्धि होती है यह प्राकृतिक नियम है। इसे आप कोष्ठक से भली प्रकार समझ लेंगे। बस इन सब बातों को भली भांति अवगत कर लेने पर ही चिकित्सा की सफलता निर्भर है।

*कोष्ठक

दोषः—	कफ	पित्त	वात	
समयः—	आदि	मध्य	अन्त	४–४ घण्टे के विभागानुसार
रात्रिः—	,,	,,	,,	
दिनः—	,,	,,	,,	
भुक्तः—	,,	,,	,,	भोजन के अनन्तर से परिपाककालपर्यंत
ऋतुः—	हेमन्त, वसन्त	वर्षा शरद्	ग्रीष्म प्रावृट्	

इति प्रोक्तो निदानार्थः तद् व्यासेनोपदेक्ष्यते ।

अर्थ—यह सब रोगविनिश्चय के उपायों का तात्पर्य कह दिया है और आगे विस्तार से रोगविनिश्चय का उपदेश किया जायगा ।

वक्तव्य—यहाँ पर निदान शब्द का अभिप्राय केवल निदान या हेतु से नहीं "अपितु निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिः अनेन इति निदानम्" के अनुसार निदान पूर्वरूप एवं रूप आदि रोग जानने के सभी उपायों से है जिनका तात्पर्य अब तक कहा जा चुका है क्योंकि रोग जानने के यही उपाय हैं । आगे पुस्तक भर में उन्हीं का प्रत्येक रोग के अधिकार या प्रकरण में विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा ।

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ॥ १४ ॥
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ।

श्लो० ४ से १४ तक वा० नि० अ० १

अर्थ—कुपित या दुष्ट हुए मल अर्थात् वातादि दोष ही सब रोगों

---

* नोट—इसी सम्प्राप्ति के बल पर कुशल वैद्य रोग के घटने बढ़ने एवं रोगी की मृत्यु तक का समय पहिले ही बतला देते हैं ।

का कारण[1] या हेतु होते हैं और उन वातादि दोषों के कुपित होने का कारण होता है अनेक प्रकार का अहित अर्थात् प्रकृति विरुद्ध आहार-विहारों का उपयोग या सेवन।

वक्तव्य—यह पाठ श्री वाग्भट ने महर्षि सुश्रुत के सारगर्भित पाठ का अनुकरण करके निर्मित किया है इस में आगन्तुक रोगों का भी समावेश हो जाता है अर्थात् रोग रुक रुजा, व्याधि उपताप आदि दोष-विकृति के बिना कदापि नहीं हो सकते। ध्यान दीजिये जिन रोगों को हम आगन्तुक कहते हैं उन में भी अभिघात आदि के अनन्तर रुजा (पीड़ा) सन्ताप एवं शोथ वात, पित्त एवं कफ के प्रकोप से ही होता है; क्योंकि यदि अभिघातादि की चिकित्सा तत्काल कर दी जाती है तो रुजा आदि लक्षण उत्पन्न ही नहीं होने पाते। बस निष्कर्ष यह है कि दोष कोप से ही सब रोग होते हैं अन्यथा नहीं। अहित सेवन रोग का विप्रकृष्ट कारण होता है इस का काम है दोषों को विकृत कर देना और दोष रोग का सन्निकृष्ट कारण होते हैं जिन से रोग उत्पन्न होता है।

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते ॥ १५ ॥
तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते ।
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥ १६ ॥
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोथ एव च ।
अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥ १७ ॥
प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः ।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥१८॥ च० नि० अ० ८

अर्थ—कभी २ रोग भी रोग के निदान या कारण का कार्य करने वाला हो जाता है अर्थात् रोग से भी रोग उत्पन्न हो जाता है। यथा-ज्वर के सन्ताप से "रक्त पित्त" उभर आता है। रक्त पित्त से ज्वर हो

---

[1] यह प्रतितंत्र सिद्धान्त है। वातादिकृताः सर्वविकारा यथाऽन्यत्र वातादिकृता भूतकृताश्च प्रसिद्धाः।—च० वि० अ० ८

जाता है, उक्त दोनों रोगों से "शोष रोग" उत्पन्न हो जाता है। प्लीहा के बढ़ने से "उदर रोग" तथा "उदर रोग" से "शोथ रोग" हो जाता है। बवासीर से "उदर रोग" अथवा "गुल्म रोग" हो जाता है। प्रतिश्याय (जुकाम) से कास (खांसी) तथा कास से क्षय रोग (यक्ष्मा) हो जाता है क्षय से शोष रोग हो जाता है।

वक्तव्य—माननीय माधव जी ने यह पाठ चरक संहिता से उद्धृत किया और "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः" पाठ सुश्रुत से। अतः यह भावना-वैचित्र्य अथवा "श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः" इत्यादि के कारण ऐसा होता है। किन्तु सचाई दोनों में हैं और हमें दोनों मत माननीय भी हैं। माधवजी ने इसी लिये प्रारम्भ में "नाना मुनीनां वचनैः" कहकर यह सूचित कर दिया कि जहाँ पर मत भिन्नता हो वहाँ दोनों का प्रमाण मान लेना चाहिये अथवा यथा—"यत्र द्वयोर्विरोधः स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ। सम्भवत्येकवाक्यार्थे ह्यर्थभेदो न चेष्यते।" एकवाक्यता करने के लिये हम रोगों का विप्रकृष्ट कारण मानकर दोषों को ही रोगों का कारण(सन्निकृष्ट)मान सकते हैं इत्यलं विस्तरेण।

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः। च० नि० अ० ७

अर्थ—उपर्युक्त[1] कथन के अनुसार अन्यान्य रोगों को उत्पन्न करने वाले वे रोग पहिले तो केवल रोग ही होते हैं बाद में निदान के अर्थ को करते हैं अर्थात् रोग की उत्पत्ति का कारण बन जाते हैं।

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥१९॥
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च।

अर्थ—कोई[2] रोग, रोग की उत्पत्ति का कारण बनकर स्वयं शान्त

१—देवदत्त अपने पुत्र की उत्पत्ति के पूर्व पुत्र होता है बाद में पिता बन जाता है ठीक इसी प्रकार जो पहिले केवल रोग कहलाता है वही किसी रोग को उत्पन्न करके हेतु या निदान कहलाने लगता है।

२—जैसे बीज पौधे को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है तथा मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदि सन्तानोत्पत्ति करके भी स्वयं नष्ट नहीं होते बस इसी प्रकार कुछ रोग दूसरे रोग को उत्पन्न कर स्वयं शान्त हो जाते हैं और कुछ बने रहते हैं।

हो जाता है (जैसे ज्वर को उत्पन्न करके विसूची शान्त हो जाती है) और कोई २ रोगों का हेतु बनकर भी शान्त नहीं होता। जैसे अर्श (बवासीर) गुल्म को भी उत्पन्न कर देता है और स्वयं भी बना रहता है।

एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः ॥२०॥

च० नि० अ० ८

अर्थ—इस प्रकार (उपर्युक्त प्रकार से अथवा "प्रयोग परिशुद्धत्वा-त्तथा चान्योन्यसम्भवात्" च० नि० अ० ८ अर्थात् उचित चिकित्सा न होने अथवा परस्पर रोगों के उत्पन्न होने के कारण) प्राणियों को सम्मिलित रोग होते देखे जाते हैं। जो कि कष्टप्रद होते हैं।

तस्माद्यत्नेन सद्वैद्यैरिच्छद्भिः सिद्धिमुद्धताम्।

ज्ञातव्यो वक्ष्यते योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयः ॥२१॥ माधवस्य

अर्थ— इस लिये (उपर्युक्त हेतु से) उत्तम सिद्धि अर्थात् यथेष्ठ सफ-लता चाहने वाले वैद्यों को ज्वर आदि का जो विनिश्चय या निर्णय इस ग्रन्थ में कहा जायगा अतः यत्नपूर्वक जानना चाहिये।

वक्तव्य—सुयोग्य वैद्य बनने के लिये रोगों का निर्णय करने के लिये विशेष परिश्रम करना चाहिये; क्योंकि रोग का ठीक २ निर्णय होने पर ही चिकित्सा की सफलता निर्भर है यथा—"आदौ निदानविधिना वि-दध्याद्व्याधिनिश्चयम्। ततः कर्मभिषक्पश्चात् ज्ञानपूर्वं समाचरेत्।" इति।

ज्वरनिदानम्[1]।

दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिःश्वाससंभवः।

ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसंघातागन्तुजः स्मृतः ॥१॥ (माधवस्य)

अर्थ—दक्ष प्रजापति के द्वारा किये गये अपमान से अत्यन्त क्रुद्ध रुद्र (भगवान् शिव) के निःश्वास (क्रोध से निकले ओफ्) से ज्वर की उत्पत्ति (प्रारम्भ में) हुई थी। वह ज्वर आठ प्रकार का माना गया

१—यहाँ पर "निदान" शब्द का अभिप्राय "विनिश्चय" से है केवल कारण से नहीं। इसी प्रकार "अतिसार निदान" आदि में भी समझ लेना चाहिये।

है। यथा—वातज, पित्तज, कफज, वात पित्तज, वात कफज, पित्त कफज, त्रिदोषज एवं आगन्तुज।

वक्तव्य—यह अन्यान्य रोगों के समान ज्वर रोग की आदिम उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। रुद्र भगवान् के क्रुद्ध होनेके शास्त्रों में भिन्न २ कारण बतलाए गये हैं तदलमति विस्तरेण। सम्भवतः इसका रहस्य यह है कि ज्वरोत्पादक कीटाणुओं (जिन्हें रुद्रगण कहा गया हो) अथवा शक्ति (क्योंकि संहारकर्त्ता देव का नाम रुद्र है) की शरीर रक्षक कीटाणुओं या शक्ति (जिसे प्रजापति कहा गया हो) पर प्राप्त की हुई विजय का परिणाम ज्वर है। अथवा "क्रोधात्पित्तम्" के अनुसार पित्त (गर्मी) की वृद्धि को ज्वर का कारण कहा हो; क्योंकि "ऊष्मा पित्ताद् ऋते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणाविना।" अर्थात् पित्त (गर्मी) की वृद्धि से ही ज्वर होता है इसी श्लोक से संख्या सम्प्राप्ति भी कह दी गई है।

ज्वरस्य सम्प्राप्तिः।

मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः॥२॥

अर्थ—मिथ्या (देश, काल एवं प्रकृति विरुद्ध) आहार (खाने के सभी पदार्थों) विहार (सभी प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक चेष्टाओं) के सेवन से आमाशय में आश्रित वातादि दोष रस के अनुगामी (रस में मिलकर) होकर एवं उदर की अग्नि (पाचक पित्त) को बाहर निकाल कर (शरीर में फैलाकर) ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—यहाँ मिथ्याहार-विहार तथा दोष क्रमशः विप्रकृष्ट एवं सन्निकृष्ट निदान तथा ज्वर की सम्प्राप्ति का वर्णन कर दिया गया है।

ज्वरसामान्यलक्षणम्।

स्वेदावरोधः संतापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते॥ ३॥

सु० उ० अ० ३९

अर्थ—जिस रोग में पसीना का रुक जाना, शरीर का ताप बढ़

जाना एवं सब अङ्गों का जकड़ जाना यह तीनों एक साथ ही हो जाते हैं, उसे ज्वर कहा जाता है।

वक्तव्य–"स्वेदावरोध" वाक्य के अर्थ करने में कुछ लोग सन्देह उत्पन्न कर देते हैं किन्तु इसका "पसीना रुकना" ही सही अर्थ है। क्योंकि "रस स्वेद प्रवाहिणाम्। मार्गमावृत्य" (सु० उ० अ० ३९) "रसवहानि स्रोतांसि पिधाय" (च०नि०अ० १) एवं "ततः स्वेदो न जायते" (वा० नि० अ० २) से भी यही बात प्रमाणित होती है। सन्ताप[१]–ताप मापक यन्त्र (थर्मामिटर) से तथा स्पर्श से ज्ञात हो जाता है। (९७.५° फ. अथवा ९८.५° शरीर की साधारण गर्मी होती है! किन्तु ज्वर में बढ़कर वह १०७–१०८ तक हो जाती है। सर्वाङ्गग्रह—सम्पूर्ण शरीर एवं मन में शिथिलता आ जाती है। कुछ लोग पित्तज्वर आदि में अति व्याप्ति का ख्याल करते हैं उन्हें "युगपद्" शब्द पर ध्यान देना चाहिये और यह भी न भूलना चाहिये कि यह सामान्य लक्षण है। सामान्य लक्षण बहु-व्यापक होता है, पर सर्वव्यापक नहीं।

ज्वरस्य सामान्यं पूर्वरूपम्।

श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥ ४ ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः।
अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥ ५ ॥
सामान्यतो—

अर्थ—अनायास थकावट, बेचैनी, कान्ति का मलिन होना, मुख का स्वाद बिगड़ जाना, आँखों में से पानी जाना, शीत, (स्थानादि) वायु एवं धूप आदि में बैठने की वार २ इच्छा होना तथा वार २ उनका बुरा लगना, जम्भाई, शरीर में पीड़ा एवं भारीपन, रोमाञ्च होना, अरुचि तथा आँखों के सामने अन्धेरा आ जाना, किसी भी प्रकार आनन्द का

१—यही ज्वर का व्यञ्जन है। यथा–'ज्वरप्रत्यात्मिकं लिंगं सन्तापो देह-मानसः' (च० चि० अ० ३)

अनुभव न होना एवं शीत लगना यह सब ज्वर के सामान्य (बहु व्यापक) पूर्वरूप हैं ।

ज्वरस्य विशिष्टं पूर्वरूपम् ।

—विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् ।
पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत् ॥ ६ ॥
रूपैरन्यतराभ्यां तु संसृष्टैर्द्वन्द्वजं विदुः ।
सर्वलिङ्गसमावायः सर्वदोषप्रकोपजे ॥७॥ ४-७ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—विशेष (अल्पव्यापक) पूर्वरूप यह है—वातज्वर का जंभाई अधिक आना, पित्तज्वर का आँखों में जलन होना तथा कफज्वर का अन्न में अरुचि होना विशेष पूर्वरूप होता है । उक्त दो दो संमिलित लक्षण द्वन्द्वज ज्वर का एवं सब लक्षणों का एक साथ उत्पन्न होना त्रिदोषज ज्वर का पूर्वरूप होता है ।

वातज्वरलक्षणम् ।

वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम् ।
निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥ ८ ॥
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता ।
शूलाध्माने जृम्भणं च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥९॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—वातज्वर के ये लक्षण हैं । यथा—शरीर का (हृदय का भी) काँपना, ज्वर का अनियमित घटना-बढ़ना, कण्ठ एवं ओठों (मुख का भी) का सूखना, नींद न आना, छींक न आना, अङ्गों में रूखापन (खुश्की), शिर हृदय एवं अंगों में दर्द, मुख में फीकापन, पुरीष का सूख जाना, पेट में शूल तथा अफरा और जम्भाई आना ।

पित्तज्वरलक्षणम् ।

वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः ।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते ॥ १० ॥

प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा ।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥ ११ ॥

अर्थ—पित्त-ज्वर के लक्षण ये हैं—ज्वर का तीक्ष्ण वेग (१०४ डिगरी के ऊपर), अतिसार, नींद कम आना, कै होना (इस में खट्टा, कड़ुआ एवं हरा-पीला पित्त निकलता है। इस के निकल जाने से रोगी को कुछ आराम भी मिलता है) कण्ठ, ओठ, मुख एवं नाक का पकना, पसीना[1] आना, अण्ट-सण्ट बकना, मुख में कड़ुआपन, मूर्छा, दाह, मद (जैसे कोई मादक द्रव्य सेवन किया हो) प्यास, पुरीष, मूत्र एवं आंखों (त्वचा पर भी) में पीलापन एवं चक्कर आना ।

कफज्वरलक्षणम् ।

स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता ।
शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च ॥ १२ ॥
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता ।
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥१३॥ सु०उ०अ०३९

अर्थ—कफ-ज्वर के लक्षण[2] ये हैं—शरीर का गीले कपड़े से ढँका-सा ज्ञात होना (त्वचा में गीलापन या गिजगिजाहट), ज्वर का मन्दवेग (प्रायः १०२ डिगरी तक) आलस्य, मुख में मीठापन, मूत्र-पुरीष (त्वचा पर भी) में श्वेतता, शरीर में जकड़न, पेट भरा-सा ज्ञात होना, शरीर में भारीपन, शीत लगना, जी मिचलाना, रोमाञ्च होना, नींद अधिक आना, जुकाम, अरुचि, खांसी एवं आंखों में सफेदी ।

१—किन्तु अन्य ज्वरों के समान पसीना होने पर भी ज्वर नहीं उतरता ।

२—नात्युष्णगात्रता छर्दिरंगसादोऽविपाकता ।
स्रोतोरोधो रुगल्पत्वं प्रसेको लवणास्यता ॥

इस पाठ से कफज्वर के लक्षणों की तुलना करके देखने से केवल शब्दपरिवर्तन के अतिरिक्त अधिक भेद नहीं है ।

वातपित्तज्वरलक्षणम् ।

तृष्णा[1] मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा ।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥ १४ ॥
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः । सु० उ० अ० ३९

अर्थ—वातपित्त ज्वर का लक्षण यह है—प्यास, मूर्छा, चक्कर, दाह, नींद का अभाव शिर में दर्द, कण्ठ एवं मुख का सूखना, कै, रोमाञ्च, अरुचि, आंखों के सामने अंधेरा आना, जोड़ों में फटने की-सी पीड़ा एवं जम्भाई आना ।

वातकफज्वरलक्षणम् ।

स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च ॥ १५ ॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम् ।
संतापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥ १६ ॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—वातकफ ज्वर का लक्षण यह है—शरीर में गिलगिलाहट, पोरों (गांठों) में फटने की सी पीड़ा, नींद की अधिकता, शरीर में भारीपन, शिर की जकड़न, जुकाम, खांसी, पसीने की अधिकता, हाथ-पांव में गर्मी एवं ज्वर का मध्यम वेग (प्रायः १०२ से १०४ डिगरीं तक)।

पित्तकफज्वरलक्षणम् ।

लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा ।
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः॥ १७ ॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—पित्तकफ ज्वर के लक्षण यह हैं—मुख में चिपचिपाहट

१—द्वन्द्वज रोगों में प्रायः वे ही लक्षण पाये जाते हैं, जो पृथक् २ दोषों के होते हैं, किन्तु कुछ विलक्षण लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे हल्दी और चूना मिलाने से उनका मिश्रण रक्तवर्ण का तैयार होता है । इसी प्रकार दोषों के मिश्रण में भी एक नई बात हो जाती है । यह बात सर्वत्र लागू होती है । उदाहरण आप खोजिये ।

(कफ से), तथा कडुवापन (पित से), उँघाई, बदहोशी, खांसो, अरुचि, प्यास, बार २ दाह एवं बार २ शीत का अनुभव ।

सन्निपातज्वरलक्षणम् ।

क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा ।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ॥ १८ ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥१९॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम् ।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥२०॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा ।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥ २१ ॥
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥२२॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च ।
चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥२३॥ च० चि० अ० ३

अर्थ—सन्निपात या त्रिदोषज ज्वर का लक्षण यह है—क्षण भर में दाह एवं क्षण भर में शीत का अनुभव, हड्डियों, सन्धियों तथा शिर में पीड़ा, आंखें अश्रुपूर्ण, मैली (निस्तेज) लाल एवं कुटिल (बाहर निकली सी अथवा धँसी सी अथवा भयावनी) हो जाती हैं, कानों में सांय २ शब्द तथा पीड़ा होती है, कण्ठ में कांटे पड़ जाते हैं, उंघाई, बदहोशी, प्रलाप (बड़बड़ाना), खांसी, श्वास (कष्टपूर्वक सांस आना), अरुचि, चक्कर, जीभ जली सी (काली) एवं खरदरी हो जाती है। शरीर अत्यन्त शिथिल हो जाता है, थूक में कफमिश्रित रक्तपित्त निकलता है, रोगी शिर को इधर-उधर हिलाता रहता है, प्यास, नींद का अभाव, हृदय में वेदना, पसीना, मूत्र एवं पुरीष बहुत देर में (दोष पाक

की अवधि के बाद) होते हैं अथवा थोड़े २ होते भी रहते हैं, शरीर अधिक कृश नहीं होता, रोगी निरन्तर कहरता (ऊँह ऊँह करता) रहता है, काले २ लाल २ गोल २ चकत्ते (धप्फड़) देखे जाते हैं, रोगी मूक[1] हो जाता है (बोलता ही नहीं), नाक, मुख एवं गुद आदि स्रोतों का पाक हो जाता है, पेट में भारीपन, दोषों का चिरकाल में (१२ वें दिन के बाद से ४२ दिन तक) पकना[2] ।

वक्तव्य—"महानिद्रा जागरणं निशि । सदा वा नैव वा निद्रा महास्वेदोऽति नैव वा । गीतनर्त्तनहास्यादि विकृतेहाप्रवर्त्तनम्" । (वा० नि० अ० २) प्रायः सभी सन्निपातों में यह प्रसिद्ध लक्षण अवश्य पाए जाते हैं। उठ २ कर दौड़ना, कपड़े फाड़ना, उतारना, फेंकना आदि विकृतेहाप्रवर्त्तनम् ही है ।

सन्निपातज्वरस्य असाध्यलक्षणम् ।

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसंपूर्णलक्षणः ।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः, कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा ॥ २४ ॥

अर्थ—यदि सन्निपात ज्वर में सब दोष सर्वथा रुक जाय अर्थात् दोष प्रवृत्ति[3] न हो, जठराग्नि नष्ट अर्थात् अत्यन्त मन्द हो जायँ एवं

१—मूकत्व और प्रलाप दोनों वैकल्पिक लक्षण हैं ।

२—निरामज्वर का लक्षण ही दोषपाक का लक्षण है । और दोषों की जगह धातुओं का पाक हो जाता है, तो रोगी मर ही जाता है । धातुपाक का लक्षण यह है—निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची । अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम् ॥ नाभेरूर्ध्वं हृदोऽधस्तात् पीडिते चेद्व्यथा भवेत् । धातोः पाकं विजानीयादन्यथा तु मलस्य च ॥

३—उद्गार एवं अधोवायु के रूप में वायु, मूत्र-पूरीष एवं स्वेद के साथ पित्त तथा खाँसी खखार आदि के द्वारा कफ प्रत्येक प्राणी को सर्वदा निकलते रहते हैं । अतएव वह निरोग बना रहता है, किन्तु जब उक्तदोष नहीं निकलते तो रोग उत्पन्न कर देते हैं । बस जब सन्निपात में या किसी भी रोग में यह प्राकृतिक क्रिया रुक जाती है, तो रोग असाध्य समझा जाता है ।

सभी लक्षण बलवान् हो जायँ तो रोग असाध्य हो जाता है। यदि उक्त लक्षणों में कुछ लक्षणों की कमी हो तो भी सन्निपात[1] कष्टसाध्य अवश्य होता है।

(सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा।
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा॥ १॥
सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च॥२॥) व० नि० अ० २

अर्थ—सन्निपात ज्वर सातवें, दशवें एवं बारहवें दिन और भी बढ़कर शान्त हो जाता है अथवा रोगी को मार डालता है। अथवा चौदह, अठारह तथा बाईस दिन तक सन्निपात की अवधि होती है। इस अवधि में रोगी (दोषपाक होने से) बच जाता है अथवा (धातुपाक होने से) मर जाता है।

वक्तव्य—यहाँ जिस प्रकार प्रथम श्लोकोक्त मर्यादा को द्वितीय श्लोक द्वारा दुगुना कर दिया गया है, उसी प्रकार उसे भी दूना कर देना चाहिये, क्योंकि कहीं २८, ३६ एवं ४४ दिन तक भी सन्निपात की अवधि देखी जाती है।

सन्निपातोपद्रवः।

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते॥ २५॥

अर्थ—सन्निपात ज्वर के अन्तिम दिनों किसी २ रोगी के कान की जड़ में दुःखदायक शोथ हो जाता है। इससे कोई २ रोगी बचता है अर्थात् प्रायः मर जाते हैं।

[अत्र वैषयिकसप्तमी]

1—सन्निपात ही क्या किसी भी रोग में यदि उसके सब लक्षण बुरी तरह प्रबल हो जायँ तो उसे असाध्य ही समझना चाहिये। परन्तु ईश्वर की कृपा से प्रायः ऐसा नहीं होता यही कारण है कि रोगी रोग से छुटकारा पा जाते हैं।

अभिन्यासज्वरलक्षणम् ।

(त्रयः प्रकुपिता दोषा उरःस्रोतोऽनुगामिनः ।
आमाभिवृद्ध्या ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगताः ॥ १ ॥
जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं ज्वरं दृढम् ।
श्रुतौ नेत्रे प्रसुप्तिः स्यान्न चेष्टां काश्चिदीहते ॥ २ ॥
न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने ।
न घ्राणं न च संस्पर्शं शब्दं वा नैव बुध्यते ॥ ३ ॥
शिरो लोठयतेऽभीक्ष्णमाहारं नाभिनन्दति ।
कूजति तुद्यते चैव परिवर्तनमीहते ॥ ४ ॥
अल्पं प्रभाषते किंचिदभिन्यासः स उच्यते ।
प्रत्याख्यातः स भूयिष्ठः कश्चिदेवात्र सिध्यति ॥ ५ ॥)

अर्थ—तीनों दोष अत्यन्त कुपित होकर हृदय के रक्तवाही स्रोतों द्वारा सारे शरीर में फैल कर आम दोष की अधिकता से सङ्गठित होकर बुद्धि इन्द्रियें तथा मनोवाही स्रोतों में जाकर अत्यन्त भयानक तथा बलवान् अभिन्यास नामक ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं। इसके लक्षण इस प्रकार हैं—सुनने एवं देखने की शक्ति का ह्रास, शारीरिक एवं मानसिक सभी चेष्टाओं का विनाश अर्थात् रोगी की दृष्टि देखने में समर्थ नहीं रहती तथा रोगी गन्ध-स्पर्श तथा शब्द को भी जानने में असमर्थ हो जाता है। सिर को इधर-उधर चलाता रहता है। भोजन की इच्छा नहीं करता, कहरता है, सूई के चुभने की पीड़ा का अनुभव करता है। केवल करवट बदलना चाहता है। अथवा थोड़ा-बहुत कुछ (जिसे कोई समझ नहीं सकता) बोल लेता है। बस यही 'अभिन्यास' ज्वर है। प्रायः यह असाध्य होता है लाखों में कोई अच्छा भी हो जाता है।

आगन्तुकज्वरलक्षणम् ।

अभिघाताभिचाराभ्यामभिशापाभिषङ्गतः ।

आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत् ॥२६॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—विविध प्रकार की चोट लगने से, अभिचार से, गुरुजनों के (पीड़ितों, ताड़ितों या सताए हुओं के) शाप से तथा काम, शोक, भय एवं क्रोध, अथवा भूतों के आवेश होने से जो ज्वर होता है, उसे "आगन्तुक" कहा जाता है। इसमें भी भिन्न भिन्न दोषों के लक्षणों को जान लेना चाहिये।

वक्तव्य—अभिघातादि कारणों से जो भी रोग होता है, उसे "आगन्तुज" कहा जाता है। यद्यपि उक्त कारणों से भी वायु आदि ही कुपित होकर रोग को उत्पन्न करते हैं। परञ्च विप्रकृष्ट कारणों से भी रोगों की संख्या मानी जाती है। जैसे—मृत्तिकाजनित पाण्डुरोग दोषज होते हुए भी "पाचवाँ" गिना गया है।

विषजज्वरलक्षणम्।

श्यावास्यता विषकृते तथाऽतीसार एव च।
भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया ॥२७॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—विषज ज्वर के लक्षण यह हैं—चेहरे पर कालापन, अतिसार, भोजन में अरुचि, प्यास, सुईयों के चुभने की सी पीड़ा एवं मूर्च्छा।

गन्धजज्वरलक्षणम्।

ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः। सु० उ० अ० ३९

अर्थ—तीव्र जहरीली ओषधियों का गन्ध द्वारा शरीर में प्रवेश होने से जो ज्वर हो जाता है उसका लक्षण यह है-मूर्छा, शिर में दर्द, कै तथा छींकें आना।

कामज्वरलक्षणम्।

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥ २८ ॥
(हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति।) सु० उ० अ० ३९

अर्थ—कामज्वर के लक्षण—चित्त या मन का विभ्रंश (भ्रष्ट) होना अर्थात् लज्जा-बुद्धि एवं धैर्य आदि का नाश, उँघाई, आलस (रोगी

सब कर्त्तव्यों को छोड़ बैठता है) भोजन भी अच्छा नहीं लगता, हृदय में वेदना (दर्दे दिल यही है ।) एवं शरीर सूखता जाता है ।

भय-शोक-क्रोधजज्वरलक्षणम् ।

भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत्कोपाच्च वेपथुः । सु० उ० अ० ३९

अर्थ—भय एवं शोक से जो ज्वर होता है उसमें प्रलाप एवं क्रोधज ज्वर में कम्प अधिक होता है ।[1]

अभिचार-अभिशापजज्वरलक्षणम् ।

अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥२९॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—अभिचारज एवं अभिशापज ज्वर में बदहोशी एवं प्यास अधिक होती है ।

भूताभिषङ्गजज्वरलक्षणम् ।

भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम् । सु० उ० अ० ३९

अर्थ – भूतावेश से जो ज्वर होता है उसमें व्यर्थ हँसना एवं रोना, घबड़ाना, कांपना यह लक्षण होते हैं ।

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं, त्रयो मलाः ॥ ३० ॥
भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः । च० चि० अ० ३

अर्थ—काम, शोक एवं भय से वायु कुपित होता है, क्रोध से पित्त तथा भूतावेश से तीनों दोष कुपित हो जाते हैं; किन्तु भूतज ज्वर में भूतों के विशेष लक्षण (हास्यादि) भी होते हैं ।

विषमज्वरस्य सम्प्राप्तिः ।

दोषोऽल्पोऽहितसंभूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः ॥ ३१ ॥
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् । सु० उ० अ० ३९

अर्थ—ज्वर मुक्त (जिसे ज्वर आकर हट गया हो) अथवा प्रारम्भ से भी मनुष्य का निर्बल वात आदि दोष हानि कारक आहार विहार के सेवन से बढ़ कर एवं रक्तादि सातों धातुओं में से किसी धातु में

---

1 नोट—उपर्युक्त सब ज्वर अभिघातज हैं ।

जाकर 'विषम' ज्वर' को उत्पन्न कर देता है।

विषमज्वरभेदाः।

(सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ।) सु० उ० अ० ३९

अर्थ—विषम ज्वर के भेद यह हैं-१—सन्तत, २—सतत, ३—अन्येद्यु, ४—तृतीयक, ५—चतुर्थक।

वक्तव्य—यह विषम ज्वर तथा अन्यान्य प्रलेपकादि सभी ज्वर उक्त अष्टविध ज्वरों में पृथक् नहीं है। केवल वेग, शीत, दाह एवं साम-निरामादि भेद से उन्हीं के अवस्थान्तर हैं। कभी २ इन ज्वरों में यह बात देखी जाती है-ज्वर सर्वथा न उतर कर मन्द २ बना रहता है और समय पर दूसरा ज्वर बड़े वेग के साथ चढ़ जाता है।

सन्ततादिज्वराणां प्रतिनियतदूष्यान् धातूनाह।

सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः ॥ ३२ ॥
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि, त्वस्थिमज्जगतः पुनः।
कुर्याच्चतुर्थकं घोरमन्तकं रोगसंकरम् ॥ ३३ ॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—रस धातु में स्थित दोष सन्तत ज्वर को, रक्तधातु में स्थित दोष सतत ज्वर को, मांस में स्थित दोष अन्येद्यु ज्वर को, मेदो गत दोष तृतीयक को एवं अस्थि तथा मज्जागत दोष चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है। यह ज्वर बड़ा ही भयंकर यमराज'के समान हिंसक एवं उन्मादादि रोगों का उत्पादक होता है।

सन्ततज्वरस्य सम्प्राप्तिः।

(स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः।
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥)

१—कभी २ प्रारम्भ से भी विषम ज्वर उत्पन्न हो जाते है। जैसे वर्षा तथा शरद् ऋतु में जड़ैया या शीतज्वर या मलेरिया।

२—प्रायः यह सद्योमारक नहीं होता। और प्रायः अच्छा भी हो जाता है फिर न जाने "अन्तक" विशेषण क्यों दिया गया है।

अर्थ—वातादि दोष रसवाही स्रोतों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैल कर गुरु (विलम्ब से पकने वाले) अत एव स्तब्ध (जकड़े हुए) होने के कारण सन्तत ज्वर को कर देते हैं।

सन्ततज्वरलक्षणम्।

सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात्सन्ततः स निगद्यते ॥३४॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—जो ज्वर सात, दश एवं बारह दिन तक निरन्तर अटल बना रहे उसे "सन्तत" कहा जाता है।

वक्तव्य—उस सन्तत ज्वर की गणना "मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वं" के अनुसार विषम ज्वरों में नहीं होनी चाहिए जैसा कि महर्षि खर-नाद ने कहा है—

ज्वराः पूर्वं मयोक्ता ये पञ्च सन्ततकादयः।
चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः।

परन्तु भगवान् चरक के "विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्त्तते।" इस कथनानुसार इसे विषम ज्वर मानना अनुचित नहीं।

सततकान्येद्युष्कज्वरलक्षणम्।

अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते।
अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रं एककालं प्रवर्त्तते ॥३५॥ सु० उ० अ० ३९

तृतीयक-चतुर्थकज्वरलक्षणम्।

तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि, चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः। सु० उ० अ० ३९

अर्थ—जो ज्वर दिन रात में (एक बार दिन में एवं एक बार रात में) दो बार आता है उसे "सततक ज्वर" कहा जाता है। जो ज्वर दिन रात में एक बार आता है, उसे "अन्येद्युष्क" या "नेतकी" कहा जाता है। जो ज्वर तीसरे (एक दिन बीच में छोड़ कर) दिन आता है उसे "तृतीयक" या "तेइया" या "तिजारी" कहा जाता है एवं जो ज्वर चौथे दिन आता है उसे "चतुर्थक" या "चौथिया" कहा जाता है।

वक्तव्य—उक्त ज्वरों का वेग उक्त समय दोष की प्रबलता के अनुसार होता है अर्थात् दोष अपने नियत समय में वेग करते हैं। और तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर में प्रायः वायु प्रबल रहता है। यथा—वाताधिकत्वात्प्रवदन्ति तज्ज्ञा तृतीयकं चापि चतुर्थकं च। औपत्यके (पर्वतों की तराई में होने वाले) मद्यसमुद्भवे च हेतुं ज्वरे पित्तकृतं वदन्ति। सु० उ० अ० ३६।

केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ॥३६॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—कोई २ आचार्य विषम ज्वर का कारण (उत्थान) भूतावेश मानते हैं।

वक्तव्य—"जब कि दोष शरीर में विद्यमान हैं तो सर्वदा ज्वर क्यों नहीं होता ?" इस सन्देह की निवृत्ति के लिये महर्षियों ने कई प्रकार के उत्तर दिये हैं—१ "अहोरात्रादहोरात्रात्स्थानात्स्थानं प्रपद्यते। ततश्चामाशयं प्राप्य दोषः कुर्य्याज्ज्वरं नृणाम्। २—परो हेतुः स्वभावो वा विषमे कैश्चिदुदाहृतः। आगन्तुश्चानुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे। ३-रात्र्यह्नोः षट्सु कालेषु कीर्तितेषु यथा पुरा। प्रसह्य विषमोऽभ्येति मानवं बहुधा ज्वरः। ४—देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित्। शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयः, अस्तु। विषम ज्वरों के सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय यह है कि:-सचापि विषमो देहं न कदाचिद् विमुञ्चति। ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स (रोगी) यस्मान्न प्रमुच्यते। केवल—वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते।" तात्पर्य यह है कि दोष धातुओं में लीन रहता ही है। समय पर उभर आता है। विषम ज्वरों में भूताभिषंग को हेतु मानने का कारण सम्भवतः यह है कि प्रायः विषम ज्वर मन्त्र-यन्त्र या झाड़-फूंक आदि से अच्छे हो जाते हैं किन्तु इस विचार के सर्वसम्मत न होने का कारण औषध चिकित्सा की सफलता है।

तृतीयकचतुर्थकयोर्लक्षणान्तरम्।

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः।
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ॥३७॥

अर्थ—तृतीयक ज्वर कफ एवं पित्त की अधिकता से पहले कमर में पीड़ा करके चढ़ता है। वात कफ की अधिकता से पीठ में पीड़ा करके चढ़ता है एवं वात पित्त की अधिकता से शिर में पीड़ा करके चढ़ता है इस प्रकार उक्त ज्वर तीन प्रकार का होता है।

चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः।
जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः ॥३८॥ च० चि० अ० ३

अर्थ—चतुर्थक ज्वर दो प्रकार का प्रभाव दिखलाता है यथा-कफ की अधिकता से पहिले जाँघो (पिंडिलियों) से तथा वायु की अधिकता से पहिले शिर से प्रारम्भ होकर चढ़ता है।

वक्तव्य—चतुर्थक ज्वर में पित्त सर्वथा हीन बना रहता है अतएव उसका उल्लेख नहीं किया।

चतुर्थकविपर्ययमाह।

विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः।
स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्ते च मुञ्चति ॥३९॥ च० चि० अ० ३

अर्थ—एक और "चतुर्थक विपर्यय" अर्थात् (चतुर्थक से विपरीत) ज्वर होता है वह बिचले दो दिन ज्वर करता है और आदि अंत का एक दिन छोड़ता है (एक ही दिन को आदि अंत का मान लिया जाता है) एवं "द्व्यहं ज्वरयति दिनमेकं च मुञ्चति।" (वा० नि० अ० २) पर भी ध्यान दीजिये।

वातबलासकज्वरलक्षणम्।

नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनकस्तेन सीदति।
स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी ॥४०॥ वृद्ध वाग्भट अ० ३

अर्थ—वातबलासक ज्वर का लक्षण यह है-सर्वदा मन्द २ ज्वर बना रहता है, शरीर में रूक्षता (खुश्की), सूजन, सूजन होने से रोगी विशेष रूप से शिथिल हो जाता है, शरीर जकड़ जाता है और कफ बढ़ जाता है।

वक्तव्य—कहा जाता है कि यही ज्वर वह "बेरी बेरी" नामक

प्रसिद्ध रोग है, जो सन् १९३५ में काशी की जनता में प्रचंड रूप से फैला था। इस में हृदयक धड़कन एवं शोथ प्रधानतया पाए जाते थे।

प्रलेपकज्वरलक्षणम्।

प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च।
मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात्प्रलेपकः॥ ४१॥ सु० वा० अ० ३

अर्थ—प्रलेपक ज्वर का लक्षण यह है—सम्पूर्ण शरीर पसीने से लिपा सा रहता है (सम्भवतः पसीने में नसीका आदि पिच्छिल पदार्थ निकलते हैं), शरीर में भारीपन का अनुभव होता है, सदैव मन्द २ ज्वर बना रहता है। और शीत लगता है।

वक्तव्य—प्रलेपकं वातबलासकं वा कफाधिकत्वात्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः। *मूर्च्छानुबन्धा विषमज्वरा ये प्रायेण ते द्वन्द्वसमुत्थितास्तु।* सु० उ० अ० ३९। प्रलेपक ज्वर प्रातःकाल कुछ कम रहता है और उसी समय पसीना भी अधिक आता है और दोपहर बाद एवं रात में ज्वर बढ़ जाता है।

देहार्द्धजातज्वरलक्षणम्।

विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते।
तेनार्धं शीतलं देहे चार्धं चोष्णं प्रजायते॥ ४२॥

अर्थ—शरीर के भीतर जब आहार का रस दूषित हो जाता है एवं कफपित्त ज्वर करने के लिये तैयार होते हैं तब आधा शरीर शीत तथा आधा उष्ण हो जाता है।

वक्तव्य—यह ज्वर कभी अर्द्ध नारीश्वर के समान अर्थात् ऊर्द्ध रेखा से विभक्त शरीर के आधे भाग में और कभी नरसिंह के समान अर्थात् कटि से विभक्त आधे शरीर में होता है।

शीत-पाणि-पादज्वरलक्षणम्।

काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा चान्ते व्यवस्थितः।
तेनोष्णत्वं शरीरस्य शीतत्वं हस्तपादयोः॥ ४३॥

अर्थ—जब पित्त दोष मध्यकाय (धड़) में दुष्ट होता है और कफ अंत भाग अर्थात् हाथ-पांव में स्थित होता है तो मध्यकाय में उष्णता एवं हाथ-पांव में शीतता होती है।

वक्तव्य—इस ज्वर में रोगी के पार्श्ववर्ती लोगों को हाथ-पांव शीत होने से घबराहट घेर लेती है; किन्तु वैद्य को सावधान रहना चाहिये।

उष्ण-पाणि-पाद-ज्वरलक्षणम्।

काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तं चान्ते व्यवस्थितम्।
शीतत्वं तेन गात्राणामुष्णत्वं हस्तपादयोः ॥४४॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—जब मध्यकाय में कफ कम होता है और अन्यत्र अर्थात् हाथ-पांव में पित्त प्रबल रहता है तो मध्यकाय में शीत एवं हाथ-पांव में गर्मी (ताप) रहती है।

वक्तव्य—यह ज्वर प्रायः बच्चों को होता है।

शीतपूर्वज्वरलक्षणम्।

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शतीमादौ जनयतो ज्वरे।
तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च ॥४५॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—जब कफ एवं वायु त्वचा में स्थित रहते हैं, तो वे दोनों ज्वर में पहिले शीत (जाड़ा या पाला) उत्पन्न करते हैं। उन के शान्त होने पर (१–२ घण्टे पर) पित्त प्रबल होकर अन्त में दाह उत्पन्न कर देता है। (बस इतने में पसीना आकर ज्वर उतर जाता है। फिर अपने समय पर इसी प्रकार ज्वर हो जाता है। यह परम्परा १ दिन से लेकर महीनों चलती है। यही प्रसिद्ध जड़ैया ज्वर है और यह बात सभी विषम ज्वरों में देखी जाती है।

दाह-पूर्वज्वरलक्षणम्।

करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च।
तस्मिन् प्रशान्ते त्वितरौ कुरुतः शीतमन्ततः ॥४६॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—उसी प्रकार त्वचा में स्थित पित्त ज्वर में पहिले अत्यन्त दाह

उत्पन्न करता है और उसके शान्त होने पर कफ एवं वायु अन्त में शीत उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—यह ज्वर प्रायः बहुत कम होता है।

अथैतयोः साध्यविवेकः।

द्वावेतौ दाहशीतादिज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ।

दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कृच्छ्रसाध्यतमश्च सः॥ ४७॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—यह दोनों दाहपूर्वक एवं शीतपूर्वक ज्वर संसर्गज अर्थात् दो दो दोषों से प्रारंभ होते हैं। (तीसरे दोष का पीछे से कोप होता है) इन दोनों में दाहपूर्वक ज्वर (शीतपूर्वक ज्वर की अपेक्षा) अधिक कष्टप्रद एवं अत्यन्त कष्ट साध्य होता है।

तत्रादौ रसधातुगतज्वरस्य लक्षणम्।

गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ।

रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते॥ ४८॥

अर्थ—उक्त सभी वातादि ज्वरों का प्रभाव जब रस धातु पर अधिक होता है तो यह लक्षण होते हैं-शरीर में भारीपन, जी मिचलाना, शरीर में शिथिलता, कै, अरुचि एवं सुस्ती।

वक्तव्य—हृदयोत्क्लेश—हृदय को दूषित रस से मिश्रित रक्त का संवहन करने में क्लेश होता है। यह बात "जी मिचलाना" के रूप में प्रत्यक्ष होती है। उक्त कारण से ही "गुरुता" एवं "सदन" होता है और आमाशय के दूषित रस को प्रकृति "छर्दि" द्वारा बाहर निकाल देती है। "दैन्य" मानसिक क्लेश होता है जिसे "सुस्ती" कहा जाता है।

रक्तधातुगतज्वरलक्षणम्।

रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहश्छर्दनविभ्रमौ।

प्रलापः पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम्॥ ४९॥

अर्थ—जब ज्वर का रक्त पर अधिक प्रभाव पड़ता है तो यह लक्षण होते हैं-थूक में रक्त आना, दाह, बदहोशी, कै, चक्कर, प्रलाप, छोटी २ पिड़काओं का निकलना एवं प्यास।

वक्तव्य—रक्त का दबाव बढ़ जाने के कारण भीतरी केशिकाएँ फट जाती हैं उनमें से जो रक्तस्राव होता है वही थूक में आता है। बाह्य त्वचा दृढ़ होती है अतः उसमें से नहीं निकल पाता, किन्तु यदि यह रक्त-पित्त (ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तमुदीर्यते) का रूप धारण कर लेवे (न करे ईश्वर) तो सब ओर से रक्त आ सकता है। शेष लक्षणों पर स्वयं विचार करिये कि वे क्यों होते हैं।

मांसधातुगतज्वरलक्षणम्।

पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता।
ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे॥ ५०॥

अर्थ—मांसगत ज्वर का लक्षण यह है—पिंडिलियों (अथवा सभी मांसल स्थानों) में ऐंठन (मांसपेशियों में संकोच), प्यास, मूत्र एवं पुरीष का अधिक होना, त्वचा में अधिक गर्मी, भीतर दाह, हाथ-पांव पटकना एवं सुस्ती।

मेदोधातुगतज्वरलक्षणम्।

भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च।
दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता॥ ५१॥

अर्थ—मेद धातुस्थित ज्वर का लक्षण यह है—अत्यन्त पसीना, प्यास, मूर्च्छा, प्रलाप, कै, शरीर में से दुर्गंधि आना, अरुचि, सुस्ती एवं सहनशीलता का अभाव अर्थात् रोगी रोने या तड़पने या हाय-तोबा करने लगता है।

अस्थिधातुगतज्वरलक्षणम्।

भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च।
विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे॥ ५२॥

अर्थ—अस्थिगत ज्वर का यह लक्षण है—हड्डियों में फटने की सी पीड़ा, कहरना, श्वास (कष्टपूर्वक सांस आना), अतिसार, कै एवं हाथ-पांव पटकना।

मज्जधातुगतज्वरलक्षणम् ।

तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा ।
अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ॥ ५३ ॥

अर्थ—आंखों के सामने अन्धेरा आना वा मूर्छा, हिचकी, खाँसी, शीत लगना, कै, भीतर दाह, महाश्वास (श्वास निदान देखिये) एवं मर्म (हृदयादि) स्थानों में छिद जाने या फट जाने की सी पीड़ा ।

शुक्रधातुगतज्वरलक्षणम् ।

मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे ।
शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥५४॥ सु० उ० अ० ३९

अर्थ—जब ज्वर का प्रभाव शुक्र धातु पर अधिक पड़ता है तो रोगी मर जाता है और मरने के पहले ये लक्षण होते हैं—लिंग स्तब्ध या कड़ा हो जाता है । एवं बहुत अधिक शुक्र निकलता रहता है ।

वक्तव्य—शुक्र धातु शरीर भर में अत्यन्त सौम्य धातु है । उस पर ज्वर का प्रभाव पड़ने के कारण वह पतला होकर (पिघल कर) अत्यन्त निकल जाता है तो मृत्यु होना अनिवार्य है । कुछ लोग "यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा । शरीरेषु तथा नृणां शुक्रं विद्यात् भिषग्वरः" (सु० शा० अ० ४) इस श्लोक को लेकर शुक्र स्थान के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न करते हैं; किन्तु वे "सप्तमी शुक्रधारा नाम, सा सर्वशरीर-व्यापिनी" (सु० शा० अ० ४) अथवा, वातादि द्वारा शुक्र का दूषित होना, "शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलम्" (च० चि० अ० ५) इत्यादि वचनों पर ध्यान दें तो उक्त संशय दूर हो जाय । जब कि वह वातादि दोषों द्वारा दूषित हो सकता है तो क्या ज्वर द्वारा सन्तप्त नहीं हो सकता । इत्यलम् ।

अथैषां साध्यासाध्यत्वम् ।

(रसरक्ताश्रितः साध्यो मांसमेदोगतश्च यः ।
अस्थिमज्जागतः कृच्छ्रो शुक्रस्थस्तु न सिध्यति ॥१॥) वृ०वा०अ०१

अर्थ—रसगत, रक्तगत तथा मांस-मेदोगत ज्वर साध्य होता है, अस्थि-मज्जागत कष्ट-साध्य तथा शुक्रगत असाध्य होता है ।

प्राकृत-वैकृत-ज्वरलक्षणम् ।

वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात् ।

वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः ॥ ५५ ॥ वा० नि० अ० २

अर्थ—प्रावृट् ऋतु, शरद् ऋतु एवं वसन्त ऋतु में क्रमशः वात पित्त एवं कफ से होने वाला ज्वर "प्राकृत" कहलाता है इससे विपरीत "वैकृत" या "अप्राकृत" कहलाता है और इस प्रकार का ज्वर कष्ट साध्य होता है तथा वातज्वर प्राकृत भी कष्ट साध्य होता है ।

वक्तव्य—यहाँ "वर्षा" शब्द का प्रयोग भ्रमात्मक ज्ञात होता है वास्तव में "प्रावृट्" होना चाहिये । ग्रीष्म आदि तीन अवशिष्ट ऋतुओं में होने वाले ज्वर क्या कहलाएँगे ? यह उल्लेख न जाने क्यों नहीं किया । मेरे विचार से ग्रीष्म आदि ऋतुएँ जिन २ दोषों का सञ्चय काल बतलाई गई हैं, उनमें होने वाला ज्वर उसी दोष के होने पर "प्राकृत" समझना चाहिये और तद्विपरीत "वैकृत" । यथा—ग्रीष्म में वातज्वर, वर्षा में पित्तज्वर एवं हेमन्त में कफज्वर "प्राकृत" होता है ।

प्राकृतज्वराणामुत्पत्तिक्रमः ।

वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम् ।

कुर्यात्पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः ॥ ५६ ॥

तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम् ।

कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु ॥ ५७ ॥ वा० नि० अ० २

अर्थ—वर्षा (प्रावृट्) ऋतु में वायु-पित्त एवं कफ से युक्त होकर ज्वर को उत्पन्न करता है । शरद् ऋतु में पित्त ज्वर करता है उस (पित्त) का अनुगामी कफ होता है और पित्त एवं कफ के द्रव होने के कारण तथा विसर्ग (स्वभावतः बलवर्द्धक) काल होने के कारण उक्त ज्वर में लंघन करने में भय नहीं होता । वसन्त ऋतु में कफ ज्वर को करता है उसके अनुगामी वात एवं पित्त दोनों होते हैं ।

वक्तव्य—किसी भी ज्वर में (जहाँ भी पित्त एवं कफ का संसर्ग हो जो कि होता ही है) आवश्यकतानुसार लंघन करने में भय नहीं है ।

यथा—

कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लंघनं महत् ।
आमक्षयादूर्ध्वमतो वायुर्न सहते क्षणम् ॥

अतएव प्रायः सभी ज्वरों में थोड़ा-बहुत लंघन करवाया ही जाता है ।

कालसम्प्राप्तिः ।

काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा । सु० वा० अ० ३

अर्थ—दोनों के अनुसार अपने २ काल में सभी ज्वरों की (या रोग मात्र की) प्रवृत्ति अर्थात् प्रारम्भ एवं वृद्धि होती है ।

वक्तव्य—यह "काल सम्प्राप्ति" है और यह केवल ज्वर के ही लिये नहीं; अपितु इसकी सभी रोगों में अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये ।

उपशयानुपशयाभ्यां व्याधिविज्ञानम् ।

निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशायिता ॥ ५८ ॥ सु० वा० अ० ३

अर्थ—जो आहार विहार जिन रोगों के कारण कहे गये हैं वे ही उन रोगों के अनुपशय होते हैं । तथा इसके विपरीत उपशय होते हैं ।

वक्तव्य—रोगोत्पादक आहार विहार रोगवर्धक होने के कारण अनुपशय तथा तद्विपरीत रोगशामक होने के कारण उपशय कहे जाते हैं । इस सूत्र की अनुवृत्ति भी सभी रोगों में कर लेनी चाहिए ।

अन्तर्वेगज्वरस्य लक्षणम् ।

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः ॥ ५९ ॥
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् । च० चि० अ० ३

अर्थ—अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण ये हैं—भीतर अत्यन्तदाह, प्यास, प्रलाप, श्वास, चक्कर, सन्धियों तथा हड्डियों में शूल, पसीना न होना तथा दोषों (वात अधोवायु आदि के रूप में, पित्त-मूत्रपुरीष आदि के साथ एवं कफ खखार में निकलने वाले) एवं पुरीष का रुका रहना ।

बहिर्वेगज्वरलक्षणम् ।

सन्तापो ह्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम् ॥ ६० ॥
बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च । च० चि० अ० ३

अर्थ—त्वचा में अधिक उष्णता तथा उपर्युक्त तृष्णा, प्रलाप आदि में कमी यह लक्षण "बहिर्वेग" का है। यह सुख साध्य होता है। (अन्तर्वेग ज्वर की अपेक्षा।)

आमज्वरलक्षणम् ।

लालाप्रसेको हृल्लासहृदयाशुद्ध्यरोचकाः ॥ ६१ ॥
तन्द्रालस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता ।
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवान् ज्वरः ॥ ६२ ॥
आमज्वरस्य लिङ्गानि न दद्यात्तत्र भेषजम् ।
भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥६३॥ च०नि०अ०परिवर्तित

अर्थ—लार जाना या मुख भर भर आना, जी मिचलाना, हृदय में भारीपन, अरुचि, उँघाई, आलस, अनपच, मुख में विरसता, शरीर में भारीपन, भूख न लगना, मूत्र अधिक आना, दोषों की स्तब्धता (जकड़न या न निकलना) प्रबल ज्वर बना रहना ये सब लक्षण "आम ज्वर" के हैं। इस दशा में शमन औषध नहीं देनी चाहिये; क्योंकि आमदोष युक्त ज्वर में शमन एवं शोधन औषध देने से ज्वर और अधिक हो जाता है (पाचन औषध एवं उष्णोदकादि देना ही चाहिए और दिया ही जाता है।)

पच्यमानज्वरलक्षणम् ।

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥६४॥ च० चि० अ० ३

अर्थ—पच्यमान ज्वर के लक्षण ये हैं—ज्वर प्रबल हो जाता है, प्यास, प्रलाप, श्वास, भ्रम, मलों (दोषों एवं मलों) का कुछ निकलना एवं जी मिचलना।

परिपक्वज्वरलक्षणम् ।

क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ।
दोषप्रवृत्तिरुत्साहो निरामज्वरलक्षणम् ॥६५॥ च० चि० अ० ३

अर्थ—निराम अर्थात् आमदोष रहित ज्वर के लक्षण ये हैं—भूख लगना, कृशता, शरीर में हल्कापन, ज्वर का बहुत थोड़ा रह जाना, दोषों का निकलना एवं मन में उत्साह होना ।

वक्तव्य—यह प्रत्येक ज्वर की तीनों अवस्थाएँ हैं। पहली में लंघन दूसरी में पाचन एवं तीसरी में शमन औषध देना चाहिए; बस बाजी आप के हाथ है ।

साध्यज्वरलक्षणम् ।

बलवत्स्वल्पदोषेषु[1] ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः । च० चि० अ० ३

अर्थ—रोगी बलवान् हो, दोष अत्यन्त दुर्बल हों एवं उपद्रव उत्पन्न न हुए हों तो ज्वर साध्य होता है ।

वक्तव्य—माधव जी ने प्रारम्भ में "सोपद्रवा" इत्यादि से उपद्रव लिखने की प्रतिज्ञा की है; किन्तु बहुत रोगों में वे नहीं पाए जाते । सम्भवतः प्रतिलेखकों की असावधानता का यह कारण है । अस्तु । अध्यापकों को चाहिए कि उपद्रवों को मूल के साथ ही पढ़ा दिया करें । यथा—कासो मूर्च्छारुचिश्छर्दिस्तृष्णातीसारविड्ग्रहाः । हिक्का श्वासांगभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश ॥

असाध्यज्वरलक्षणम् ।

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः ॥६६॥
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः । च० चि० अ० ३

अर्थ—बहुत एवं बलवान् हेतुओं (कारणों) से उत्पन्न होने वाला, बहुत से लक्षणों से युक्त तथा शीघ्र ही कान आदि इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट कर देने वाला ज्वर मारक होता है ।

१—यह सूत्र केवल ज्वर में ही नहीं, अपितु सभी रोगों में लगाया जा सकता है

प्रकारान्तरेणासाध्यज्वरलक्षणम् ।

ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ॥६७॥

असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः । च० चि० अ० ३

अर्थ—क्षीण एवं शोथयुक्त मनुष्य का पुराना गम्भीर ज्वर असाध्य होता है और जो अत्यन्त प्रबल ज्वर केशों में सीमन्त (माँग या चीरनी) कर देवे वह भी असाध्य होता है ।

गम्भीरज्वरलक्षणम् ।

गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया ॥६८॥

आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च । सु० उ० अ० ३९

अर्थ—गम्भीर ज्वर का लक्षण यह है—भीतर दाह, प्यास, आनाह एवं घोर श्वास तथा खांसी ।

अपरमसाध्यज्वरलक्षणम् ।

आरम्भाद्विषमो यस्तु यश्च वा दैर्घरात्रिकः ॥६९॥

क्षीणस्य चातिरूक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम् । सु० उ० अ० ३९

अर्थ—उक्त गम्भीर ज्वर यदि आरम्भ से ही विषम हो अथवा पुराना हो जाय तो असाध्य होता है । यदि क्षीण एवं रूक्ष शरीर वाले मनुष्य को हो तो भी असाध्य होता है ।

असाध्यज्वरलक्षणान्तरम् ।

विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा ॥७०॥

शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः । सु० उ० अ० ३९

अर्थ—जो रोगी बेहोश हो, जिसकी आँखों के सामने अन्धेरा आवे, जहां गिरे वहीं सो जावे, बाहर शीत लगे एवं भीतर दाह हो तो वह रोगी मर जाता है ।

अपरमप्यसाध्यज्वरलक्षणम् ।

यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान् ॥७१॥

वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम् । सु० उ० अ० ३९

अर्थ—जिस ज्वर रोगी को रोमाञ्च हो, आखें लाल हो गई हों, हृदय में अत्यन्त शूल हो तथा केवल मुख से (खोलकर) ऊपर को सांस ले रहा हो उसको ज्वर मार देता है।

हिक्का-श्वास-तृषा-युक्तं मूढं विभ्रान्त-लोचनम् ॥७२॥
सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ।

अर्थ—हिचकी, श्वास एवं प्यास से युक्त, बदहोश, जिसके नेत्र इधर उधर घूम रहे हों एवं केवल मुख से सांस आ रहा हो तथा रोगी क्षीण हो गया हो; ऐसी दशा में रोगी को ज्वर मार डालता है।

अन्यदप्यसाध्यज्वरलक्षणम् ।

हतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम् ॥७३॥
गम्भीर-तीक्ष्ण-वेगाऽऽर्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् । सु० उ० अ० ३९

अर्थ—जिस रोगी की कान्ति एवं इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो गई हो, बल मांस की हानि हो गई हो, अरुचि बढ़ गई हो, गहरे तथा तीव्र वेग वाले ज्वर से पीड़ित हो; ऐसे ज्वररोगी को छोड़ देना चाहिये।

ज्वरमुक्तेः पूर्वरूपम् ।

दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भेदसंज्ञिता ॥७४॥
कूजनं चास्यवैगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे ।

अर्थ—ज्वर छोड़ने को होता है तो ये लक्षण उत्पन्न होते हैं—दाह, पसीना, चक्कर, प्यास, कम्पन, मलभेद (दस्त), मूर्छा, कहरना एवं मुख में दुर्गन्ध ।

वक्तव्य—उक्त लक्षण भीषण ज्वर के छोड़ते समय ही होते हैं, साधारण ज्वरों में तो केवल पसीना होता है, और पित्त ज्वरों में इसके विपरीत लक्षण होते हैं ।

ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ।

स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डूः पाको मुखस्य च ॥७५॥
क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् । सु० उ० अ० ३९

अर्थ—ज्वर छूटने के लक्षण ये हैं—पसीना, शरीर में हल्कापन, शरीर में खुजली, मुख (ओठ) पर फुंसियाँ, छींक एवं भोजन में रुचि ।

इति ज्वरनिदानम् ।

अतिसारनिदानम् ।

वक्तव्य—मानव या प्राणिमात्र के शरीर में आधे से अधिक भाग द्रव द्रव्यों का है वे सब द्रव पदार्थ रक्त-लसीका आदि के रूप में शरीर के भीतर विद्यमान रहते हैं । प्राकृतिक नियमानुसार जितना द्रव शरीर में से मूत्र-स्वेद आदि के रूप में निकलता है, उसकी पूर्ति जलपान द्वारा होती रहती है तथा शरीर के पोषक (आप्यायक) होने के कारण उन्हें अपां धातु या तर्पक धातु कहा जाता है । बस, उस जलधातु का केवल गुदमार्ग से बह जाना "अतिसार" कहलाता है । प्रारम्भ में वह केवल मलमिश्रित होकर निकलता है, बाद (असाध्यावस्था) में शरीरोपयोगी अत्यन्त आवश्यक धातुओं को भी बहा ले जाता है । सान्निपातिक तथा असाध्य अतिसार के लक्षणों पर ध्यान दीजिये ।

गुर्वति-स्निग्ध-रूक्षोष्णद्रव-स्थूलातिशीतलैः ।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चापि भोजनैः ॥ १ ॥
स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः ।
शोकाद्दुष्टाम्बु-मद्यातिपानैः सात्म्यर्तुपर्ययैः ॥ २ ॥
जलाभिरमणैर्वेगविघातैः कृमिदोषतः ।
नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते ॥ ३ ॥ सु० उ० अ० ४०

अर्थ—गुरु (विलम्ब से बचने वाले) अत्यन्त चिकने, रूक्ष, गर्म, पतले, मोटे (बिना चबाए), अत्यन्त शीतल, विरोधी (वीर्य विरुद्ध आदि) द्रव्यों का सेवन करने से, भोजन पर (बिनपचे) भोजन करने से, कच्चे पदार्थ खाने से अथवा अनपच होने से, न्यूनाधिक तथा बेवख्त भोजन करने से, स्नेहन, स्वेदन, आदि के अधिक अथवा विधि-

रहित प्रयोग करने से, विष को खाने से, भय से, शोक से, दूषित जल पीने से, मद्य का अधिक सेवन करने से, ऋतुओं के विपरीत होने से, जल में अत्यन्त तैरने आदि से, मलमूत्रादि का वेग रोकने से तथा उदर मे कृमि पड़ जाने से मनुष्यों को "अतिसार" हो जाता है। उस का लक्षण कहा जायगा।

अतिसारसम्प्राप्तिः।

संशम्यापांधातुरग्निं प्रवृद्धः शकृन्मिश्रो वायुनाऽधः प्रणुन्नः।
सरत्यतीवातिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति॥
एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः॥४॥
सु० उ० अ० ४०

अर्थ—उपर्युक्त कारणों से दूषित जल धातु बढ़कर अग्नि को मन्द कर एवं वायु द्वारा नीचे की ओर प्रेरित होकर गुदमार्ग से अत्यन्त वेग से निकलता है। इस घोर व्याधि को "अतिसार" कहते हैं और यह छः प्रकार का कहा गया है—अकेले २ वात, पित्त एवं कफ से तीन, सन्निपात से चौथा, शोक से पाँचवाँ एवं आम से छठा।

सर्वेषामतिसाराणां पूर्वरूपाणि।

हृन्नाभि-पायूदर-कुक्षि-तोद-गात्रावसादानिलसन्निरोधाः।
विट्सङ्ग आध्मानमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि॥५॥
सु० उ० अ० ४०

अर्थ—भावी अतिसार के लक्षण अर्थात् पूर्वरूप ये हैं—हृदय, नाभि, गुद, उदर एवं आमाशय में सुई चुभाने की सी पीड़ा, शरीर में शिथिलता, अधोवायु की रुकावट, मल की रुकावट (कब्ज), अफरा एवं अनपच।

वातातिसारलक्षणम्।

अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः।
शकृदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते॥ ६ ॥

अर्थ—वातातिसार के लक्षण ये हैं—गहरा लाल, झागदार, रूक्ष, थोड़ा थोड़ा, बार बार, आम-पीड़ा एवं शब्द (पिड़ पिड़) से युक्त पुरीष आता है।

पित्तातिसारलक्षणम्।

पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णा-मूर्च्छा-दाह-पाकोपपन्नम्।

सु० उ० अ० ४०

अर्थ—पित्त से पीला, नीला एवं कुछ लाल पुरीष निकलता है और प्यास, मूर्च्छा, दाह एवं पाक (गुद तथा मुख का) होता है।

वक्तव्य—माननीय माधव जी ने इतना "समासतः" को निभाया है कि पूरे श्लोक भी उद्धृत नहीं किये। उक्त आधे श्लोक का अर्द्ध भाग इस प्रकार है—दुर्गन्ध्युष्णं वेगवन्मांसतोयप्रख्यं भिन्नं स्विन्नदेहोतिमात्रम्।

कफातिसारलक्षणम्।

शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं विस्रं शीतं हृष्टरोमा मनुष्यः ॥७॥

सु० उ० अ० ४०

अर्थ—कफ से श्वेत, गाढ़ा, कफयुक्त, दुर्गन्धयुक्त एवं शीतल पुरीष आता है और रोगी को रोमाञ्च होता है।

वक्तव्य—इसका भी अर्द्धभाग इस प्रकार है, यथा—"तन्द्रा निद्रा गौरवोत्क्लेशसादी वेगाशंकी सृष्टविट्कोपि भूयः।"

त्रिदोषजातिसारलक्षणम्।

वराहस्नेह-मांसाम्बु-सदृशं सर्वरूपिणम्।
कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्याद्दोषत्रयोद्भवम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसमें सूअर की चरबी तथा मांस-धोवन जैसा पुरीष आवे एवं पूर्वोक्त अतिसारों के सब लक्षण हों; उसे "त्रिदोषज अतिसार" समझना चाहिये। यह कष्ट साध्य होता है।

शोकजातिसारलक्षणम्।

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य वाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं तच्चाधस्तात्काकणन्तीप्रकाशम् ॥९॥

निर्गच्छेद् विड्विमिश्रं ह्यविड्वा निर्गन्धं वा गन्धवद्वाऽतिसारः ।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥१०॥

सु० उ० अ० ४०

अर्थ—उन उन भावों (कुल, धन एवं मित्र आदि के नाश) से शोक करते हुए अतएव कम भोजन करने वाले मनुष्य की वाष्प (रोते समय आंख-मुख एवं नाक में से वाष्प ही पानी बन कर निकलता है यह पानी क्षार प्रधान होता है) की गर्मी अग्नि को मन्द करके पेट में जाकर रक्त को क्षुभित, सञ्चालित या उत्तेजित कर देती है; वह रक्त नीचे (गुदमार्ग) से घुंघची (गुञ्जा) के सामन (बूंद बूंद) पुरीष-मिश्रित अथवा पुरीष-रहित, गन्ध-युक्त अथवा गन्ध-रहित होकर निकलता है । बस यही "शोकज-अतिसार" है, इसे वैद्य कष्टदायक एवं कष्टसाध्य मानते हैं ।

वक्तव्य—दुःख शोक से रोकर आंसुओं को निकाल देने से रोगोत्पत्ति का भय दूर हो जाता है । इसी लिए भगवती प्रकृति शोकार्त्तों को हठात् रुलाती है । रक्त का नाम क्षतज (क्षतात् जायते अर्थात् घाव होने पर ही दिखाई दे सकता है) है, बस वाष्पोष्मा भीतर अँतड़ियों में क्षत कर देती है । "दुश्चिकित्स्य" क्यों न हो, हरड़ बहेड़ा आमला से थोड़े ही शोक दूर होगा; इसके लिये तो कोई अच्छा उपदेशक सांत्वना देवे एवं मित्र मण्डल दिल बहलाने का यत्न करे तथा हर्ष के समाचार सुनावे, तभी लाभ होगा ।

आमातिसारलक्षणम् ।

अन्नाजीर्णात्प्रद्रुताः क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषा धातुसंघान्मलांश्च ।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति ॥ ११ ॥

सु० उ० अ० ४०

अर्थ—अन्न के न पचने से कुपित दोष स्वयं द्रव होकर और रसादि धातुओं एवं मलों को संचालित कर तथा कोष्ठ में ले जाकर अनेक वर्णों से युक्त (प्रायः श्वेत) तथा बहुत बार दस्त द्वारा निकालते हैं (यह

पेट में ऐंठन या मरोड़ के साथ दस्त आता है) इसको छठा "आमातिसार" कहते हैं।

आमपक्वपुरीषयोर्लक्षणम्।

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम् ॥ १२ ॥
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै।
लाघवं च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥१३॥सु०उ०अ०४०

अर्थ—जो पुरीष वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले अतिसारों के लक्षणों से युक्त हो तथा पानी में डालने पर डूब जाय तथा अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त एवं चिपचिपा हो, उसे आम या आमरसयुक्त समझना चाहिये और आम के लक्षणों से विपरीत या रहित हो और विशेषतया हल्का अर्थात् पानी पर तैरने वाला हो, तो उसे पक्व या आमरस रहित जानना चाहिये।

वक्तव्य—अतिसार की चिकित्सा में मल की आमता एवं विपक्वता का विचार बहुत ही आवश्यक है। शल्य चिकित्सक (डाक्टर) बिना किसी हिचकिचाहट के आज भी मलमूत्रादि की परीक्षा करते हैं। अस्तु, जो ऐसा नहीं कर सकते, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि आम-मल सर्वदा ऐंठन या मरोड या पीड़ा के साथ निकलता है, जिसका ज्ञान प्रश्न द्वारा किया जा सकता है।

असाध्यातिसारलक्षणम्।

पक्वजाम्बवसंकाशं यकृत्खण्डनिभं तनु।
घृत–तैल–वसा–मज्ज–वेशवार–पयो–दधि–॥ १४ ॥
मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम्।
मेचकं स्निग्धकर्बूरं चन्द्रकोपगतं घनम् ॥ १५ ॥
कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि कुथितं बहु।
तृष्णा–दाह–तमः–श्वास–हिक्का–पार्श्वास्थिशूलिनम् ॥ १६ ॥

संमूर्च्छा-ऽरति-संमोह-युक्तं पक्वली-गुदम् ।
प्रलापयुक्तं च भिषग् वर्जयेदतिसारिणम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसका मल पके हुए जामुन के समान (वर्ण में) अथवा यकृत्खण्ड के समान काला लाल अथवा घी, तेल, चर्बी, मज्जा, पिसे मांस, दूध, दही एवं मांस धोवन के समान, काला, नीला, गहरा लाल, पिसे सुरमे का-सा, चिकना, चितकबरा, मोर पंख के समान चन्द्रिका युक्त, गाढ़ा, मुरदार की सी गन्धवाला, मस्तिष्क की चर्बी के सदृश, विशेष प्रकार की गन्ध से युक्त, सड़ा हुआ एवं बहुत निकले; तथा प्यास, दाह, आंखों के सामने अंधेरा, श्वास, हिचकी, पार्श्वशूल, अस्थिशूल, मूर्च्छा, बेचैनी और बदहोशी से युक्त रोगी को तथा जिसकी गुदवलियाँ पक गई हों एवं प्रलाप हो ऐसे अतिसाररोगी को छोड़ देना चाहिये ।

असंवृतगुदं क्षीणं दूराध्मातमुपद्रुतम् ।
गुदे पक्के गतोष्माणमतिसारकिणं त्यजेत् ॥१८॥ सु० उ० अ० ४०

अर्थ—जिस रोगी की गुदवलि संकोच रहित हो गई हो, बल मांस क्षीण हो गया हो, अत्यन्त अफरा हो, उपद्रव उत्पन्न हो गए हों, गुदवलियां पक गई हों तथा अग्नि मन्द हो गयी हो; उसे त्याग देना चाहिये ।

वक्तव्य—संवरणी नामक वलि एवं गुदौष्ठ पर इच्छा शक्ति का अभाव न रहने के कारण रोगी प्रयत्न करके भी पूर्ववत् उसका संवरण नहीं कर सकता, फल यह होता है कि सर्वदा मल निकलता रहता है इसी दशा में रोगी की चारपाई तक काटने की आवश्यकता पड़ जाती है । "उपद्रुतं" कहने पर भी मूल में उपद्रव नहीं पाये जाते । "शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां श्वासं कासमरोचकम् । छर्दिं मूर्च्छां च हिक्कां च दृष्ट्वातीसारिणं त्यजेत् ॥" इसे मूल के साथ ही स्मरण कर लेना चाहिये, नहीं तो आप "उपद्रुतं" का अर्थ नहीं लगा सकेंगे ।

श्वास-शूल-पिपासा-ऽऽर्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम् ।
विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥१९॥ सु० उ० अ० ४०

अर्थ—श्वास, शूल एवं प्यास से पीड़ित; कृश, दुर्बल, ज्वर से पीड़ित तथा वृद्ध मनुष्य को अतिसार अवश्य मार डालता है।

रक्तातिसारलक्षणम् ।

पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके ।

तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः ॥२०॥

अर्थ—जब पित्तातिसार का रोगी पित्तकारक द्रव्यों का अधिक सेवन करता है तो उसे शीघ्र ही भयंकर[1] "रक्तातिसार" हो जाता है।

वक्तव्य—यह पित्तातिसार का ही अवस्थान्तर है। अतः इसे सातवां अतिसार नहीं समझना चाहिये।

प्रवाहिकायाः सम्प्राप्तिः ।

वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य ।

प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥२१॥

सु० उ० अ० ४०

अर्थ—अहितकर भोजन करने वाले मनुष्य का बढ़ा हुआ वायु संचित कफ को नीचे की ओर ढकेलता है और वह कफ कांखने या किल्लने का प्रयत्न (वाह प्रयत्ने—धातु) करने पर थोड़ा-थोड़ा बार बार एवं मल युक्त निकलता है। बस, विद्वान् इसे "प्रवाहिका" कहते हैं।

वक्तव्य—प्रवाहिका में प्रवाहण अर्थात् अत्यन्त प्रयत्न करने पर आमरस के श्वेत लच्छे निकलते हैं। इसी को पेचिस, मरोड़े या आंव कहते हैं। जब इसमें रक्त जाता है तो इसे "लीहां" कहते हैं।

सर्वासां प्रवाहिकाणां पृथक् पृथक् लक्षणानि ।

प्रवाहिका वातकृता सशूला, पित्तात्सदाहा, सकफा कफाच्च ।

सशोणिता शोणितसंभवा च ताः स्नेह-रूक्ष-प्रभवा मतास्तु ।

तासामतीसारवदादिशेच्च लिङ्गं क्रमं चाम-विपक्वतां च ॥२२॥

सु० उ० अ० ४०

1—तृष्णा, दाह, शूल एवं गुदपाक करने वाला।

अर्थ—वायु की प्रवाहिका शूलयुक्त, पित्त की दाहयुक्त, कफ की कफयुक्त एवं रक्त की रक्तयुक्त होती है। ये सब अतिस्निग्ध अथवा रूक्ष, तीक्ष्ण एवं उष्ण पदार्थों के सेवन से होती हैं। इनके लक्षण, चिकित्साक्रम, तथा आमता एवं विपकता का विचार अतिसार के समान ही करना चाहिये।

मुक्तातिसारलक्षणम्।

यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः॥ २३॥ सु० उ० अ० ४०

अर्थ—जिसका मूत्र गुद से मल निकले बिना उतरने लगे, अधोवायु भी बिना मल के निकलने लगे, अग्नि दीप्त एवं उदर हल्का हो जावे; उसका "अतिसार" अच्छा हो गया समझे।

वक्तव्य—अतिसार के रोगी का मल पेशाब करते समय तथा अधोवायु के साथ निकल जाता है; क्योंकि रोगी की इच्छाशक्ति का पूर्ववत् उन वलियों पर प्रभाव नहीं रहता।

(ज्वरातिसारयोरुक्तं निदानं यत्पृथक् पृथक्।
तत्स्याज्ज्वरातिसारस्य तेन नात्रोदितं पुनः॥ १॥)

अर्थ—ज्वर एवं अतिसार के जो भिन्न २ निदान (निश्चायक हेतु, पूर्वरूप आदि) कहे गये हैं, वे ही "ज्वरातिसार" के भी होते हैं। अतएव दुबारा नहीं कहे गये।

वक्तव्य—इस सूत्र का सभी सम्मिलित रोगों में स्मरण कर लेना चाहिये।

इति अतिसारनिदानम्।

ग्रहणीरोगनिदानम्।

सभी प्रकार का आहार चबाने तथा निगलने के बाद आमाशय में पहुँच जाता है और इसमें स्वभावतः सर्वदा होने वाली गति के कारण विलोड़ित होकर थोड़ा थोड़ा अतड़ी में जाता रहता है यह अतड़ी सर्प

के समान गेंडली मारे उदर में पड़ी पड़ी अपनी सीमा के भीतर ही गति करती रहती है (अम्-गतौ धातु से अन्त्र शब्द का निर्माण होता है) इसी में आहार का पाक या आलोड़न विलोड़न होता है इसी कारण इसे अग्नि-अधिष्ठान या अग्न्याशय या अन्न को पाक पर्यन्त ग्रहण अथवा धारण करने के कारण ग्रहणी कहा जाता है। जब इसकी उक्त स्वाभाविक क्रिया विकृत अथवा अव्यवस्थित हो जाती है, तो "ग्रहणीरोग" हो जाता है।

ग्रहण्याः सम्प्राप्तिः ।

अतिसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः ।
भूयः संदूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत् ॥१॥ सु० उ० अ० ४०

अर्थ—अतिसार के अच्छा हो जाने पर (अथवा न होने पर) मन्द अग्नि वाले एवं अहित भोजन करने वाले प्राणी की अग्नि अत्यन्त दूषित होकर ग्रहणी को दूषित कर देती है।

संग्रहण्याः संप्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणम् ।

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः ।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥२॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम् ।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥३॥ सु० उ० अ० ४०

अर्थ—अत्यन्त बढ़े हुये अलग २ एक एक दोष से एवं परस्पर मिले हुए तीनों दोषों (सन्निपात) से दूषित हुई वह ग्रहणी भोजन को कच्चा ही बार बार छोड़ती रहती है अथवा कभी पका कर भी। पीड़ा एवं दुर्गन्ध युक्त कभी बँधा हुआ, तो कभी पतला मल निकालती है। आयुर्वेद को जानने वाले इस रोग को "ग्रहणी रोग" कहते हैं।

वक्तव्य—"मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवं" यह परम्परा दौरे से होती है अर्थात् कई दिन या कई सप्ताह (कभी कई मास भी) तक द्रव एवं कई दिन या सप्ताह तक बद्ध मल होता है इस दशा में कभी २ रोगी अथवा वैद्य को भी सन्देह हो जाता है और पथ्य एवं औषध में शिथिलता होने लगती है अतः सावधान रहे।

ग्रहणीरोगस्य पूर्वरूपम् ।

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः ।
विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात्कायस्य गौरवम् ॥४॥ च० चि० अ० १५

अर्थ—उसका पूर्व रूप यह है—प्यास, आलस, बल की हानि, भुक्त भोजन का विदाह (पच्यमानावस्था में गला आदि में दाह होना) बहुत देर में भोजन पचना, एवं शरीर में भारीपन का अनुभव ।

वातिकग्रहण्या निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः लक्षणं च ।

कटु-तिक्त-कषायातिरूक्ष-संदुष्ट-भोजनैः ।
प्रमितानशनात्यध्व-वेगनिग्रह-मैथुनैः ॥५॥
मारुतः कुपितो वह्निं संछाद्य कुरुते गदान् ।
तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥६॥
कण्ठाऽऽस्यशोषोऽक्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः ।
पश्वोरुवङ्क्षण-ग्रीवा-रुगभीक्ष्णं विसूचिका ॥७॥
हृत्पीडा-कार्श्य-दौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका ।
गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥८॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च ।
स वातगुल्म-हृद्रोग-प्लीहाऽऽशङ्की च मानवः ॥९॥
चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्द-फेनवत् ।
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कास-श्वासार्दितोऽनिलात् ॥१०॥

च० चि० अ० १५

अर्थ—कडुवे, तीते, कसैले, अत्यन्त रूक्ष, एवं दूषित (सड़े गले) भोजन करने से, एक[1] ही मात्रा में या बहुत ही मात्रा में या बहुत थोड़ा खाने से, लंघन करने से, अति मार्ग चलने से, मूत्रादि का वेग रोकने

1—भूख की कमी वेशी का ख्याल न करके केवल एक ही मात्रा में खाना भी उचित नहीं ।

से, अति मैथुन करने से कुपित होकर वायु जठराग्नि को बिगाड़ कर रोग को उत्पन्न कर देता है। उस रोगी का आहार दुःख पूर्वक पचता है और खट्टा पाक होता है, अंगों में खरदरापन, कण्ठ मुख का सूखना, भूख न लगना, प्यास, आंखों के सामने अँधेरा, कानों में सांय सांय शब्द, पसली, ऊरु (पट्ठ या रान), कुल्हा एवं गर्दन में पीड़ा, बार २ हैजा (कै, दस्त) होना, हृदय में पीड़ा, शरीर की कृशता, दुर्बलता, मुख में फीकापन, गुद में कतरने की सी पीड़ा, सब प्रकार के रसों को खाने की इच्छा, मन में सुस्ती, भोजन पच जाने पर तथा पचते समय अफरा और भोजन करने पर कुछ आराम मालूम हो। इस रोगी को वातगुल्म, हृद्रोग, एवं प्लीहा नामक रोगों के होने का सन्देह होता है। देह में दुःख पूर्वक, पतला, कभी सूखा, थोड़ा आम अर्थात् कच्चा, शब्द (पिड़ पिड़)एवं झाग से युक्त मल आता है। और रोगी को कास एवं श्वास सताने लगते हैं। यह सब कुछ अर्थात् कारण, सम्प्राप्ति एवं लक्षण "वात ग्रहणी" के हैं।

पैत्तिकग्रहण्या हेतवो लक्षणानि सम्प्राप्तिश्च।

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्।
आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम् ॥११॥
सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्।
पूत्यम्लोद्गार-हृत्-कण्ठ-दाहारुचि-तृडर्दितः॥१२॥ च० चि० अ० १५

अर्थ—जिस प्रकार गर्म जल आग को बुझा देता है उसी प्रकार कडुवे, कच्चे, विदाहकारी, खट्टे एवं खारे द्रव्यों के खाने से बढ़ा हुआ पित्त जठराग्नि को मन्द कर देता। इससे वह रोगी कच्चा, नीला, पीला एवं द्रव पुरीष त्यागता है तथा रोगी पीला हो जाता है और दुर्गन्धि एवं खट्टे उद्गारों, हृदय तथा कण्ठ में दाह, अरुचि एवं प्यास से पीड़ित हो जाता है।

श्लैष्मिक-ग्रहण्या हेतवो लक्षणानि सम्प्राप्तिश्च।

गुर्वतिस्निग्ध-शीतादि-भोजनादतिभोजनात्।
भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः॥१३॥

तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः ।
आस्योपदेह-माधुर्यं कासष्ठीवनपीनसाः ॥१४॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु ।
दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ॥१५॥
भिन्नाऽऽम-श्लेष्म-संसृष्ट-गुरु वर्चः प्रवर्तनम् ।
अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके ॥१६॥ च० चि० अ० १५

अर्थ—भारी, अत्यन्त चिकने, शीत तथा अति मात्रा में भोजन करने से एवं भोजन करते ही सो जाने से कफ कुपित होकर अग्नि को मन्द कर देता है। उस रोगी का आहार बड़े दुःख से पचता है। बाद में जी मिचलाना, कै, अरुचि, मुख में चिपचिपाहट, तथा मीठापन, खांसी, अधिक थूक आना, ज़ुकाम, ये लक्षण हो जाते हैं। हृदय भारी सा मालूम होता है। तथा उदर गिलगिला एवं भारी ज्ञात होता है। खराब मीठे उद्गार आते हैं, स्त्रियों में अप्रसन्नता अर्थात् नपुंसकता हो जाती है। गांठ रहित, कच्चा, कफ युक्त एवं भारी पुरीष आता है। रोगी यद्यपि कृश नहीं होता किन्तु दुर्बल हो जाता है। और आलस आती है। यह कारण; सम्प्राप्ति एवं लक्षण "कफजग्रहणी" के हैं।

सान्निपातिक-संग्रहणीनिर्देशः ।

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे ।
त्रिदोषं निर्दिशेदेवं तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥१७॥ च०चि०अ०१५

अर्थ—पृथक् वायु आदि दोषों से उत्पन्न होनेवाले ग्रहणी रोगों के जो हेतु एवं लक्षण कहे गये हैं उन सबका समागम (मेल) होने से त्रिदोषज "ग्रहणी रोग" समझना चाहिये।

वक्तव्य—माधव जी ने "तेषां वक्ष्यामि भेषजम्" केवल श्लोक पूरा करने के लिये उद्धृत कर दिया है वास्तव में इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी।

संग्रह-ग्रहणीलक्षणम् ।

अन्त्रकूजनमालस्यं दौर्बल्यं सदनं तथा
द्रवं शीतं घनं स्निग्धं सकटीवेदनं शकृत् ॥ १ ॥

आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम् ।
पक्षान्मासादशाहाद्वा नित्यं वाऽप्यथ मुञ्चति ॥ २ ॥
दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्तिं व्रजेच्च सा ।
दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धिनी ॥ ३ ॥
सा भवेदामवातेन संग्रहसंग्रहणी मता ।

अर्थ—अन्त्रों में कुलुल २ शब्द होना, आलस, दुर्बलता, शरीर में शिथिलता होना। पतला, ठण्डा, गाढ़ा, चिकना, कमर की पीड़ा से युक्त, कच्चा, चिपचिपा, पिड़ पिड़ शब्द युक्त तथा थोड़ी पीड़ा से युक्त पुरीष आना। पन्द्रह दिन, एक मास अथवा दस दिन बाद अथवा नित्य प्रति उक्त प्रकार से पुरीष आता है। इस रोग का प्रकोप दिन में अधिक होता है रात में आराम रहता है। इसे "संग्रह ग्रहणी" कहते हैं। प्रथम तो यह बड़ी कठिनता से समझ में आती है और समझ में आने पर भी बड़े परिश्रम से इसकी चिकित्सा हो सकती है और बहुत काल तक साथ नहीं छोड़ती और यह आमवात के विकार से होती है।

घटीयन्त्राख्यग्रहणीरोगलक्षणम्[1][2] ।

स्वपतः पार्श्वयोः शूलं गलज्जलघटीध्वनिः ।
तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम् ॥ ४ ॥)

अर्थ—जिस रोग में सोते समय पसलियों में पीड़ा हो। उलटे मुँह की हुई झज्झर (सुराही) में से पानी निकलते समय जैसा शब्द (वग वग) होता है ठीक वैसा ही दस्त होते समय शब्द हो उस रोग को "घटीयन्त्र" नामक ग्रहणी रोग कहते हैं यह असाध्य है।

ग्रहण्यामाम-पक्क-दोषपरिज्ञानम् ।

दोषं सामं निरामं च विद्यादत्रातिसारवत् ॥ १८ ॥

अर्थ—ग्रहणी रोग में आम सहित अथवा आम रहित दोष को अतिसार में कहे हुये विधान से जानना चाहिये।

१—२ नोट—उक्त दोनों रोग प्रक्षिप्त हैं।

असाध्यग्रहणीरोगलक्षणम् ।

लिङ्गैरसाध्यो ग्रहणीविकारो यैस्तैरतीसारगदो न सिध्येत् ।
वृद्धस्य नूनं ग्रहणीविकारो हत्वा तनुं नैव निवर्तते च ॥ १९ ॥

अर्थ—जिन लक्षणों से अतिसार को असाध्य समझा जाता है ठीक उन्हीं लक्षणों से ग्रहणी रोग को भी असाध्य समझना चाहिये । और वृद्ध पुरुष का ग्रहणी रोग उसे मार कर भी निवृत्त नहीं होता । अर्थात् सर्वथा असाध्य होता है ।

वयोभेदेन ग्रहण्याः साध्यासाध्यत्वादिविज्ञानम् ।

(बालके ग्रहणी साध्या यूनि कृच्छ्रा समीरिता ।
वृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया मतं धन्वन्तरेरिदम् ॥ १ ॥)

अर्थ—बालक का ग्रहणी रोग साध्य, युवा का कष्ट साध्य एवं वृद्ध का असाध्य होता है यह भगवान् धन्वन्तरि का मत है ।

वक्तव्य—अतिसार एवं ग्रहणी का निदान कहते समय "नाला या नाड़ा उखड़ना वा हटना" का ध्यान अवश्य रखना चाहिये । इसमें नाभि अपने स्थान से (मध्य रेखा से) इधर उधर हट जाती है, पेट को दबाने से वेदना का अनुभव होता है, नाभि के आसपास धड़कन होती है, जिसे हाथ से दबाकर जाना जा सकता है । इसमें वातातिसार एवं ग्रहणी के लक्षण पाए जाते हैं । वास्तविक लक्षण है शब्द युक्त थोड़ा सा दस्त होना । इसमें औषधों से लाभ नहीं होता । इसके लिये नाल बैठानेवालों के पास जाना चाहिये । वे इधर उधर हटी हुई अँतड़ियों को मर्दन क्रिया द्वारा ठीक कर देते हैं । कोई मन्त्र द्वारा और यन्त्र द्वारा भी ठीक करते हैं ।

इति ग्रहणीनिदानम् ।

अर्शोनिदानम्

अर्श के अंकुर या मस्से वा मौंह यद्यपि नाक, नेत्र आदि में अथवा शरीर पर की त्वचा पर कहीं भी हो सकते हैं, परञ्च इस प्रकरण में गुद बलियों से होने वाले मस्सों का विस्तार से वर्णन किया जायगा और संक्षेप से ये नाभि एवं त्वचा के मस्सों का बवासीर साधारण-

तया दो नामों से प्रसिद्ध है १—बादी (कफज एवं वातज) २—खूनी (पित्तज एवं रक्तज) ।

अथार्शोनिदानम् ।

पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात्सहजानि च ।
अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्याद्गुदवलित्रये ॥ १ ॥

अर्थ—अलग २ तीनों दोषों से, सन्निपात से, रक्त से होने वाला तथा सहज इस प्रकार गुद की तीनों वलियों में छः प्रकार के अर्शोऽकुर होते हैं ।

वक्तव्य—अर्श की अधिष्ठान तीन वलियां यह हैं भीतर से बाहर को १—प्रवाहिणी—मल को प्रवाहित करती है । २—विसर्जनी—त्यागती है (इसी समय हाजत होती है) । ३—संवरणी—मल को (इच्छानुसार) रोकती है । यह तीनों शंखावर्त के समान बल खाए हुए हैं इन्हीं का नाम गुद है । इन से बाहर गुदोष्ठ है ।

अर्शसां सम्प्राप्तिः ।

दोषास्त्वङ्-मांस-मेदांसि संदूष्य विविधाकृतीन् ।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः ॥२॥ वा० नि० अ० ७

अर्थ—वायु-आदि दोष त्वचा, मांस एवं मेदा को दूषित कर गुद आदि में मस्से उत्पन्न कर देते हैं उन्हें अर्श कहते हैं ।

वक्तव्य—इस के मस्सों की संख्या का कोई निश्चित निर्देश नहीं किया जा सकता । किसी २ को ८-१० अँगूरों के गुच्छे के समान भी देखे गए हैं ।

अथार्शसां सम्प्राप्तिः ।

कषाय-कटु-तिक्तानि रूक्ष-शीत-लघूनि च ।
प्रमितालपा-शनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम् ॥ ३ ॥
लंघनं देश-कालौ च शीतौ व्यायामकर्म च ।
शोको वातातप-स्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः ॥ ४ ॥ च० चि० अ० १४

अर्थ—कसैले, कड़ुवे, तीते, रूक्ष (खुश्क), ठण्डे, हल्के, निश्चित

मात्रा में एवं थोड़े भोजन, तेज शराब, अधिक मैथुन, लंघन या उपवास, ठण्डा देश, ठण्डा काल, अधिक व्यायाम (कसरत) शोक तथा वायु और धूप का लगना यह सब वायु के अर्श का कारण कहा गया है।

पैत्तिकार्शोनिदानानि ।

कट्वम्ल-लवणोष्णानि व्यायामाग्न्यातपप्रभाः ।
देश-कालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥ ५ ॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम् ।
पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥ ६ ॥ च० चि० अ० १४

अर्थ—कड़ुवे, खट्टे, नमकीन एवं गर्म पदार्थों का सेवन, व्यायाम, अग्नि एवं धूप का सेवन, परिश्रम, गर्म देश और काल, क्रोध, मद्यपान, ईर्षा, विदाहकारी, तीखे एवं गर्म सब पीने खाने के पदार्थों एवं औषधों का सेवन, ये सब पित्तज अर्श के कारण माने जाते हैं।

कफार्शसां हेतवः ।

मधुर-स्निग्ध-शीतानि लवणाम्ल-गुरूणि च ।
अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्या-ऽऽसनसुखे रतिः ॥ ७ ॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देश-कालावचिन्तनम् ।
श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम् ॥ ८ ॥ च० चि० अ० १४

अर्थ—मीठे, चिकने, ठण्डे, नमकीन, खट्टे एवं भारी पदार्थों का सेवन, व्यायाम न करना, दिन में सोना, सोने एवं बैठे रहने में सुख मानना, पूर्वीय वायु का सेवन, शीत देश और काल एवं निश्चिन्तता ये सब कफज बवासीर के कारण कहे गये हैं।

द्वन्द्वजार्शोविज्ञानम् ।

हेतु-लक्षण-संसर्गाद्व विद्याद्व द्वन्द्वोल्बणानि च । च० चि० अ० १४

त्रिदोषजार्शोनिदानम् ।

सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम् ॥ ९ ॥ च० चि० अ० १४

अर्थ—दो दो दोषों के हेतु एवं लक्षणों की मिलावट से द्वन्द्वज

अर्थात् द्विदोषज अर्श जान लिये जाते हैं और उपर्युक्त सभी कारणों से त्रिदोषज अर्श होते हैं तथा उनके लक्षण सहज अर्श के समान होते हैं।

वक्तव्य—सहजार्शः—प्रारंभ अर्थात् जन्म से ही होता है। और यह अर्श पीड़ित माता अथवा पिता की सन्तान को होता है किन्तु कभी २ नाना नानी अथवा दादा दादी का उक्त रोग बीच की पीढ़ी को न होकर दौहित्र एवं पौत्र को भी हो जाता है। कुष्ठ आदि वंशज रोगों में भी यह बात देखी जाती है। सहजार्श के लक्षण यह हैं—सहजानि दुष्टशोणित (आर्त्तव) शुक्र (वीर्य) निमित्तानि, तेषां दोषत एवं प्रसाधनं (चिकित्सा) कर्त्तव्यम्। विशेषतश्चैतानि (अंकुराणि) दुर्दर्शनानि, परुषाणि, पाण्डूनि, दारुणानि, अन्तर्मुखानि (भवन्ति) तैरुपद्रुतः (रोगी) कृशोऽल्पभुक्, सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः, क्षीणरेतः, क्षामस्वरः, क्रोधिनोऽल्पाग्निप्राणः परमलसश्च, तथा घ्राणशिरोऽक्षिश्रवणरोगवान्, सततमन्त्रकूजनाटोप हृदयोपलेपारोचक प्रभृतिभिः पीड्यते।

सु० नि० अ० २

वातार्शसां लक्षणानि।

गुदाङ्कुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमचिमान्विताः।
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विशदाः परुषाः खराः ॥१०॥
मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः।
बिम्बी-खर्जूर-कर्कन्धू-कार्पासी-फल-सन्निभाः॥ ११ ॥
केचित्कदम्बपुष्पाभाः केचित्सिद्धार्थकोपमाः।
शिरः-पार्श्वांस-कट्यूरुवङ्क्षणाद्यधिकव्यथाः ॥ १२ ॥
क्षवथूद्गार-विष्टम्भ-हृद्ग्रहारोचक-प्रदाः।
कास-श्वासाग्निवैषम्य-कर्णनाद-भ्रमावहाः ॥ १३ ॥
तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम्।
रुक्फेन-पिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते ॥ १४ ॥

कृष्ण-त्वङ्-नख-विण्मूत्र-नेत्रवक्त्रश्च जायते ।

गुल्म-प्लीहोदराष्ठीला-संभवस्तत एव च ॥१५॥ वा० नि० अ० ७

अर्थ—वाताधिक अर्श सूखे, चिमचिम, पीड़ायुक्त, मैले, कुछ काले लाल, कड़े, चिपचिपाहट रहित, कुछ खरदरे, अथवा अधिक खरदरे, परस्पर छोटे बड़े, टेढ़े, तीखे, फटे मुंह वाले तथा कुन्दरु (कन्दूरी), खजूर, बेर एवं कपास के फल (टींडे) के समान आकार वाले, कोई (बड़े से बड़े) कदम्ब के फूल जैसे और कोई (छोटे से छोटे) सरसों के समान होते हैं। तथा वे शिर, पसलियों, कन्धों, कमर, उरु, कुल्हों में अधिक व्यथा करते हैं। छींक, उद्गार, विष्टम्भ (अँतड़ियों की गति में रुकावट), हृद्ग्रह (हृदय की गति में रुकावट) एवं अरुचि को करते हैं। कास, श्वास, जठराग्नि की विषमता, कानों में ध्वनि, तथा भ्रम (चक्कर) को उत्पन्न करते हैं। इन अर्शों के पीड़ित रोगी गांठदार, थोड़ा, शब्दयुक्त, प्रवाहिका पूर्वक (आम के लच्छों वाला) पीड़ायुक्त एवं फेन (झाग) से व्याप्त तथा बंधा हुआ (सख्त) मल त्यागता है। और उस की त्वचा, नाखून, मल, मूत्र, नेत्र तथा मुख (चेहरा) कुछ काले हो जाते हैं। इस रोग से गुल्म, प्लीहा, उदर रोग एवं अष्ठीला भी उत्पन्न हो सकते हैं।

पित्तार्शसां लक्षणानि ।

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्त-पीतासित-प्रभाः ।

तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः ॥ १६ ॥

शुकजिह्वा-यकृत्खण्ड-जलौकोवक्त्र-सन्निभाः ।

दाह-पाक-ज्वर-स्वेद-तृण्मूर्च्छाऽरुचि-मोहदाः ॥ १७ ॥

सोष्माणो द्रव-नीलोष्ण-पीत-रक्ताऽऽम-वर्चसः ।

यवमध्या हरित्-पीत-हारिद्र-त्वङ्-नखादयः ॥१८॥ वा० नि० अ० ६

अर्थ—पित्त से होने वाले अर्श नीले मुख वाले, लाल, पीले एवं काले से होते हैं। उन में से पतला रक्त निकलता है तथा वे दुर्गन्ध युक्त, छोटे या पतले, कोमल शिथिल (ढीले ढाले) सुग्गा (तोता)

की जीभ, यकृत् खण्ड एवं जोंक के मुख के समान आकृति वाले होते हैं। इन से दाह, गुदपाक (कभी किसी को), ज्वर, पसीना, प्यास, मूर्च्छा, अरुचि एवं मोह हो जाते हैं। इस में से भाप सी निकलती प्रतीत होती है। इसके कारण पतला, नीला, गर्म, पीला, लाल एवं कच्चा पुरीष आता है। ये यव के समान बीच में मोटे होते हैं। इन से त्वचा, नाखून, विष्ठा, मूत्र, नेत्र एवं चेहरा, हरा-पीला तथा हल्दी के वर्ण का सा (गहरा पीला) हो जाता है।

कफजार्शोलक्षणानि ।

श्लेष्मोल्बणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः ।
उत्सन्नोपचित-स्निग्ध-स्तब्ध-वृत्त-गुरु-स्थिराः ॥ १९ ॥
पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः ॥ २० ॥
वङ्क्षणानाहिनः पायु-बस्ति-नाभि-विकर्षिणः ।
सश्वास-कास-हृल्लास-प्रसेका-ऽरुचि-पीनसाः ॥ २१ ॥
मेह-कृच्छ्र-शिरोजाड्य-शिशिरज्वर-कारिणः ।
क्लैब्याग्निमार्दव-च्छर्दिरामप्राय-विकारदाः ॥ २२ ॥
वसाभ-सकफ-प्राय-पुरीषाः सप्रवाहिकाः ।
न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डु-स्निग्धत्वगादयः ॥२३॥ वा० नि० अ० ७

अर्थ—कफ प्रधान अर्श (मस्से) मोटी जड़ वाले, घने (संघने) थोड़ी पीड़ायुक्त, श्वेत, ऊंचे, मोटे, चिकने, कठोर, गोल, भारी, अचल, चिपचिपे, गिलगिले, श्लक्ष्ण, कण्डू युक्त, स्पर्श से आनन्द देने वाले, करीर (कैर के फल) तथा कटहर की गुठली के आकार वाले, गौ के स्तन के से होते हैं। वे कुल्हों में बांधने की-सी एवं गुद, बस्ति तथा नाभि में खिचने की-सी वेदना करते हैं। उनसे श्वास, कास, जी मिचलाना, मुख से पानी जाना, अरुचि, एवं पीनस हो सकते हैं। वे प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, शिर में जड़ता तथा शीत ज्वर को कर देते हैं। और नपुंस-

कता, अग्निमान्द्य, कै एवं आम प्रधान रोगों (पेचिस, ऊरुस्तम्भ, आमवात आदि) को कर देते हैं। इनके रोगी को चर्बी जैसा, अधिक कफ युक्त एवं प्रवाहिका युक्त पुरीष आता है। इन मस्सों में से न तो किसी प्रकार का स्राव ही निकलता है और न ये फटते ही हैं। इनके कारण त्वचा, नाखून आदि श्वेत और चिकने हो जाते हैं।

सान्निपातिकानां सहजार्शसां च लक्षणम्।

सर्वैः सर्वात्मकान्याहुर्लक्षणैः सहजानि च। वा० नि० अ० ७

अर्थ—उक्त तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त त्रिदोषज और सहज अर्श होते हैं।

रक्तार्शसां लक्षणानि।

रक्तोल्बणा गुदे कीलाः पित्ताऽऽकृतिसमन्विताः ॥२४॥
वटप्ररोहसदृशा गुञ्जा-विद्रुम-सन्निभाः।
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढ-विट्क-प्रपीडिताः ॥ २५ ॥
स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः।
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षय-संभवैः ॥ २६ ॥
हीन-वर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः।
विट् श्यावं कठिनं रूक्षमधोवायुर्न वर्तते ॥ २७ ॥वा०नि०अ०७

अर्थ—रक्त प्रधान गुद कील अर्थात् अर्श—पित्तार्श के ही समान होते हैं किन्तु भेद यह है कि वे बरोह (वट के अंकुर) जैसे, घुँघची (गुञ्जा) तथा मूंगे के समान होते हैं। कठिन पुरीष का दबाव पड़ने से उनमें से एकाएक दूषित एवं गर्म रक्त निकलता है और इस प्रकार रक्त अधिक निकलने के कारण रोगी मेढ़क (डड्डू) के समान पीला हो जाता है और रक्त के क्षय से होनेवाले रोगों (त्वचा में रूक्षता, अम्ल-शीतप्रार्थना, सिराओं की शिथिलता) से पीड़ित हो जाता है। बल, वर्ण (कान्ति) एवं उत्साह से रहित, ओज रहित एवं इन्द्रियों की शक्ति से हीन हो जाता है। इस रोगी को काला, कड़ा एवं रुक्ष मल आता है और अधोवायु नहीं खुलता।

रक्तार्शसि वातानुबन्धलक्षणम् ।

तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम् ।
कट्यूरु-गुद-शूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ॥ २८ ॥
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च लक्षणम् ।

अर्थ—यदि रक्तार्श का रक्त पतला, गहरा लाल तथा झाग युक्त हो, रोगी की कमर, ऊरु तथा गुद में शूल हो, दुर्बलता अधिक हो और इस रोग का कारण रूक्ष पदार्थों का सेवन हो तो इस रक्तार्श में वायु का सम्बन्ध समझना चाहिये ।

श्लेष्मानुबन्धरक्तार्शोलक्षणम् ।

शिथिलं श्वेत-पीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम् ॥ २९ ॥
यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत्पाण्डु पिच्छिलम् ।
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम् ।
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥३०॥ च०चि०अ०९

अर्थ—यदि किसी रक्तार्श के रोगी को ढीला, श्वेत, पीला, चिकना, गुरु (पानी में डूबने वाला) एवं शीत पुरीष आता हो, अर्श का रक्त गाढ़ा, तारदार, कुछ श्वेत एवं लसीला हो, गुद में चिपचिपाहट और गिलगिलापन हो, उनकी उत्पत्ति का कारण भारी और चिकने पदार्थों का सेवन हो तो बुद्धिमान् उस अर्श में कफ का सम्बन्ध जाने ।

वक्तव्य—इसमें पित्त तो होता ही है ।

अथार्शसां पूर्वरूपाणि ।

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च ।
कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥ ३१ ॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च ।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥ ३२ ॥ च० चि० अ० १४

अर्थ—अन्न का आमाशय में (आमाशय आदि की गति में रुकावट के कारण) ही रह जाना, दुर्बलता, उदर में आटोप अर्थात् गुड़

गुड़ शब्द पूर्वक हलचल, कृशता, उद्गारों की अधिकता, टांगों में शिथिलता, पुरीष कम आना एवं ग्रहणी दोष पाण्डुरोग, उदररोग की शंका होना (इन रोगों का पूर्वरूप भी प्रायः ऐसा ही होता है) ये सब अर्श के पूर्वरूप हैं ।

अथार्शसामुत्पत्तौ सर्वदोषप्रकोपः ।

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम् ।
सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥ ३३ ॥
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च ।
सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥ ३४ ॥ च० चि० अ० १४

अर्थ—गुद की तीनों वलियों में अर्श की उत्पत्ति होने में पांचों प्रकार का वायु (प्राण, उदान, समान, अपान एवं व्यान), पांचों प्रकार का पित्त (पाचक, भ्राजक, रञ्जक, आलोचक एवं साधक) और पांच ही प्रकार का कफ (क्लेदन, स्नेहन, रसन, अवलम्बन एवं श्लेषण) ये भी कुपित हो जाते हैं । यही कारण है कि अर्श बड़े ही दुःखदायी, बहुत से रोगों को करने वाले, सम्पूर्ण शरीर को रुग्ण करने वाले एवं प्रायः कष्टसाध्य होते हैं ।

वक्तव्य—सर्वशरीरव्यापी दोषों के कोप से सम्पूर्ण शरीर का रुग्ण होना अनिवार्य ही है । यही कारण है कि एकदेशी रोग का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर में होता है । लक्षणों पर ध्यान दीजिये ।

सुखसाध्यार्शसां लक्षणानि ।

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च ।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥३५॥ च० चि० अ० १४

अर्थ—यदि अर्श बाहर की वलि (संवरणी) में हों, केवल एक दोष प्रबल हो तथा चिरोत्पन्न अर्थात् एक वर्ष के पुराने न हों तो सुखसाध्य होते हैं ।

कृच्छ्रसाध्यार्शसां लक्षणानि ।

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ।

कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥३६॥ च०चि०अ०१४

अर्थ—यदि अर्श द्विदोषज हों, दूसरी वलि (विसर्जनी) में हों और एक वर्ष के पुराने हों तो कष्टसाध्य होते हैं।

अथासाध्यार्शोलक्षणानि।

सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम्।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥३७॥

च० चि० अ० १४

अर्थ—यदि अर्श सहज हों अथवा तीसरी वलि (प्रवाहिणी) में आश्रित होकर उत्पन्न हुये हों तो असाध्य समझना चाहिये।

असाध्येष्वपि याप्यप्रत्याख्येयभेदः।

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥३८॥ च० चि० अ० १४

अर्थ—उक्त असाध्य अर्श भी आयु के अवशेष रहने अर्थात् बाकी होने पर, चिकित्सा के चारों पाद (पैर) (अर्थात् वैद्य, रोगी, परिचारक एवं औषध) उचित गुण सम्पन्न रहने पर और अग्नि दीप्त रहने पर याप्य (जब तक चिकित्सा एवं पथ्यादि होता रहता है तब तक आराम रहता है) हो सकते हैं अन्यथा (उपर्युक्त गुणों का अभाव रहने पर) प्रत्याख्येय अर्थात् चिकित्सा के अयोग्य अतएव आगे चलकर असाध्य हो जाते हैं।

वक्तव्य—जितने चलते फिरते अर्श के रोगी हैं, सब याप्य हैं।

अथैषामुपद्रवादसाध्यत्वम्।

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा।
शोथो हृत्-पार्श्व-शूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥३९॥

च० चि० अ० १४

अर्थ—जिसके हाथ, पाँव, मुख, नाभि, गुद एवं अण्डकोषों पर सूजन हो गई हो, हृदय तथा पसलियों में शूल हो उसे असाध्य जानना चाहिये।

हृत्-पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग् ज्वरः ।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥४०॥ च० चि० अ० १४

अर्थ—हृदय और पसलियों का शूल, बदहोशी, कै, शरीर में वेदना, ज्वर, प्यास एवं गुद का पकना अर्शोरोगी को मार देते हैं ।

तृष्णा-ऽरोचक-शूलाऽऽर्तमतिप्रस्रुतशोणितम् ।
शोथा-ऽतिसार-संयुक्तमर्शांसि क्षपयन्ति हि ॥४१॥

अर्थ—जो रोगी प्यास, अरुचि एवं शूल से पीड़ित हो, जिसका रक्त अत्यन्त निकल गया हो एवं शोथ तथा अतिसार से दुःखी हो उसे अर्श मार डालते हैं ।

मेढ्रजादीनां लक्षणम् ।

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं; नाभिजानि च ।
गण्डूपदाऽऽस्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥४२॥ वा०नि० अ० ७

अर्थ—लिंग आदि में जो अर्श होते हैं उनको उन उन अंगों के रोगों का वर्णन करते समय कहेंगे । और नाभि में जो अर्श होते हैं वे केंचुए (गण्डगण्डोला) के मुख जैसे, पिचपिचे एवं कोमल होते हैं ।

वक्तव्य—क्योंकि नाभिरोगों का कोई प्रकरण लिखा नहीं जायगा, अतः उन्हें यहीं पर लिख दिया गया ।

चर्मकीलस्य सम्प्राप्तिः ।

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः ।
कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तद्विदुः ॥४३॥ वा० नि० अ० ७

अर्थ—सर्वशरीरव्यापी व्यान वायु कफ को दूषित कर त्वचा पर कील के समान कठोर एवं खरदरे अर्श अर्थात् मस्सों को कर देता है, उन्हें "चर्मकील" कहा जाता है । इन्हें "मोहके" भी कहा जाता है ।

वातादिभेदेन तल्लक्षणम् ।

वातेन तोदपारुष्यं पित्तादसितवक्त्रता ।
श्लेष्मणा स्निग्धता चास्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥४४॥ वा० नि० अ० ७

अर्थ—वायु की अधिकता से चर्मकीलों में व्यथा एवं खरदरापन, पित्त से कालापन एवं कफसे चिकनाई, कठोरता एवं शरीरके ही समान वर्ण होता है।

वक्तव्य—चर्मकील ओषधियों के बिना भी केवल इष्ट देवता की मनौती मान देने से ही अच्छे हो जाते हैं।

वक्तव्य—ग्रहणी, पाण्डुरोग, प्रसव एवं अप्राकृत मैथुन से भी अर्श रोग हो जाता है और स्त्रियों को तो ८० प्रतिशत प्रसवकाल ही में अर्श की उत्पत्ति होती है।

इति अर्शोनिदानम्।

अग्निमान्द्य-अजीर्ण-विसूचिका-अलसक-विलम्बिकानिदानम्

वक्तव्य—"अग्निमान्द्य" को "अग्निविकृति" कहा जाय तो और भी अच्छा हो क्योंकि इससे तीनों ही प्रकार की अग्निविकृति का बोध हो सकता है। अस्तु आमाशय और पित्ताशय आदि के पाचक रसों को ही सन्तोषजनक एवं पाचक होने के कारण "अग्नि" कहा जाता है। अर्थात् वह बाह्याग्नि के अंगारों के समान ज्वलनशील नहीं है। बाह्याग्नि स्थालीस्थ तन्दुलादि में सन्तापरूप से प्रविष्ट होती है और अन्तराग्नि आहार में स्वयं मिश्रित होती है। इस भेद के अतिरिक्त अन्यान्य भेदों को ग्रन्थाकार से जानिये। हां अन्तराग्नि पर वातादि के अतिरिक्त मानसिक वृत्तियों का भी प्रभाव पड़ता है।

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः।
कफ-पित्तानिलाऽऽधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥ १॥

सु० सू० अ० ३५

अर्थ—कफ, पित्त एवं वायु की अधिकता तथा तीनों की समानता से क्रमशः १-मन्द, २-तीक्ष्ण, ३-विषम तथा ४-सम चार प्रकार की अग्नि होती है।

समाग्न्यादीनां लक्षणानि।

विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।

करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान् ।।२।। सु० सू० अ० ३५

अर्थ—विषम अग्नि वायु के रोगों को, तीक्ष्ण अग्नि पित्त के रोगों को तथा मन्द अग्नि कफ के रोगों को करती है।

समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते ।

स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः ।। ३ ।।

कदाचित्पच्यते सम्यक्कदाचिन्न विपच्यते ।

तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात्; समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते ।। ४ ।।

अर्थ—सम अग्नि वाले मनुष्य की खाई हुई यथोचित मात्रा (खुराक) भली भाँति पच जाती है। मन्द अग्नि वाले की थोड़ी मात्रा भी नहीं पचती, विषम अग्नि वाले की यथोचित मात्रा कभी तो अच्छी तरह पच जाती है और कभी नहीं पचती। एवं अधिक से अधिक भी मात्रा जिसकी सुखपूर्वक पच जाय, उसे तीक्ष्ण अग्नि वाला समझना चाहिये। इन सब में सम अग्नि ही श्रेष्ठ होती है।

वक्तव्य—तीक्ष्णाग्नि ही से "भस्मक" नामक रोग हो जाता है जो कि बड़ा भीषण होता है। विदग्धाजीर्ण भी इसी से होता है।

अजीर्णनिदानम्

आमं विदग्धं विष्टब्धं कफ-पित्ता-ऽनिलैस्त्रिभिः ।

अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ।। ५ ।।

अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च ।

वदन्ति षष्ठं चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम् ।। ६ ।। सु० सू० अ० ४०

अर्थ—कफ, पित्त एवं वायु से आम, विदग्ध एवं विष्टब्ध नामक अजीर्ण होते हैं। कुछ आचार्य रसका उचित पाक न होने से चौथा अजीर्ण[1] मानते हैं। कुछ आचार्य दिन भर (दिन रात) में पचने वाले निर्दोष (अन्यान्य अजीर्णों के समान दुःखदायी लक्षणों से रहित)

१—आहार भली प्रकार पच जाने पर भी उस के रस का उचित पाक न होने के कारण रसशेषाजीर्ण होता है।

अजीर्ण को पाँचवाँ अजीर्ण[1] मानते हैं। कुछ आचार्य प्रतिदिन (भोजन से २-४ घण्टे बाद तक होने वाले) स्वाभाविक अजीर्ण को भी छठाँ[2] अजीर्ण मानते हैं।

वक्तव्य—साधारणतया यह माना जाता है (जो ठीक भी है) कि अग्निविकृति से अजीर्ण होता है। तथापि यह स्मरण रखना चाहिये कि अग्नि ठीक रहने पर भी मात्राधिक एवं दुर्जर भोजनों का उचित पाक नहीं होता। अतः तात्पर्य यह है कि पाचन रसों का विकृत होना "अग्निविकृति" एवं आहार का न पचना "अजीर्ण" होता है। अग्नि को ठीक करने के लिये "दीपक" एवं अजीर्ण में पाचन द्रव्य दिये जाते हैं।

अथाजीर्णनिदानानि।

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च संधारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥७॥
ईर्ष्या–भय–क्रोध–परिप्लुतेन लुब्धेन रुग्–दैन्य–निपीडितेन।
प्रद्वेष–युक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥ ८ ॥
सु० सू० अ० ४६

मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ता–शोक–भय–क्रोध–दुःख–शय्या–प्रजागरैः ॥ ९ ॥

अर्थ—अत्यन्त जल पीने से, विषम मात्रा में भोजन करने से, मल मूत्रादि के वेगों को रोकने से तथा अभ्यस्त या उचित समय पर न सोने से समय पर भी, प्रकृति के अनुकूल एवं हल्का भी खाया हुआ आहार भली भाँति नहीं पचता। ईर्ष्या (डाह) भय एवं क्रोध से भरे हुए, लोभयुक्त, रोग एवं दीनता से पीड़ित तथा द्वेषयुक्त प्राणी के द्वारा सेवन किया हुआ आहार भली प्रकार पाक को प्राप्त नहीं होता। चिन्ता (फिकर)

१—उचित काल से अधिक काल में आहार का पचना। विसूची आदि भीषण रोगों के न होने के कारण इसे निर्दोष कहा गया है।

२—भोजन के अनन्तर कुछ देर तक सब को प्रति दिन अजीर्ण होता ही है। सुस्ती आदि इसी के लक्षण होते हैं।

शोक, भय, क्रोध, दुःखदायी शय्या पर लेटने एवं अधिक जागने से मात्रा पूर्वक एवं पथ्य भी खाया हुआ आहार नहीं पचता।

अथाऽऽमाजीर्णलक्षणानि।

तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः।
उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते ॥ १० ॥

अर्थ—उक्त आमाजीर्ण में शरीर में भारीपन का अनुभव, जी मिचलाना या मुख में से पानी जाना, कपोल (गाल) तथा आंखों के आस पास सूजन, आहार के रस एवं गन्ध से युक्त तथा अम्लता (खटाई) रहित डकार आता है।

विदग्धाजीर्णलक्षणानि।

विदग्धे भ्रम–तृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः।
उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते ॥ ११ ॥

अर्थ—विदग्धाजीर्ण में चक्कर, प्यास, मूर्छा (कभी कभी), पित्त से होने वाली भाँति भाँति की पीड़ायें, धूएँ एवं खट्टेपन के सहित डकार (अवश्य ही) पसीना एवं दाह (छाती में) होता है।

विष्टब्धाजीर्णलक्षणम्।

विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः।
मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहाङ्गपीडनम् ॥ १२ ॥

अर्थ—विष्टब्धाऽजीर्ण में शूल (उदर में) अफरा, वायु की अनेक प्रकार की पीड़ायें, मल एवं अधोवायु और उद्गार की रुकावट, शरीर भर में जकड़न (यह दोनों लक्षण अँतड़ियों एवं हृदय की गति के विष्टब्ध होने अर्थात् उसमें रुकावट होने से होते हैं) बदहोशी एवं शरीर में पीड़ा होती है।

रसशेषाजीर्णलक्षणम्।

रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धि–गौरवे।

अर्थ—रसशेषाजीर्ण में भोजन में अरुचि, हृदय में अशुद्धि[1] एवं भारीपन का अनुभव होता है।

१—रस का पाक होकर रक्त रूप में परिणत न होने के कारण ऐसा होता है।

अथाजीर्णोपद्रवाः ।

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः ।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥ १३ ॥ सु०सू०अ०४०

अर्थ—अजीर्ण से ये उपद्रव हो सकते हैं यथा—मूर्च्छा, प्रलाप, कै, मुख से पानी जाना, शरीर में शिथिलता, अथवा मृत्यु भी ।

अथाजीर्णोत्पत्तौ कारणम् ।

अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः ।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ १४ ॥

अर्थ – अपने मन को वश में न रख सकनेवाले जो मनुष्य पशु[1] के समान बहुत अधिक खा जाते हैं, वे अनेक व्याधियों के मूल कारण अजीर्ण को प्राप्त होते हैं अर्थात् ऐसे ही पेटुओं को अजीर्ण होकर अनेक रोग सताते हैं ।

अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम् ।
विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥१५॥ सु० उ० अ० ५६

अर्थ—आम, विदग्ध एवं विष्टब्ध नामक जो तीन प्रकार का अजीर्ण कहा गया है, उस से विसूची (हैजा) अलसक एवं विलम्बिका नामक रोग हो जाते हैं ।

वक्तव्य—क्रमशः नहीं, प्रत्येक से प्रत्येक हो सकते हैं ।

विसूचीलक्षणम् ।

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिलः ।
यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते ॥ १६ ॥

अर्थ—जिस रोग में अजीर्ण के कारण वायु शरीर में सुइयों के चुभने की सी व्यथा करता है, उसे वैद्य लोग "विसूची" कहते हैं ।

न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः ।
मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः ॥ १७ ॥ सु० उ० अ० ५६

१—यद्यपि पशु प्रायः ऐसा नहीं करते ।

अर्थ—आयुर्वेद को जाननेवाले अत एव उपयुक्त मात्रा में भोजन करने वाले विसूची को नहीं प्राप्त करते अर्थात् उन्हें उक्त रोग नहीं होता। अपितु मूर्ख, इन्द्रियों को वश में न रख सकने वाले एवं भोजन के लोभी (पेटू या भुक्खड़) उसे प्राप्त करते हैं अर्थात् ऐसे ही लोगों को विसूची होती है।

वक्तव्य—यद्यपि उक्त कथन से विसूची का कारण अजीर्ण एवं अधिक भोजन ही माना है, जो ठीक ही है, किन्तु कभी २ यह रोग जनपदोध्वंस (मारक या महामारी) के रूप में फैलता है। अत एव इसे संक्रामक भी माना जाता है। और वसन्त ऋतु में प्रायः इसका अधिक प्रकोप होता है।

विसूच्याः सामान्यलक्षणम्।

मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा शूलभ्रमोद्वेष्टन-जृम्भ-दाहाः।
वैवर्ण्य-कम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः॥१८॥ सु० उ० अ० ५६

अर्थ—विसूची के लक्षण यह हैं—बेहोशी, ऐंठन, अतिसार, कै, प्यास, शूल, चक्कर, (बांहों एवं टाँगों की मांसपेशियों में संकोच) जम्भाई, दाह, कान्ति की हानि, कम्पन, हृदय में पीड़ा एवं शिर में दर्द।

वक्तव्य—१-२ लक्षण सर्वत्र नहीं पाए जाते। ३-४ लक्षण अवश्य होते हैं।

अलसक-रोगलक्षणम्।

कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत् परिकूजति।
निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति॥ १९॥
वात-वर्चो-निरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ[1] च यस्य तु॥२०॥ सु०उ०अ०५६

अर्थ—जिस रोगी की कुक्षि से आनाह (आमाशय से मलाशय पर्यन्त अवयव की गति में रुकावट) हो जाय, आँखों के सामने अंधेरा आवे, रोगी कँहरे, अपान वायु रुक कर आमाशय की ओर दौड़े, अधो-

१—सुश्रुत का "तृष्णोद्गारावरोधकौ" पाठ अधिक उचित ज्ञात होता है।

वायु एवं पुरीष सर्वथा रुक जावे और प्यास अधिक लगे एवं डकारें आवें, उस रोगी को "अलसक" नामक रोग का रोगी जानना चाहिये ।

विलम्बिकालक्षणम् ।

दुष्टं तु भुक्तं कफ-मारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य ।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥२१॥

सु० उ० अ० ५६

अर्थ—खाया हुआ आहार कफ एवं वायु से दूषित होकर न ऊपर (मुखमार्ग) से ही निकलता है और न नीचे (गुदमार्ग) से ही। इस रोग को आयुर्वेद जानने वाले प्राचीन ऋषि "विलम्बिका" कहते हैं। यह रोग कष्टसाध्य होता है।

वक्तव्य—अलसक (अलस आलसी) एवं विलम्बिका (लटक जाने वाला) सा नामकरण भी अन्यान्य रोगों के समान ही अपने अपने स्वरूप को प्रकट करने वाला है। उक्त दोनों रोगों में क्रमशः पाचक अवयव अलस या आलसी एवं विलम्बी या गति रहित हो जाते हैं। इसी बात को "कुक्षिरानह्यते" (आमाशय आदि अवयव का आनाह अर्थात् बन्धन) तथा "प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च" के द्वारा बताया गया है। अलसक में वायु का इधर उधर दौड़ना आदि लक्षण होते हैं किन्तु "विलम्बिका" में वे भी नहीं होते। अतएव इसे "गुम हैजा" या (गुप्तविसूची) कहते हैं।

आमस्य कार्यान्तरम् ।

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः ।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च॥२२॥सु०उ०अ०५६

अर्थ—शरीर के जिस भाग में आम (कच्चा रस) रस ठहर जाता या रुक जाता है, बस उसी भाग को रोग समूहों या अनेक विकारों से पीड़ित करता है। इन रोगों में आम से उत्पन्न होने वाले लक्षणों के साथ २ उस दोष के लक्षण भी होते हैं जिस दोष से शरीर अधिक व्याप्त होता है अर्थात् जो भी दोष प्रबल होता है उसी के लक्षण प्रबल हो जाते हैं।

वक्तव्य—आहार का पाक होने के अनन्तर रस धातु भली भाँति रक्त रूप में परिणत न होकर रक्त के साथ ही शरीर में परिभ्रमण करने लग जाता है। वह अन्य स्थानों की अपेक्षा प्रायः कफ के स्थानों (आमाशय, शिरः, कण्ठ, हृदय एवं सन्धियों) में (शीत पिच्छिलादि गुणसाम्य के कारण) रुक कर उक्त स्थानो में रोग उत्पन्न कर देता है। इन रोगों में विशेषता यह होती है कि उस समय शरीर में जो दोष बलवान् होता है उसी के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं बस यही "रसशेषाजीर्ण" की कथा है। एक श्लोक यादकर लीजिये—आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्। स मूलं सर्वरोगाणां "आम" इत्यभिधीयते। वायु से शूलादि, पित्त से दाहादि एवं कफ से शोथादि लक्षण होते हैं।

विसूच्यलसकयोरसाध्यलक्षणानि।

यः श्यावदन्तौष्ठ-नखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय ॥२३॥

सु० उ० अ० ५६

अर्थ—जिसके दाँत, ओठ एवं नाखून काले हो गये हों, संज्ञा (होश) घट गई हो, कै न रुकती हो, आंखे धँस गई हों, आवाज बैठ गई हो सन्धिबन्धन ढीले पड़ गये हों अर्थात् उठने बैठने की शक्ति घट गई हों, वह रोगी सदा के लिये चला जाता है अर्थात् मर जाता है।

विसूच्यामुपद्रवाः।

निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता।
अमी उपद्रवा घोरा विसूच्यां पञ्च दारुणाः ॥२४॥

अर्थ—नींद न आना, बेचैनी, कम्प, मूत्र का निरोध एवं बेहोशी यह पांच भयंकर उपद्रव विसूची में हो सकते हैं।

वक्तव्य—कै एवं दस्तों के द्वारा अधिक परिमाण में शरीर की आप्य (जलरूप) धातु निकल जाने के कारण रक्त गाढ़ा होकर धमनियों में जमने लगता है और इसी लिये "वृक्क" क्रिया रहित अथवा हीनक्रिय होकर मूत्र का उचित रूप से निर्माण नहीं कर पाते। यही कारण है कि मूत्राघात हो जाता है। अतः इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

हां इसी समय रक्त को पतला करने के लिये आधुनिक शल्यचिकित्सक "इन्जेक्शन" द्वारा रोगी के शरीर में उष्ण जल का प्रवेश कराते हैं।

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्।
तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति ॥२५॥

अर्थ—प्रायः आहार की विषमता से लोगों को अजीर्ण होता है और यह अजीर्ण सभी रोगों का मूल है। अतः अजीर्ण का विनाश करने से सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

सामान्याजीर्णस्य लक्षणम्।

ग्लानि-गौरव-विष्टम्भ-भ्रम-मारुत-मूढताः।
विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम् ॥२६॥

अर्थ—सुस्ती, शरीर में भारीपन, विष्टम्भ, चक्कर, अधोवायु तथा ऊर्ध्ववायु का निरोध, मल का रुकना या अधिक निकलना यह सब "अजीर्ण" के सामान्य लक्षण हैं।

जीर्णाहारस्य लक्षणम्।

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः।
लघुता क्षुत् पिपासा च जीर्णाऽऽहारस्य लक्षणम् ॥२७॥

अर्थ—उद्गार का अच्छी तरह आना, उत्साह, उचित रूप से मल-मूत्रादि का उतरना, शरीर में हल्कापन, भूख एवं प्यास का लगना यह सब "जीर्णाहार" अर्थात् आहार के भली प्रकार पचने के लक्षण हैं।

इति अग्निमान्द्यादिरोगनिदानम्।

क्रिमिनिदानम्।

वक्तव्य—आज कल पाश्चात्य जगत् में क्रिमियों की जितनी चर्चा है, उससे भी अधिक पूर्वकाल में हो चुकी है जो कि अथर्ववेद आदि के अभ्यास से ज्ञात हो सकती है। अस्तु, इन बीस प्रकार के क्रिमियों का वर्णन भी बहुत व्यापक और सम्भवतः पर्याप्त है।

क्रिमिभेदाः।

क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदतः।

बहिर्मल-कफा-ऽसृग्-जन्मभेदाच्चतुर्विधाः ॥ १ ॥

नामतो विंशतिविधा,— वा० नि० अ० १४

अर्थ—सम्पूर्ण क्रिमि दो प्रकार के होते हैं—१—बाह्य अर्थात् त्वचा के बाहर होने वाले। २—आभ्यन्तर अर्थात् त्वचा के भीतर एवं आमाशयादि में होने वाले। उक्त दो प्रकार के क्रिमि उत्पत्ति भेद से चार प्रकार के होते हैं—१—बाहर की मैल में, २—कफ में, ३—रक्त में तथा ४—पुरीष में होने वाले। ये ही नामों के भेद से बीस प्रकार के होते हैं।

बाह्याः क्रिमयः।

—बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः।

तिलप्रमाण-संस्थान-वर्णाः केशाम्बराश्रयाः ॥ २ ॥

बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः।

द्विधा ते कोठ-पिडका-कण्डू-गण्डान् प्रकुर्वते ॥३॥ वा० नि० अ० १४

अर्थ—उक्त क्रिमियों में बाहरी क्रिमि जो कि शरीर तथा कपड़े आदि की मैल से उत्पन्न होते हैं, दो प्रकार के होते हैं। उनका प्रमाण (व्यास), संस्थान (आकार या स्वरूप) एवं वर्ण (रंग) तिलों के[1] समान होता है और आश्रय या रहने का स्थान होता है केश, लोम तथा कपड़े। ये बहुत (६) पैरों वाले एवं छोटे २ होते हैं। १—जूका (जूआं) एवं २—लिक्षा (लीख या चमजूं) इन के दो नाम हैं। ये धप्पड़, फुन्सियां, खुजली एवं गंड या बिना मुह के फोड़ोंको कर देते हैं।

वक्तव्य—"केश" शब्द से रोमादि का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। यथा—केश, श्मश्रू लोम, पक्ष्म (च० वि० अ० ७) में होने वाली चमजूएँ अत्यन्त बारीक होती हैं। इन के पैर इतने तीक्ष्ण होते हैं कि बाह्य त्वचा में धंस सकते हैं और वे त्वचा में भली प्रकार चिपट सकते हैं। ये विटप देश के बालों, कांख एवं भ्रू या भौं के बालों में

१—तिल काले, श्वेत एवं अरुण होते हैं। इसी प्रकार केशों में काली, कपड़ों में श्वेत जूएँ होती हैं और लिक्षा (चमजू) अरुण या गहरी लाल होती है।

प्रायः अधिक होती हैं। सफाई के अतिरिक्त प्रायः देखा गया है कि इष्टदेवता की "मनौती" मान लेने से भी नष्ट हो जाती है।

अजीर्णभोजीमधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता।
व्यायामवर्जो च दिवाशयानो विरुद्धभुङ्ना लभते क्रिमींस्तु ॥४॥

अर्थ—अनपच में भी भोजन करनेवाला, नित्य मीठे एवं खट्टे पदार्थों का सेवक, द्रव पदार्थों का प्रेमी, पीठी की वस्तुओं एवं गुड़ को अधिक खानेवाला, व्यायाम का द्वेषी, दिन में सोने का अभ्यासी एवं रस, गुणविरुद्ध द्रव्यों को खाने वाला मनुष्य क्रिमियों को प्राप्त करता है। अर्थात् ऐसा मनुष्य सब प्रकार के क्रिमियों का रोगी हो जाता है।

निदानभेदात् क्रिमिभेदाः।

माषपिष्टाऽम्ल-लवण-गुण-शाकैः पुरीषजाः।
मांस-मत्स्य गुड-क्षीर-दधि-शुक्तैः कफोद्भवाः ॥ ५ ॥
विरुद्धा-ऽजीर्ण-शाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि। सु० उ० अ० ५४

अर्थ—उर्द, पीठी, खटाई, नमक, गुण एवं शाकों के सेवन से पुरीष में, मांस (सुकरे आदि का), मछली, गुड़, दूध, दही एवं सिरका या कांजी आदि के सेवन से कफ में तथा विरोधी पदार्थों, अनपच एवं शाक (पत्र शाक) आदि के सेवन से रक्त में क्रिमि हो जाते हैं।

अथाभ्यन्तरक्रिमिलक्षणम्।

ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः ॥ ६ ॥
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातक्रिमिलक्षणम्। सु० उ० अ० ५४

अर्थ—भीतरी क्रिमियों के उत्पन्न होने का लक्षण यह है। यथा—ज्वर, कान्ति का ह्रास, शूल, हृद्रोग, अंगों में तथा मन में शिथिलता, चक्कर, भोजन में अनिच्छा एवं अतिसार।

वक्तव्य—ध्यान दीजिये, क्रिमियों का किन किन अंगों पर आक्रमण होने से उक्त लक्षण हो सकते हैं।

कफजक्रिमिलक्षणम्।

कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः ॥ ७ ॥

पृथु-ब्रध्ननिभाः केचित्केचिद्गण्डूपदोपमाः ।
रूढधान्याङ्कुराकारास्तनु-दीर्घास्तथाऽणवः ॥ ८ ॥
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते ।
अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः ॥ ९ ॥
चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्वते ।
हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम् ॥ १० ॥
मूर्च्छा-च्छर्दि-ज्वरा-ऽऽनाह-कार्श्य-क्षवथु-पीनसान् । सु० उ० अ० ५४

अर्थ—कफ से उत्पन्न होने वाले क्रिमि आमाशय में उत्पन्न होते हैं, जब वे बढ़ते हैं तो सब ओर जाने लगते हैं। उनमें कोई २ वद्धी (वधरी) के समान चौड़े, कोई २ केंचुए के समान गोल (लम्बे गोल) कोई उगते हुए धान्य (चना आदि) के अंकुर के आकार वाले, छोटे या पतले, लम्बे, सूक्ष्म (बहुत छोटे) श्वेत अथवा कुछ लाल होते हैं। उनके सात नाम इस प्रकार हैं यथा—१—अन्त्राद; २—उदरावेष्ट; ३—हृदयाद, ४—महागुद, ५—चुरु, ६—दर्भकुसुम, ७—सुगन्ध। और ये निम्नलिखित रोगों को कर देते हैं यथा—हृल्लास (जीमिचलाना), मुख में लार जाना, अनपच, अरुचि, मूर्च्छा, कै, ज्वर, आनाह, कृशता, छींक एवं पीनस (जुकाम, प्रतिश्याय)।

वक्तव्य—आमाशय में उत्पन्न होकर क्रिमियों के सब ओर जाने के उल्लेख एवं नामकरण में अवश्य कोई रहस्य है ध्यानपूर्वक विचारिये। अन्त्राद—अन्त्रों को खाने वाले या उनमें क्षत करने वाले यथा-"क्रिमि-कोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक् कफान्वितम्" पाण्डुरोग। अथवा आन्त्रिक ज्वर के उत्पादक। उदरावेष्ट—उदर को लपेटने या उसमें लिपटने वाले-यही गण्डूपद या केंचुए या जून्हें हैं जो कि हाथ २ भर लम्बे होते हैं। हृदयाद—हृदय की दीवारों को खाने वाले यथा—(उत्क्लेदः ष्ठीवनमित्यादि हृद्रोग)। महागुदाः—चिन्त्यम्। चुरु—सम्भव है कि चूं चूं शब्द करते हों जो साधारणतया सुनाई नहीं पड़ता। दर्भकुसुम—कुशपुष्प के सदृश सम्भवतः राजयक्ष्मा के रोगी के कफमें पाए जाने वाले अणु वीक्षण

यंत्र द्वारा वीक्ष्य "अणवः" "श्वेतः" क्रिमि यही हैं[1]। सुगन्धा—शिर के स्नेहन कफ में होने वाले क्षवथु एवं पीनस को करने वाले तथा क्रिमिज शिरोरोग के हेतु यहीं हैं। लक्षणों पर ध्यान देने से इस वक्तव्य को समझने में काफी सरलता होगी।

रक्तजात-क्रिमिलक्षणम्।

रक्तवाहि-सिरा-स्थान-रक्तजा जन्तवोऽणवः ॥ ११ ॥
अपदा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः।
केशादा रोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः।
षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरस-मातरः ॥ १२ ॥ वा०नि०अ०१०

अर्थ—रक्तवाही शिराओं (केशिकाओं में भी) में रक्तज क्रिमियों का स्थान या आश्रय होता है। ये क्रिमि बहुत ही बारीक होते हैं, पांव रहित, गोल (चक्राणु) एवं लाल होते हैं। इनमें कोई २ इतने सूक्ष्म होते हैं कि आंखों द्वारा देखे भी नहीं जा सकते। इनके नाम इस प्रकार हैं—१-केशाद, २-रोमविध्वंस, ३-रोगद्वीप, ४-उदुम्बर, ५-सौरस, ६-माता ("जन्तुमातरः" च० वि० अ० ७) इस प्रकार यह छः होते हैं। इनका "कुष्ठ" या सड़न को उत्पन्न करना ही एक काम है।

वक्तव्य—रक्तज रोगों (कुष्ठ, आतशक एवं उपदंश आदि) में पाए जाने वाले सब प्रकार के क्रिमि रक्तज क्रिमियों में आ सकते हैं। "सौक्ष्म्यात्केचित् अदर्शनाः" भी सम्भवतः उच्चकोटि के अणु वीक्षण यंत्र द्वारा दिखाई पड़ सकते हों। केशादाः, रोमविध्वंसा, रोमद्वीपाः, ये तीनों क्रमशः केशों और रोमों के जड़ से नष्ट करने वाले एवं रोमों की जड़ में रहने वाले हैं। अतएव कुष्ठरोगियों के केश एवं रोम नष्ट हो जाते हैं तथा त्वचा उफन आती है या उच्ची सी हो जाती है। गूलर के फल के समान बाहर निकल आने वाली पोटली में जो क्रिमि होते हैं, उन्हीं को सम्भवतः "उदुम्बर" कहा गया है। सौरस—वे हैं जो कि (त्वक्-सिरा-स्नायु-मांस-तरुणास्थिभक्षणम् च० वि० अ० ७) त्वचा

१—इस प्रकार कफ-स्थानों में पाए जाने वाले क्रिमि इन्हीं के अन्तर्गत हो सकते हैं।

आदि को भक्षण या आस्वादन कर लेते हैं, उन्हीं के कारण नाक, कान निःशेष हो जाते हैं। माता—(जन्तुमातरः च०) ये भी सम्भवतः वे ही हैं जो कि रोहनी मक्खी के बैठने से व्रणों में हो जाते हैं (व्रणगतानां च हर्षकण्डू इत्यादि च० वि० अ० ७) यह मक्खी नीली, हरी एवं चमकदार होती है, इसे पञ्जाब में "हाई" कहते हैं। यह व्रणक्रिमि प्रारम्भ में (लगभग ४ घण्टे तक) चूने के समान व्रण पर दिखाई देते हैं, तत्पश्चात् (लगभग ८ घण्टे में) पूर्ण रूप से क्रिमि बन जाते हैं।

शकृज्जातक्रिमिलक्षणम् ।

पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः ।
प्रवृद्धाः स्युर्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः ॥१३॥
तदाऽस्योद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः ।
पृथु-वृत्त-तनु-स्थूलाः श्याव-पीत-सिताऽसिताः ॥१४॥
ते पञ्च नाम्ना क्रिमयः ककेरुक-मकेरुकाः ।
सौसुरादाः सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि ॥१५॥
विड्भेद-शूल-विष्टम्भ-कार्श्य-पारुष्य-पाण्डुताः ।
रोमहर्षाग्निसदनगुदकण्डूर्विमार्गगाः ॥१६॥ वा० नि० अ० १४

अर्थ—पुरीषज क्रिमि मलाशय में उत्पन्न होते हैं और गुदमार्ग के द्वारा बाहर निकलते हैं। ये जब बढ़ते हैं और आमाशय की ओर जाते हैं तो रोगी को डकार तथा सांस में पुरीष की सी गन्ध आती है। ये क्रिमि चिपटे, गोल, पतले मोटे, कुछ काले, पीले, श्वेत एवं काले होते हैं। वे क्रिमि १—ककेरुक, २—मकेरुक, ३—सौसुराद, ४—सशूल, ५—लेलिह नाम से पांच प्रकार के होते हैं। और वे अतिसार, शूल, विष्टम्भ, कृशता, त्वचा पर खरदरापन तथा पीलापन (पाण्डुरोग) रोमाञ्च, अग्निमान्द्य एवं गुदवलियों में आकर उनमें खुजली कर देते हैं (गुदौष्ठ लाल एवं शोथ युक्त हो जाता है, देखा गया है कि कभी २ छोटे २ सैकड़ों क्रिमि सोते समय बालक के चूतड़ों पर बाहर निकल कर घूमने लगते हैं)।

वक्तव्य—पहिले तीन क्रिमियों का अर्थ चिन्तनीय है और दो का-सशूल—शूलोत्पादक एवं "लेलिह—आहाररसको बार २ चाट जाने वाले" अर्थ होता है। उक्त लेलिह नामक क्रिमियों के कारण शरीर को आहार रस नहीं मिलता। फलतः कार्श्य, पारुष्य एवं पाण्डुता हो जाती है। इस विषय में विचार करने के लिये च० वि० अ० ७ एवं सु० उ० अ० ५४ को मनोयोग पूर्वक देखिये तो इनकी व्यापकता का पूर्णतया पता लग जायगा। एक बात और है कि भगवान् चरक ने वातादि को इन का हेतु नहीं माना है। सम्भवतः इस लिये कि "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः" यह एकतन्त्र सिद्धान्त है न कि सर्वतन्त्र सिद्धान्त। अलमतिविस्तरेण। हां, सुश्रुत में नखाद, दन्ताद आदि का वर्णन पढ़कर आप निःसन्देह हो जायँगे।

इति क्रिमिनिदानम्।

पाण्डुरोग-कामला-कुम्भकामला-हलीमक-निदानम्।

वक्तव्य—जब रक्त में उचित परिमाण से अधिक पित्त का मिश्रण हो जाता है और रक्त में रक्तकणों की कमी हो जाती है तो पाण्डुरोग, और भी अधिक पित्त के मिश्रण से कामला (कुम्भकामला इसी का भेद है) तथा इस से भी अधिक मिश्रण से हलीमक हो जाता है। क्योंकि पित्त पीत भी है और नील भी। अतः तीनों के वर्ण (रंग) क्रमशः पाण्डु (ईषत्पीत) हारिद्र (अधिक पीत) एवं हरित (पीत नील मिश्रित हरा) होते हैं। बात यह है कि पित्तमिश्रित रक्त धमनियों द्वारा शरीर भर में भ्रमण करता है। फलतः कफ, वात, मांस, त्वचा आदि के दूषित होने से विविध लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अवलम्बन कफ (जो कि हृदय का धारक है) और प्राणवायु (जो कि हृदय में रहता है) के दूषित होने के कारण सब से प्रधान पूर्वरूप या रूप "हृदय का स्पन्दन या धड़कना" होता है। पञ्जाब में इस रोग को "धड़का" भी कहा जाता है। रक्तगुणों (ओजोगुणों) की न्यूनता तथा त्वचा मांस के दूषित होने के कारण श्रम एवं त्वचा पर खरदरापन होने लगता है। वस्तुतः इस रोग में पित्त ही प्रधान दोष

है। अतएव त्वचा, मूत्र एवं नेत्र आदि के वर्ण पर उसी का प्रभाव पड़ता है और अन्यान्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतएव इसमें पित्त-शामक, रक्तकणोत्पादक तथा ओजोवर्द्धक औषधादि दिये जाते हैं। यथा—त्रिफलादि (पित्तशामक), लोहभस्म (रक्त—कणोत्पादक) एवं तक्र अर्थात् अर्द्धविलोडित दधि (ओजोवर्द्धक)। अन्यान्य अवयवों की अपेक्षा हृदय एवं यकृत् पर इस रोग का अधिक प्रभाव पड़ता है।

पाण्डुरोगनिदानम्।

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वात-पित्त-कफैस्त्रयः।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥१॥ च० चि० अ० १६

अर्थ—पाण्डु रोग पाँच प्रकार का होता है यथा—वात, पित्त एवं कफ से तीन, सन्निपात से चौथा तथा मिट्टी खाने से पाँचवाँ।

पाण्डुरोगस्य हतया सम्प्राप्तिश्च।

व्यायाममम्लं[1] लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम्।
निषेवमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति ॥ २ ॥
सु० उ० अ० ४४

अर्थ—कसरत, खटाई, नमक (सब प्रकार के), मद्य (मदकारक सभी द्रव्य), मिट्टी, दिवास्वप्न एवं अत्यन्त तीक्ष्ण वस्तुओं को सेवन करने वाले पुरुष के दोष (पित्तप्रधान वातादि दोष) रक्त को दूषित कर त्वचा में पीलापन (ईषत्पीतता) ला देते हैं।

पाण्डुरोगस्य पूर्वरूपाणि।

त्वक्स्फोटन-ष्ठीवन-गात्रसाद-मृद्भक्षण-प्रेक्षणकूटशोथाः।
विण्मूत्र-पीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥ ३ ॥
सु० उ० अ० ४४

अर्थ—त्वचा का कुछ २ फटी सी होना, अर्थात् अधिक रूखापन, थूक अधिक आना, शरीर में शिथिलता[2] मिट्टी खाना[3] नेत्र के चारों

1—व्यवाय (मैथुन) पाठान्तर भी उपयुक्त है।

२—रोगी ऊँचे स्थान पर चढ़ते समय श्रम या थकावट अधिक अनुभव करता है।

३—यह मृत्तिकाजनित पाण्डुका पूर्वरूप है, और निदान भी।

और शोथ, पुरीष एवं मूत्र में पीलापन[1] तथा अनपच[2], यह भावी पाण्डुरोग के लक्षण अर्थात् पूर्वरूप हैं।

वातिकपाण्डुरोगलक्षणम्।

त्वङ्-मूत्र-नयनादीनां रूक्ष-कृष्णा-रुणाऽऽभता:।
वातपाण्ड्वामये तोद-कम्पाऽऽनाह-भ्रमादय:॥ ४॥

अर्थ—वातज पाण्डुरोग का लक्षण यह है—त्वचा, मूत्र एवं नेत्र आदि में रूखापन, कालापन एवं गहरी लाली होती है। शरीर में सूई के चुभने की सी पीड़ा, कम्प[3], आनाह एवं भ्रम आदि। (कृष्णा-रुणता—पाण्डुपन के साथ २ कुछ २ होती है।)

पैत्तिकपाण्डुरोगलक्षणम्।

पीत-मूत्र-शकृन्नेत्रो दाह-तृष्णा-ज्वरान्वित:।
भिन्नविट्कोऽतिपीताभ: पित्तपाण्ड्वामयी नर:॥ ५॥

अर्थ—पित्तज पाण्डु से रुग्ण मनुष्य का मूत्र[4], पुरीष एवं नेत्र अत्यन्त पीले हो जाते हैं। वह दाह, प्यास एवं ज्वर से युक्त हो जाता है। अतिसार होने लग जाते हैं और रोगी अत्यन्त पीला दिखाई पड़ता है।

कफजपाण्डुरोगलक्षणम्।

कफप्रसेक-श्वयथु-तन्द्रा-ऽऽलस्या-ऽतिगौरवै:।
पाण्डुरोगी कफाच्छुक्लैस्त्वङ्-मूत्र-नयना-ऽऽननै:॥ ६॥

अर्थ—कफज पाण्डु का लक्षण—कफ जाना, शोथ, तन्द्रा (उँघाई), आलस, शरीर में अत्यन्त भारीपन तथा—त्वचा, मूत्र, नेत्र एवं मुख पर सुफेदी (पीलापन लिये) होती है।

१—पित्त वृद्धि का सूचक है।

२—पित्त के उस ओर व्यय होने से पाचनक्रिया ठीक २ नहीं हो पाती।

३—अन्यान्य अंगों के साथ ही हृदय में अधिक कम्प होता है।

४—पित्त मिश्रित रक्त में से छना हुआ होने के कारण पीला होता है। पित्त के अत्यधिक बढ़ने से पुरीष एवं रक्त दोनों में पीलापन आ जाता है

असाध्यपाण्डुरोगलक्षणम् ।

ज्वरा-रोचक-हृल्लास-च्छर्दि-तृष्णा-क्लमान्वितः ।
पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः ॥ ७ ॥

अर्थ—ज्वर, अरुचि, जी मिचलाना, कै, प्यास एवं सुस्ती से युक्त मनुष्य त्रिदोषज, पाण्डुरोग का रोगी होता है। जब इस का बल मांस क्षीण तथा इन्द्रियां शक्तिहीन हो जाती हैं तो असाध्य हो जाता है।

मृत्तिकाभक्षणजातपाण्डुरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

मृत्तिकाऽदन-शीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः ।
कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥ ८ ॥
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं च रूक्षयेत् ।
पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्ध्यपि ॥ ९ ॥
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा ।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बल-वर्णाऽग्निनाशनम् ॥१०॥ च० चि० अ० १६

अर्थ—मिट्टी खाने के अभ्यासी मनुष्य का कोई एक दोष कुपित हो जाता है। अर्थात् कसैली मिट्टी वायु को, खारी मिट्टी पित्त को एवं मीठी मिट्टी कफ को कुपित करती है और अपने रूखेपन से आहार तथा रस आदि धातुओं को रूक्ष कर देती है तथा वह (मिट्टी) बिना पके[1] ही (क्योंकि मिट्टी का पाक नहीं होता) स्रोतों (रसवाही) को भर देती है तथा आगे चलकर रोक भी देती है। अतएव इन्द्रियों की शक्ति, तेज (उत्साह), वीर्य (शुक्र), ओज (धातुसार) को नष्ट (अर्थात् उनका ह्रास या कमी) कर पाण्डुरोग उत्पन्न कर देती है। जो कि बल, कान्ति एवं अग्नि का ह्रास कर देता है।

मृदुत्पन्नपाण्डुरोगलक्षणम् ।

शूना-ऽक्षिकूट-गण्ड-भ्रूः-शूनपान्-नाभि-मेहनः ।

१—मिट्टी में अन्यान्य आहारद्रव्यों के समान वे पदार्थ नहीं होते, जिनके साथ मिट्टी का पाक हो सके।

क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक्कफान्वितम् ॥ ११ ॥
च० चि० अ० १६

अर्थ—उक्त मृत्तिकाजनित पाण्डु के रोगी की आंखों के किनारों पर, गाल एवं भौं पर सूजन हो जाती है तथा पैरों पर, नाभि पर एवं लिंग पर भी सूजन हो जाती है। उसके पेट में क्रिमि पड़ जाते हैं और रक्त युक्त तथा कफ युक्त मल का दस्त आया करता है।

असाध्यपाण्डुरोगलक्षणम्।

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति।
कालप्रकर्षाच्छूनानां यो वा पीतानि पश्यति ॥ १२ ॥
बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते।
दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दि–मूर्च्छा–तृडर्दितः ॥ १३ ॥
स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात्। च०चि०अ०१६

अर्थ—चिरकाल का पुराना तथा खरीभूत (जिससे धातु रूक्ष हो गये हों) पाण्डुरोग अच्छा नहीं होता। अधिक समय बीत जाने से जो रोगी सूज गया हो तथा सभी वस्तुओं को पीली देखता हो, वह भी असाध्य होता है। जिस रोगी को बंधा हुआ, थोड़ा सा एवं हरा मल आवे अथवा कफ युक्त दस्त आवे तथा सुस्ती, अंगों में सफेदी एवं सूजन हो; कै, मूर्च्छा तथा प्यास की अधिकता हो तो वह असाध्य होता है और रक्त की कमी के कारण जो रोगी अत्यन्त सफेद हो गया हो वह भी मर जाता है।

अपरमसाध्यलक्षणम्।

पाण्डु-दन्त-नखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत्।
पाण्डुसंघात–दर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस रोगी के दाँत तथा नाखून पीले हो गये हों, आँखें पीली हो गई हों और सभी वस्तुएँ पीली दिखाई पड़ती हों, वह रोगी मर जाता है।

अन्यान्यप्यसाध्यलक्षणानि।

अन्तेषु शूनं परिहीणमध्यम्, म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम्।

गुदे च शेफस्यथ मुष्कयोश्च शूनं प्रताम्यन्तमसंज्ञकल्पम् ।
विवर्जयेत्पाण्डुकिनं यशोऽर्थी तथाऽतिसार-ज्वर-पीडितं च १५
सु० उ० अ० ४४

अर्थ—जिस रोगी के हाथ पाँव पर सूजन हो तथा मध्यकाय कृश हो अथवा जिसके हाथ पाँव सूख गये हों और धड़ सूज गया हो, गुद, लिंग एवं अण्डकोश पर शोथ हो, आँखों के सामने अन्धेरा आता हो, संज्ञा घट गई हो तथा अतिसार एवं ज्वर से पीड़ित हो, ऐसे पाण्डुरोगी को यश चाहने वाला वैद्य त्याग देवे ।

पाण्डुभेदकामलारोगलक्षणम् ।

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते ।
तस्य पित्तमसृङ्-मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥ १६ ॥
हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्र-त्वङ्-नखा-ऽऽननः ।
रक्त-पीत-शकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥ १७ ॥
दाहा-ऽविपाक-दौर्बल्य-सदना-ऽरुचि-कर्षितः ।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखा-ऽऽश्रया मता ॥१८॥ च० चि० अ० १६

अर्थ—जो पाण्डुरोगी पित्तकारक पदार्थों का अधिक सेवन करता है उसका पित्त (दूषित होकर) रक्त तथा मांस को दूषित करके "कामला" को उत्पन्न कर देता है । जिससे रोगी की आँखें, त्वचा, नाखून एवं मुख हल्दी के समान पीले (सुर्खी लिये पीले या गहरे पीले) हो जाते हैं । मूत्र एवं पुरीष लाल और पीले होते हैं, रोगी बरसाती मेढ़क (लड्डू) के समान वर्ण वाला हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं । दाह, अनपच, दुर्बलता, थकावट एवं अरुचि से पीड़ित होता है । यह कामला पित्त की प्रबलता या अधिकता से होता है और इसके दो भेद हैं । यथा—१—कोष्ठाश्रया, २—शाखाश्रया ।

वक्तव्य—जिसका यकृत् प्लीहा आदि कोष्ठ के अवयवों पर अधिक प्रभाव पड़ता है, उसे कोष्ठाश्रया या कुम्भकामला कहा जाता है और जिसका रक्तादि धातुओं एवं त्वचा पर अधिक प्रभाव पड़ता है, उसे

शाखाकामला कहा जाता है। यद्यपि यहां पर केवल पाण्डुरोगी को ही "कामला" होता है ऐसा लिखा है, किन्तु "भवेत्पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेपि च" वा० नि० अ० १३ के अनुसार स्वतन्त्र या प्रारम्भ से भी हो सकता है।

कुम्भकामलारोगलक्षणम्।

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला।

अर्थ—पुराना एवं खरीभूत कुम्भकामला रोग कष्टसाध्य होता है (कामला की अपेक्षा कुम्भकामला कष्टसाध्य होता है, भला बतलाइये क्यों ?)

कामलाया असाध्यलक्षणानि।

कृष्ण-पीतशकृन्-मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः ॥ १९ ॥
सरक्ताऽक्षि-मुखच्छर्दि-विण्मूत्रो यश्च ताम्यति।
दाहा-ऽरुचि-तृषानाह-तन्द्रा-मोहसमन्वितः ॥ २० ॥
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान्विपद्यते। च० चि० अ० १६

अर्थ—जिस रोगी का पुरीष काला तथा मूत्र पीला हो, शरीर पर सूजन हो, आंख, मुख, कै का निकला द्रव्य, पुरीष एवं मूत्र लाल हों, आँखों के सामने अन्धेरा आवे, दाह, अरुचि, प्यास, आनाह, तन्द्रा एवं बदहोशी हो, अग्नि मन्द हो गया हो, वह कामला रोगी मर जाता है।

कुम्भकामलाया असाध्यलक्षणानि।

छर्द्यरोचक-हृल्लास-ज्वर-क्लम-निपीडितः ॥ २१ ॥
नश्यति श्वास-कासा-ऽऽर्तो विड्भेदी कुम्भ-कामली।

अर्थ—कै, अरुचि, हृल्लास, ज्वर एवं सुस्ती से पीड़ित, श्वासकास से दुखी तथा अतिसारवाला रोगी कुम्भकामला के कारण मर जाता है।

हलीमकरोगलक्षणम्।

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः ॥ २२ ॥
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः।
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः।

हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिल-पित्ततः ॥२३॥ च० चि० अ० १६

अर्थ—जब पाण्डुरोग का वर्ण हरा, काला अथवा पीला हो जाता है, बल तथा उत्साह की हानि, तन्द्रा, मन्दाग्नि, मन्द ज्वर, नपुंसकता, अंगों में दर्द, दाह, प्यास, अरुचि एवं भ्रम (चक्कर आना) ये लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, तब उस रोगी को "हलीमक" नामक रोग जानना चाहिए। यह वायुपित्त की अधिकता से होता है।

पाण्डुरोगोपद्रवाः।

उपद्रवास्तेष्वरुचिः पिपासा छर्दिर्ज्वरो मूर्द्धरुजाऽग्निसादः।
शोफस्तथा गण्डगतोऽबलत्वं मूर्च्छा क्लमो हृदयपीडनं च ॥

सु० उ० तं० अ० ४४

इति पाण्डुरोगनिदानम्।

रक्तपित्तनिदानम्।

अन्यान्य रोगों के समान ही रक्त पित्त में शरीर से रक्त द्रव्य निकलता है। भेद केवल यह है कि इसमें पित्त द्वारा रक्त विदग्ध एवं द्रव होने के कारण रक्त मार्गों में से चू चू कर निकलता है। भीतर त्वचा कोमल होने के कारण प्रायः आमाशय एवं पक्वाशय आदि में चूआ हुआ रक्त ऊपर के एवं नीचे के मार्गों से निकलता है, किन्तु जब वह अत्यन्त विदग्ध एवं द्रव हो जाता है तो रोमों की जड़ों में से भी निकलने लगता है। इसे समझने के लिये "कुपितं पित्तलैः पित्तं द्रवं रक्तं च मूर्च्छिते। ते मिथस्तुल्यरूपत्वमागत्य व्याप्नुतस्तनुम्॥" वा० नि० अ० ३। पाठकों को स्मरण रखना चाहिये। अर्थात् पित्तमिश्रित रक्त पतला होकर शरीर के किसी भी भाग से चू सकता है और वहीं से निकल भी सकता है। और यह रक्त पित्त से मिश्रित होकर निकलता है। अत एव इसे "रक्तपित्त" कहा जाता है।

रक्तपित्तस्य निदानं सम्प्राप्तिश्च।

घर्म-व्यायाम-शोका-ऽध्व-व्यवायैरतिसेवितैः।
तीक्ष्णोष्ण-क्षार-लवणैरम्लैः कटुभिरेव च ॥ १ ॥

पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम् ।
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा ॥२॥ सु० सू० अ० ४५
ऊर्ध्वं नासा-ऽक्षि-कर्णाऽऽस्यैर्मेढ्र-योनि-गुदैरधः ।
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते ॥ ३ ॥

अर्थ—घाम (धूप), व्यायाम, शोक (जैसे शोकातिसार), मार्ग-गमन एवं मैथुन के अत्यन्त सेवन से, तीक्ष्ण, गर्म, खारे, नमकीन, खट्टे तथा कड़ुवे पदार्थों के अधिक खाने से पित्त विदग्ध, कुपित या खट्टा होकर अपने गुणों (तीक्ष्णता, द्रवता, पूतिता आदि) के द्वारा रक्त को भी विदग्ध अर्थात् उसमें मिलकर उसे द्रव तथा खट्टा कर देता है। इसलिये वह पित्तमिश्रित रक्त ऊपर नीचे अथवा दोनों ओर से निकलने लगता है। ऊपर को नाक, आँख, कान अथवा मुख से तथा नीचे को लिंग, योनि अथवा गुद से और अत्यन्त दूषित होकर समस्त रोम-कूपों से भी निकलने लगता है।

अथास्य पूर्वरूपाणि ।

सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः ।
लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवन्त्यस्मिन् भविष्यति ॥४॥ सु०उ०अ०४५

अर्थ—रक्तपित्त का पूर्वरूप यह है—अंगों में शिथिलता, शीत पदार्थों के सेवन की इच्छा, कण्ठ में से धूँआ सा निकलने का अनुभव, कै तथा बाहर आनेवाले साँस में लोहे (तपाकर पानी में बुझाए हुए) की सी गन्ध आना ।

वक्तव्य—अग्नि में सन्तप्त लोह को जल में बुझाने से जो गन्ध आती है, ठीक उसी के समान गन्धयुक्त निःश्वास होता है । सच बात यह है कि रक्त में लोह तत्त्व होता है (अत एव रक्त का नाम "लोहित" रखा गया है) पित्त से जब रक्त विदग्ध होता है तो उक्त लोहतत्त्व के विदाह से इस प्रकार की गन्ध आती है। विदग्ध रक्त अम्ल हो जाता है अतः इसे कुत्ता आदि भी नहीं खाते। लोहतत्त्व के विदग्ध हो जाने के कारण यह शरीरोपयोगी भी नहीं रहता अत एव "नादौ संग्राह्यमुद्रिक्तम्" (सु० उ०

अ० ४५) कहा गया है। किन्तु जब लोहतत्त्व युक्त (शुद्ध रक्त) रक्त आवे तो रोक देना चाहिये।

श्लैष्मिकरक्तपित्तलक्षणम्।

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम्।

श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥५॥ च०चि०अ०४

अर्थ—कफ के संसर्ग से रक्तपि गाढ़ा, कुछ श्वेत, चिकनाई युक्त एवं चिपचिपा होता है। वायु से काला, गहरा लाल, झागयुक्त एवं रूक्ष (स्नेहहीन) होता है।

पैत्तिकरक्तपित्तलक्षणम्।

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम्।

मेचकाऽगारधूमाऽऽभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥ ६ ॥ च०चि०अ०४

अर्थ—पित्त के अत्यन्त मिश्रण से रक्तपित्त का द्रव काढ़े का सा, काला, गोमूत्र जैसा, मोरपंख के समान वर्णवाला, गृहधूम एवं काले सुरमे के समान वर्णयुक्त होता है। उपर्युक्त दो दो लक्षणों के संसर्ग से द्वन्द्वज एवं तीनों दोषों के मिलने से सन्निपातज होता है।

अथोर्ध्वाधोमार्गभेदेन रक्तपित्तस्य भेदद्वयम्।

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्।

द्विमार्गं कफ-वाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते ॥ ७ ॥ च० चि० अ० ४

अर्थ—कफ के संसर्ग से ऊपरी भागों से, वायु के संसर्ग से निचले भागों से तथा कफ वात दोनों के संसर्ग से दोनों ओर से रक्तपित्त निकलता है।

अस्योर्ध्वाधोभेदेन साध्यासाध्ययाप्यत्वम्।

ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्गतम्। सु० उ० अ० ४५

अर्थ—ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त साध्य, अधोगामी याप्य तथा उभयमार्गगामी असाध्य होता है।

अथास्य सुखसाध्यलक्षणम्।

एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् ॥ ८ ॥

रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् । च० चि० अ० ४

अर्थ—बलवान् मनुष्य का रक्तपित्त केवल एक ओर जाने वाला (ऊर्ध्वगामी), वेगरहित, नवीन, उपद्रवों से रहित तथा सुखदायक काल (शीतकाल हेमन्त शिशिर ऋतु) में साध्य होता है।

अथास्य दोषभेदात्साध्यासाध्यत्वम् ।

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ॥ ९ ॥
यत्त्रिदोषमसाध्यं स्यान्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥१०॥ च० चि० अ० ४

अर्थ—एकदोषज रक्तपित्त साध्य, द्विदोषज याप्य एवं त्रिदोषज असाध्य होता है। और मन्द अग्निवाले, अन्यान्य रोगों से पीडित शरीरवाले, बूढ़े तथा भोजन न करने वाले रोगी का अत्यन्त वेगयुक्त रक्तपित्त असाध्य होता है।

रक्तपित्तस्योपद्रवाः ।

दौर्बल्य-श्वास-कास-ज्वर-वमथु-मदाः पाण्डुता-दाह-मूर्च्छाः
भुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा ।
तृष्णा कोष्ठस्य भेदः शिरसि च तपनं पूति-निष्ठीवनत्वम्
भक्त-द्वेषा-ऽविपाकौ विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गाः ॥ ११ ॥

च० चि० अ० ४

अर्थ—दुर्बलता, श्वास, कास, ज्वर, कै, मद, पाण्डुता (शरीर पर पीलापन), दाह, मूर्च्छा, भोजन करने के बाद उदर में अत्यन्त दाह, बेचैनी, हृदय में सदैव भीषण पीड़ा, प्यास, अतिसार, शिर में गर्मी, दुर्गन्धित, थूक, अरुचि, अनपच तथा रक्तपित्त के निम्नलिखित विकार यह सब रक्तपित्त के उपद्रव हैं।

रक्तपित्तस्यासाध्यलक्षणम् ।

मांस-प्रक्षालनाभं कुथितमिव च यत्कर्दमाम्भोनिभं वा
मेदः-पूया-ऽस्र-कल्पं यकृदिव यदि वा पक्व-जम्बू-फलाभम् ।

यत्कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारा-
स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपति-धनुषा यच्च तुल्यं विभाति ॥ १२ ॥
सु० उ० अ० ४५

अर्थ—जो रक्तपित्त मांस के धोवन का सा, सड़ा हुआ सा, कीचड़ से पानी जैसा, मेदा धातु तथा पूयास्र (पीब मिश्रित रक्त या कचलहू) के सदृश, यकृत् के वर्णवाला अथवा पके जामुन फल के समान वर्णयुक्त, काला अथवा नीला, मुर्दार की सी गन्धयुक्त तथा जिसके साथ २ उपर्युक्त दौर्बल्यादि उपद्रव हों अथवा जो इन्द्रधनुष के समान कितने ही वर्णों से युक्त दिखाई देवे, वह असाध्य होता है ।

येन चापहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः ।
पश्येद् दृश्यं वियच्चापि तच्चासाध्यमसंशयम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस रक्तपित्त से पीड़ित मनुष्य प्रत्येक वस्तु को तथा आकाश को भी लाल ही देखता है, वह अवश्य ही असाध्य होता है ।

लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः ।
लोहितोद्गारदर्शी च म्रियते रक्तपैत्तिकः ॥१४॥ सु० सू० अ० ३३

अर्थ—जो रोगी लोहित (लोहतत्त्वयुक्त शुद्ध रक्त) की बार २ वमन करता हो, जिसकी आंखें लाल हो गई हों अथवा जिसके उद्गार में भी शुद्ध रक्त आ जाता हो; वह रोगी शीघ्र ही मर जाता है ।

वक्तव्य—इस श्लोक में "लोहित" शब्द का प्रयोग कर रक्त में लोह-तत्त्व सम्बन्धी अपने ज्ञान का महर्षियों ने पूर्ण परिचय दिया है। इसके जानने का सरल उपाय है कि—रक्तपित्त में साफ श्वेत कपड़ा भिगो कर धोइये । यदि उस पर दाग न रह जाय तो समझिये कि रक्त में लोह विद्यमान है यदि नहीं तो उसे उक्त तत्त्व रहित अतः अशुद्ध समझना चाहिये ।

इति रक्तपित्तनिदानम् ।

राजयक्ष्म-क्षत-क्षीणनिदानम् ।

वक्तव्य—राजयक्ष्मा के नामकरणसम्बन्धी शास्त्रीय विविध विचारों

(संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते । क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधैः ।। राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः । तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः ।।) के साथ ही मेरा विचार है कि "राजते शोभते इति राजा तस्य यक्ष्मा राजयक्ष्मा" इस प्रकार (सुन्दर एवं विलासी मनुष्य का रोग) कहना भी असंगत नहीं है । क्योंकि इस रोग का आक्रमण सुन्दर एवं विलासी युवकों पर विशेष होता देखा गया है ।

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात् ।

त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ।। १ ।।

अर्थ—वात मूत्रादि का वेग रोकना, शुक्र आदि धातुओं का क्षय, दुःसाहस एवं विषम भोजन इन चार कारणों से त्रिदोषज "राजयक्ष्मा" नामक रोग उत्पन्न होता है ।

वक्तव्य—त्रिदोषज होने पर भी इसमें कफ प्रबल रहता है । अत एव यह रोग चिरकाली होता है अर्थात् धीरे धीरे शरीर में व्याप्त होता है ।

क्षयरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु ।

अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तराः ।

क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ।। २ ।।

अर्थ—१—कफाधिक दोषों द्वारा रसवाही स्रोतों के रुक जाने पर अथवा २—मैथुन की अधिकता के कारण शुक्रधातु के क्षीण होने पर शेष सभी धातु क्षीण हो जाते हैं । अतएव मनुष्य सूखने लगता है ।

वक्तव्य—इस भयंकर रोग की सम्प्राप्ति अर्थात् उत्पत्तिप्रकार दो प्रकार का है । १—धातुओं के न बनने से, २—उनके क्षय से । इन दोनों को अनुलोम तथा प्रतिलोम यक्ष्मा कहा जाता है ।

यक्ष्मणः पूर्वरूपाणि ।

श्वासाङ्गमर्द-कफसंस्रव-तालुशोष-

वम्यग्निसाद-मद-पीनस-कास-निद्राः ।

शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः

शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः ॥ ३ ॥

अर्थ—जब यक्ष्मा होने को होता है तो निम्न लक्षण होते हैं—श्वास, अंगो में दर्द, कफ का अधिक निकलना (यही प्रधान पूर्व रूप या रूप है) तालु का सूखना, कै (प्रायः भोजन के कुछ देर पश्चात् , अग्नि-मान्द्य, मस्ती, जुकाम, खाँसी, नींद की अधिकता, आँखों में सफेदी, मांसभक्षण एवं मैथुन की अधिक इच्छा ।

वक्तव्य—कफ द्वारा रस के मार्ग रुक जाने के कारण रसधातु विदग्ध होकर कफरूप में निकलता रहता है । फल यह होता है कि रक्त मांस आदि धातु पुष्ट ही नहीं हो पाते और रोगी धीरे धीरे सूख जाता है । रिरंसु—अधिक रति करने से शुक्र क्षीण हो जाने पर वायु कुपित होकर अवशिष्ट धातुओं को सुखा देता है । बस फल वही होता है अर्थात् यक्ष्मा हो जाता है । हाँ, इस कफ में क्रिमि पाए जाते हैं, जो पार्श्ववर्ती लोगों पर भी आक्रमण कर देते हैं । अतएव यक्ष्मा (कुष्ठ-निदान श्लोक ४२–४३ देखिये) को संक्रामक कहा गया है । इसमें सम्भवतः "दर्भकुसुम" क्रिमि होते हैं । आगे चलकर ये फुप्फुसों को भी खा जाते हैं । शोक ।

स्वप्नेषु काक-शुक-शल्लकि-नीलकण्ठा-
गृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च ।
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्ये-
च्छुष्कांस्तरूनपवन-धूम-दवा-ऽर्दितांश्च ॥ ४ ॥ सु० उ० अ० ४१

अर्थ—रोगी को स्वप्नावस्था में ज्ञात होता है कि उसको कौवा, सुग्गा (तोता), साही (सेह), मोर, गिद्ध, बन्दर एवं गिरगिट (किरला) वहन करते हैं तथा वह सूखी नदियों को और सूखे, धूआँ एवं दावानल से व्याप्त वृक्षों को देखता है, (रोग का प्रभाव है कि इस प्रकार के स्वप्न आया करते हैं, यह भी पूर्वरूप ही है) ।

क्षयस्य त्रीणि मुख्यलक्षणानि ।

अंसपार्श्वाऽभितापश्च सन्तापः करपादयोः ।

ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥५॥ च० चि० अ० ८

अर्थ—कन्धे और पसलियों में पीड़ा, हाथ पैरों में जलन और सम्पूर्ण शरीर में ज्वर (प्रायः मन्द ज्वर ही रहता है), ये राजयक्ष्मा के तीन प्रसिद्ध लक्षण हैं[1] ।

तान्येव सौश्रुतानि ।

("भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम् ।

स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपे राजयक्ष्मणि ॥") सु० उ० अ० ४१

अर्थ—भोजन में अरुचि, ज्वर, श्वास, कास, थूक में रक्त जाना एवं स्वर बैठ जाना इस प्रकार राजयक्ष्मा के छः लक्षण भी होते हैं।

क्षयस्यैकादश रूपाणि ।

स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांस-पार्श्वयोः ।

ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ॥ ६ ॥

शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च ।

कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ॥७॥ सु० उ० अ० ४१

अर्थ—यक्ष्मा में ११ लक्षण भी पाये जाते हैं। वायु से—१स्वर-भेद, कन्धे एवं पसलियों में २—शूल तथा ३—संकोच। पित्त से—१—ज्वर, २—दाह, ३—अतिसार एवं ४—थूक में रक्त जाना। कफ से—१—शिर का भरा सा ज्ञात होना, २—भोजन में अरुचि, ३—कास एवं ४—कण्ठोद्ध्वंस। (इस प्रकार कुल ११ लक्षण हुये)।

वक्तव्य—पोषण न मिलने से अथवा क्रिमियों द्वारा खाये जाने से (रक्त भी इसी लिये निकलता है अथवा गल गल कर कफ रूप में निकल जाने से फुफ्फुस संकुचित हो जाते हैं । अत एव "संकोच-श्चांसपार्श्वयोः" हो जाता है। रोगी सिकुड़ा सा रहता है। "कण्ठोद्-ध्वंस" का अर्थ कण्ठ एवं तत्सामीप्य से (लक्षणा करके) फुफ्फुसों

१—कासो ज्वरो रक्तपित्तं त्रिरूपे राजयक्ष्मणि । भोजसंहिता । ये तीन लक्षण भी प्रायः देखे जाते हैं ।

२—यही यक्ष्मा का व्यञ्जन है ।

का उद्ध्वंस अर्थात् ढह जाना युक्तिसंगत है (जैसे पुराने मकान या भवन ढह जाते हैं, कुछ कोठरियाँ बनी रहती हैं, कुछ टूट फूट जाती हैं, उसी प्रकार फुप्फुस के कुछ वायु-मन्दिर एवं वायुकोष्ठ बने रहते हैं)। कभी २ इस रोग का आक्रमण केवल एक ही फुप्फुस पर होता है और दूसरा सर्वथा सुरक्षित रहता है। इस दशा में कुशल चिकित्सक रोगी का रुग्ण फुप्फुस निकाल लेते हैं और रोगी एक ही फुप्फुस द्वारा जीवननिर्वाह कर लेता है। जैसे निर्धन मनुष्य अपने टूटे-फूटे मकान के एक ही भाग में रहकर जीवन बिता लेता है।

असाध्यक्षयलक्षणम्।

एकादशभिरेभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम्।
कासाऽतीसार-पार्श्वाऽऽर्ति-स्वरभेदा-ऽरुचि ज्वरैः ॥ ८ ॥
त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैः कास-श्वासा-सृगामयैः।
जह्याच्छोषर्दितं जन्तुमिच्छन् सुविमलं यशः ॥९॥ सु० उ० अ० ४१

अर्थ—स्वरभेदादि उपर्युक्त ११ लक्षणों अथवा नीचे लिखे कास, अतिसार, पसलियों की पीड़ा, स्वरभेद, अरुचि एवं ज्वर; इन छः लक्षणों से अथवा कास, श्वास, थूक में रक्त आना, इन तीन लक्षणों से पीड़ित यक्ष्मा रोगी को असाध्य होने के कारण निर्मल कीर्ति का अभिलाषी चिकित्सक छोड़ देवे।

अपरमसाध्यलक्षणम्।

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥ १० ॥
च० चि० अ० ८

अर्थ—सभी (उपर्युक्त ११ लक्षणों) अथवा छः अथवा तीन लक्षणों से युक्त रोगी को तभी छोड़ना चाहिए जब कि उसका मांस एवं

१—मांसक्षये—स्फिक्—गण्ड—ओष्ठ—उपस्थ—ऊरु—वक्षः—कक्षा—पिण्डिका—उदर—ग्रीवाशुष्कता रौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च।
सु० सू० अ० १५

बल[1] क्षीण हो गया हो। नहीं तो उक्त सब लक्षणों के रहने पर भी चिकित्सा करनी ही चाहिए।

वक्तव्य—सच बात यह कि जब रोगी मांस एवं बल से युक्त रहता है, तब तक चिकित्सा करने से अवश्य सफलता मिलती है। अन्यथा वह नामुराद रोग मार ही डालता है।

अपराण्यसाध्यलक्षणानि।

महाशनं क्षीयमाणमतीसारनिपीडितम्।
शूनमुष्कोदरं चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥सु० उ० अ० ४१

अर्थ—अधिक भोजन करने पर भी क्षीण होने वाले, अतिसार से पीड़ित, अण्डकोष तथा उदर की सूजन से युक्त यक्ष्मारोगी को असाध्य होने के कारण छोड़ देवे।

अन्यदसाध्यलक्षणम्।

शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम्।
कृच्छ्रेण बहुमेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥ १२ ॥

अर्थ—श्वेत नेत्रों वाले, अन्न के द्वेषी, ऊर्ध्व श्वास से पीड़ित, मूत्रकृच्छ्र एवं बहुमूत्र से युक्त रोगी को यक्ष्मा मार[2] डालता है।

अस्य चिकित्स्यत्वम्।

ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम्।
उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम् ॥ १३ ॥ सु० उ० अ० ४१

अर्थ—ज्वर वेग से रहित, बलवान्, चिकित्सा की कठिनाइयों को सहने वाले, आत्मबल से युक्त, दीप्त अग्निवाले, कृशता रहित (जिसका मांस क्षीण न हो गया हो) मनुष्य की चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य—बहुत से लोग शंका किया करते हैं, कि "ज्वरः सर्वांगः"

१—बलक्षय-मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च। पूर्वोक्तानि च लिंगानि मरणं च बलक्षये। आ० द०

२—इस लक्षण के उत्पन्न होने पर रोगी शीघ्र (दो ही चार घंटे में) मर जाता है।

के अनुसार यक्ष्मा ज्वर से रहित होता ही नहीं है । उन्हें याद रखना चाहिये कि किसी भी रोग में सब लक्षण नहीं होते, जब तक कि वह असाध्य नहीं हो जाता । ध्यान दें कि यक्ष्मा रोग है, और ज्वर उसका लक्षण है व्यञ्जन नहीं । क्या मूर्च्छा रहित विसूची को आप विसूची नहीं कहेंगे ? यदि हाँ, तो यह शंका भी उचित नहीं । और जानने के लिये १० वां श्लोक देखिये ।

क्षयस्यान्ये प्रकाराः ।

व्यवाय-शोक-वार्धक्य-व्यायामा-ऽध्व-प्रशोषितान् ।
व्रणोरःक्षतसंज्ञौ च शोषिणौ लक्षणैः शृणु ॥१४॥ सु० उ० अ० ४१

अर्थ—मैथुन से, शोक से, बुढ़ापे से, व्यायाम से, मार्गगमन से जो सूख गये हों तथा व्रण एवं उरःक्षत (फुफ्फुस अथवा हृत्पिण्ड में क्षत हो जाना) से जो सूख गये हों, उनके लक्षण सुनो ।

वक्तव्य—यद्यपि राजयक्ष्मा, क्षय और शोष शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं किन्तु सम्भवतः क्षय एवं शोष राजयक्ष्मा के दो भेद हैं। शब्दार्थ भी भिन्न भिन्न है, यथा—शोष—धातुओं (पोषण न मिलने पर) का सूख जाना । क्षय—धातुओं (पोषण मिलने पर भी) का क्षीण हो जाना । इसलिये शोक, वार्द्धक्य, व्ययाम एवं अतिमार्गगमन से शोष होता है और व्यवाय, व्रण तथा उरःक्षत से क्षय । सुश्रुत भगवान् इन्हें मतान्तर मानते हैं । विचारिये क्या बात है ? ।

व्यावायशोषिणो लक्षणम् ।

व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरुपद्रुतः ।
पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातवः ॥१५॥ सु० उ० अ० ४१

अर्थ—शुक्रक्षय[1] के लक्षणों से युक्त पीले शरीर वाला रोगी "व्यवायशोषी" होता है और इसके धातु (मज्जा आदि) क्रमशः क्षीण हो जाते हैं।

शोकशोषिणो लक्षणम् ।

प्रध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादृशः । सु० उ० अ० ४१

१—शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदना, अशक्तिर्मैथुने, चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्पदर्शनं शुक्रस्य रक्तस्य वा । सु० सू० अ० १५) ।

अर्थ—चिन्ता में मग्न, शिथिल शरीर वाला, शुक्रक्षय के लक्षणों के बिना व्यवायशोषी के लक्षणों से युक्त "शोकशोषी" होता है।

जराशोषिणो लक्षणम्।

जराशोषी कृशो मन्दवीर्य-बुद्धि-बलेन्द्रियः ॥१६॥

कम्पनोऽरुचिमान् भिन्न-कांस्य-पात्र-हतस्वरः।

ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनं गौरवा-ऽरति-पीडितः ॥१७॥

संप्रस्रुताऽस्य-नासाऽक्षः शुष्क-रूक्ष-मल-च्छविः। सु० उ० त० अ० ४१

अर्थ—जराशोषी मनुष्य कृश हो जाता है, वीर्य, बुद्धि, बल एवं इन्द्रियों की शक्ति दुर्बल हो जाती है। वह कम्पन तथा अरुचि से युक्त होता है। उस का स्वर फूटे कांस्यपात्र के समान हो जाता है। कफ रहित थूकता है शरीर के भारीपन तथा बेचैनी से पीड़ित होता है। मुख, नाक एवं आँखों में से पानी जाता रहता है। मल सूख जाता है और कान्ति नष्ट हो जाती है। (किसी बूढ़े को देखिये)

मार्गशोषिणो लक्षणम्।

अध्वशोषी च स्रस्ताङ्गः संभृष्ट-परुष-च्छविः ॥ १८ ॥

प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्क-क्लोम-गलाऽऽननः। सु० उ० त० अ० ४१

अर्थ—मार्गशोषी के अंग शिथिल हो जाते हैं। कान्ति भड़भूंजे की सी रूक्ष हो जाती है। शरीर के सब अंग सो जाते हैं॥ पिपासा-स्थान, गला एवं मुख सूख जाते हैं।

व्यायामशोषिणो लक्षणम्।

व्यायामशोषी भूयिष्ठमेभिरेव समन्वितः ॥ १९ ॥

लिंगैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना। सु० उ० त० अ० ४१

अर्थ—व्यायामशोषी मनुष्य अध्वशोषी के ही बलवान् लक्षणों से युक्त होता है और क्षत के बिना भी उरःक्षत के अन्यान्य लक्षणों से युक्त होता है।

व्रणशोषिणो लक्षणम्।

रक्तक्षयाद्वेदनाभिस्तथैवाहारयन्त्रणात्।

व्रणितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतमो मतः ॥ २० ॥

अर्थ—पूय होकर रक्त का अधिक क्षय हो जाने से, व्रण की वेद-नाओं के कारण एवं आहार के नियन्त्रण (दूध एवं नमक आदि आहारोपयोगी पदार्थों के अपथ्य होने के कारण उनका परित्याग करने) से व्रणरोगी का शोष सर्वथा असाध्य होता है।

अथोरःक्षतस्य हेतवो लक्षणानि च।

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम्।
युध्यमानस्य बलिभिः पततो विषमोच्चतः ॥२१॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः।
शिला–काष्ठा–ऽश्म–निर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥२२॥
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम्।
महानदीर्वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥ २३ ॥
सहसोत्पततो दूरं तूर्णं वाऽपि प्रनृत्यतः।
तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा ॥ २४ ॥
विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते।
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः ॥ २५ ॥
उरो विभज्यतेऽत्यर्थं भिद्यतेऽथ विरुज्यते।
प्रपीड्येते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥२६॥
क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते।
ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदाग्निवधावपि ॥ २७ ॥
दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः।
कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सासृक् प्रवर्तते ॥२८॥
स क्षती क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्। च० चि० अ० ११

अर्थ—धनुष द्वारा अत्यन्त आयास करने से, भारी भार उठाने से,

बलवान् के साथ युद्ध (कुश्ती आदि) करने से, ऊँचे-नीचे स्थान से गिरने से, दौड़ते हुए बैल और घोड़े अथवा अन्यान्य हाथी आदि को पकड़ कर रोकने से, भारी शिला, लकड़ी, पत्थर एवं निथाई[1] (अस्त्रविशेष) को बलपूर्वक फेंकने से, शत्रुओं के साथ लड़ाई करने से, अत्यन्त ऊँचे स्वर से पढ़ने (इस प्रकार आधुनिक वेदपाठ का ढंग भी हानिकारक है) से, दूर तक दौड़ने से, बड़ी या वेगवती नदियों को बाहुओं द्वारा तैरने से, घोड़ोंके साथ (अथवा सवार होकर) दौड़ने से, एकाएक दूर से कूदने से, शीघ्रता पूर्वक नाचने से तथा इसी प्रकार के अन्य कर्मों द्वारा अधिक आघात पहुँचने से वक्षःस्थल के भीतर घाव हो जाने पर यह भयानक रोग हो जाता है अथवा रूखा-सूखा, थोड़ा एवं परिमित भोजन करते हुए भी अधिक स्त्रीसेवन से यह रोग हो जाता है। इससे नीचे लिखे लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं यथा—वक्षोस्थि एवं पर्शुकाओं की सन्धि खुल जाती है, फुफ्फुस के वायुकोष्ठ फट जाते हैं, वक्षःस्थल दुखने लगता है, तत्पश्चात् पसवाड़ों (वकखियों) में पीड़ा होती है, शरीर सूखने और काँपने लगता है एवं क्रमशः वीर्य, बल, वर्ण, रुचि तथा अग्नि क्षीण होती जाती है, ज्वर, शरीर में दर्द, मन में खिन्नता, अतिसार तथा अग्निमान्द्य हो जाता है । दूषित (सड़ा हुआ), काला सा, दुर्गन्धि युक्त, पीला, गाँठदार, बहुत, रक्तयुक्त कफ खाँसते ही निकल आता है और क्षतरोगी शुक्र एवं ओज (कफ में निकलने वाला रक्त ओज ही होता है) के क्षय से अत्यन्त क्षीण हो जाता है ।

अथोरःक्षतस्य पूर्वरूपम् ।

अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥ २९ ॥ च० चि० अ० ११

अर्थ—उरःक्षत के उपर्युक्त लक्षण ही जब तक पूर्णतया प्रकट नहीं होते, "पूर्वरूप" कहलाते हैं ।

1—चक्राकार एक अस्त्र होता है जो घुमाकर फेंका जाता है । कहा जाता है कि वह फेंकनेवाले के पास पुनः लौट आता है । आस्ट्रेलिया महाद्वीप के आदिम निवासियों में इसका पर्याप्त प्रचार है ।

अथोरःक्षतक्षीणयोर्मुख्यलक्षणानि ।

उरोरुक्शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते ।

क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्व–पृष्ठ–कटी–ग्रहः ॥३०॥ च॰चि॰अ॰११

अर्थ—उरःक्षत में वक्षःस्थल में पीड़ा, रक्त की कै (थोड़ा थोड़ा अथवा बहुत रक्त जाना) एवं खाँसी और क्षीण (शुक्र क्षय में) में रक्तयुक्त मूत्र आना, पसवाड़ों, पीठ एवं कमर में जकड़न यह विशेष लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—उक्त साहसों से उरः—(फुफ्फुस आदि) में क्षत होता है और स्त्रीप्रसक्त के शुक्रक्षय से शुक्राशयों या शुक्रस्रोतों में घाव होता है। अत एव पहिले में "शोणितच्छर्दि" रक्त की कै या ओज निकलता है मुखमार्ग से और दूसरे में रक्त निकलता है मूत्र मार्ग से, बस दोनों में भेद भी यही है।

अथानयोः साध्यासाध्यत्वविचारः ।

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः ।

परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥३१॥ च॰चि॰अ॰११

अर्थ—कम लक्षणों वाले एवं दीप्ताग्निवाले बलवान् मनुष्य का नवीन उरःक्षत साध्य एवं वही एक वर्ष बीत जाने पर याप्य एवं तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होने पर असाध्य होता है।

इति राजयक्ष्म–क्षत–क्षीणनिदानम् ।

कासनिदानम्[1] ।

कासस्य हेतु–सम्प्राप्ति–पूर्वकं लक्षणम् ।

धूमोपघाताद्रसतस्तथैव[2] व्यायाम–रूक्षान्न-निषेवणाच्च ।

१—यद्यपि कास, श्वास एवं हिक्का में भी फुफ्फुसों पर ही दोषों का विशेष प्रभाव पडता है, किन्तु यक्ष्मा के समान नहीं अर्थात् यक्ष्मा में वह सांघातिक होता है। कासादि में फुफ्फुसों की संकोच-प्रसाररूप स्वाभाविक अव्यवस्थित हो जाती है। सम्प्राप्तियों पर ध्यान दीजिये।

२—रजसः (धूलि-धूल लगने से) पाठान्तर भी उपयुक्त है।

विमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य वेगावरोधात्क्षवथोस्तथैव ॥ १ ॥
प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः स भिन्न-कांस्य-स्वनतुल्यघोषः ।
निरेति वक्त्रात् सहसा सदोषो मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः ॥२॥
सु० उ० अ० ६२

अर्थ—फुफ्फुसों तक धुआँ पहुँचने से, रस का परिपाक न होने से, व्यायाम एवं रूक्ष अन्न के सेवन से, भोजन के श्वासमार्ग में थोड़ा भी चले जाने से (क्षणिक कास का कारण होता है), मल-मूत्रादिको एवं आती हुई छींक के वेग को रोकने से दुष्ट हुआ प्राणवायु[1] (हृदयस्थ) उदान के साथ मिलकर फूटे हुए कांस्यपात्र के शब्द के समान शब्द करता हुआ पित्त या कफ से युक्त घोष एकाएक मुंह से निकलता है, बस विद्वानों ने इसी को कास या खाँसी या खंग कहा है।

कासभेदाः ।

पञ्च कासाः स्मृता वात–पित्त–श्लेष्म–क्षत–क्षयैः ।
क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् ॥३॥ अ० हृ० नि० अ० ३

अर्थ—वायु, पित्त, कफ, क्षत एवं क्षय से होने वाले पाँच कास माने जाते हैं। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय तो क्षयरोग हो जाता है और ये एक से दूसरे बलवान् होते हैं।

कासपूर्वरूपम् ।

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता ।
कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥४॥ च० चि० अ० १८

अर्थ—उन कासों का निम्नलिखित पूर्वरूप होता है—गले और मुख में कांटे पड़ जाना, कण्ठ में खुजली होना तथा भोजन निगलने में रुकावट (आहारमार्ग सदैव बन्द रहने के कारण उसे खोलकर आहार निगलने में कठिनाई पड़ती है) ।

वातकासलक्षणम् ।

हृच्छङ्ख–मूर्धोदर–पार्श्व–शूली क्षामाननः क्षीण–बल–स्वरौजाः।

१—श्वास-निःश्वास में आने-जानेवाला वायु उदान युक्त प्राण ही होता है ।

प्रसक्तवेगस्तु समीरणेन भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव ॥ ५ ॥

सु० उ० अ० ५२

अर्थ—वातज कास में हृदय (हृत्पिण्ड), शंख (पुटपुटी), शिर, पेट एवं पार्श्वों में पीड़ा, चेहरा उतर जाना, बल, स्वर तथा ओज का क्षीण हो जाना, निरन्तर खाँसना, स्वर बैठ जाना और सूखी खाँसी आना, ये लक्षण होते हैं।

पित्तकासस्य लक्षणम्।

उरोविदाह-ज्वर-वक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्तः।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्स पाण्डुःपरिदह्यमानः ॥६॥ सु० उ० अ० ५२

अर्थ—पित्तज कास के निम्न लक्षण होते हैं—उर (वक्षःस्थल) के भीतर दाह, ज्वर, मुंह का सूखना तथा कडुआ होना, प्यास लगना, पीली एवं कड़वी वमन होना, शरीर का वर्ण पीला हो जाना (विशेषतः खांसते समय) एवं शरीर में जलन (इसी कारण खाँसते-खाँसते पसीना आने लगता है)।

कफजकासलक्षणम्।

प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्तः कफपूर्णदेहः।
अभक्तरुग्गौरव-कण्डु-युक्तः कासेद् भृशं सान्द्रकफः कफेन ॥ ७ ॥

सु० उ० अ० ५२

अर्थ—कफज कास के निम्न लक्षण होते हैं:—मुख कफ से लिपा रहता है, अंगों की अवसन्नता (कार्य में असमर्थता), सिर में पीड़ा, शरीर के स्रोतों का कफ से भर जाना, भोजन में अरुचि, शरीर का भारीपन, शरीर (विशेषतः कण्ठ) में खुजली एवं गाढ़े कफ का निकलना।

क्षतजकासलक्षणम्।

अति--व्यवाय-भाराध्व-युद्धाश्व-गजविग्रहैः।
रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमाचरेत् ॥ ८ ॥
स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत्सशोणितम्।

कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा ॥ ९ ॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ।
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीड़ाभितापिना ॥ १० ॥
पर्वभेद–ज्वर–श्वास–तृष्णा–वैस्वर्य-पीड़ितः ।
पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥११॥ च०चि०अ०१८

अर्थ—क्षतज कासका कारण, सम्प्राप्ति तथा लक्षण—अधिक मैथुन, अतिभारवहन और अतिमार्गगमन, कुश्ती आदि, घोड़े वा हाथी को बलपूर्वक रोकना, इन कारणों से तथा स्निग्धाहार न करने के कारण रूक्ष पुरुष के वक्षःस्थल के भीतर क्षत हो जाता है। इसी क्षत को लेकर (कारण बनाकर) वायु खांसी उत्पन्न कर देता है। उस रोगी को पहले सूखी खांसी होती है। तदनन्तर कण्ठ में पीड़ा होने लगती है तत्पश्चात् फुफ्फुसों में पीड़ा होने लगती है तदनन्तर क्रमशः निम्नांकित लक्षण प्रकट होने लगते हैं। फुफ्फुसों में तीखी सूइयों के चुभने की सी पीड़ा एवं उनमें भयानक शूल, तथा छाती में स्पर्शमात्र से वेदना फटने की सी पीड़ा एवं जलन, सन्धियों की पीड़ा, ज्वर, श्वास, तृष्णा एवं स्वरभेद से रोगी को अधिक पीड़ा होती है। इस क्षतज खाँसी के वेग से कबूतर के समान शब्द निकलता है।

क्षयजकासस्य लक्षणम्।

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ।
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ॥ १२ ॥ च०चि०अ०१८

स गात्रशूल-ज्वर-दाह-मोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत कासी ।
शुष्यन्विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ॥
तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति ॥१३॥
सु० उ० अ० ५२

अर्थ—क्षयज कास का कारण सम्प्राप्ति एवं लक्षण इस प्रकार है—

विषम तथा प्रकृति विरुद्ध भोजन, अति मैथुन, वेगनिग्रह, घृणा एवं शोक से जठराग्नि मन्द होने पर तीनों दोष कुपित होकर क्षयज कास को कर देते हैं। इस कास से शरीर क्षीण हो जाता है और वह रोगी क्रमशः गात्रशूल, ज्वर, दाह, मोह एवं अन्त में प्राण (बल) के क्षय को प्राप्त करता है। तदनन्तर सूखने[1] लगता एवं दुर्बल होता जाता है। मांसपेशियां (पूर्णतया रक्त प्राप्त न होने के कारण) सूखती जाती हैं। क्योंकि पूय सहित रक्त खांसी के साथ निकलता जाता है। इन सब लक्षणों से युक्त इस क्षयज कास को वैद्य लोग अत्यन्त कष्टसाध्य कहते हैं।

साध्यासाध्यत्वविचारः।

इत्येषः क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः।
साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः॥ १४॥
नवौ कदाचित्सिध्येतामपि पादगुणान्वितौ।
स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः।
त्रीन्पूर्वान्साधयेत्साध्यान्पथ्यैर्याप्यांस्तु यापयेत्॥ १५। च० चि० अ० १८

अर्थ—यह क्षयज कास क्षीण एवं मांसवाले रोगियों का शरीरनाशक होता है अथवा बलवानों का क्षयज कास साध्य भी होता है क्षतज कास तो याप्य ही होता है। चिकित्सा के चारों[2] अंगों के एकत्रित रहने पर नवीन उत्पन्न हुए क्षयज कास कभी कभी सिद्ध भी हो जाते हैं। वृद्धों के बुढ़ापे के कारण उत्पन्न हुए सभी कास याप्य होते हैं। अतः उनकी चिकित्सा करे एवं याप्यों को कास साध्य होते हैं। पहले के तीनों वातज, पित्तज एवं कफज उभड़ने न दे। औषधियों एवं पथ्य देकर दबाता रहे।

१—शुष्कं विनिष्ठीवतिपाठ अधिक उपयोगी है। क्योंकि यदि शुष्यन् पाठ रखते हैं तो 'प्रक्षीणमांसः' का क्या अर्थ होगा? विचारिये।

२—भिषक्, द्रव्याणि, उपस्थाता (परिचारक) रोगी पादचतुष्टयम्। चिकित्सितस्य निर्दिष्टम्॥ वा० सू० अ० १

हिक्कानिदानम् ।

हिक्का-श्वासयोर्निदानानि ।

विदाहि-गुरु-विष्टम्भि-रूक्षाभिष्यन्दि-भोजनैः ।
शीत-पानाशन-स्थान-रजो-धूमाऽऽतपानिलैः ॥१॥
व्यायाम-कर्म-भाराध्व-वेगाऽऽघातापतर्पणैः ।
हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते ॥२॥ सु० उ० अ० ५०

अर्थ—विदाहकारी, गुरु, विष्टम्भी (अन्त्रों की गति में रुकावट डालने वाले) रूक्ष, अभिष्यन्दी (पिच्छिलता एवं गौरव के कारण रस-वाही स्रोतों को रोक कर शरीर में भारीपन उत्पन्न करने वाले) भोजनों से, शीत पान, भोजन एवं स्थान, धूलि, धुआँ, धूप एवं दूषित (कर्बन द्विओषित से अधिक मिश्रित) वायु के सेवन से, व्यायाम, भारवहन, मार्गगमन, वेगरोध एवं पोषक पदार्थों के अभाव से मनुष्यों को हिक्का, श्वास तथा कास उत्पन्न हो जाता है ।

हिक्कानां स्वरूपं निरुक्तिश्च ।

मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन् ।
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून्यतस्ततस्तु हिक्केत्यभिधीयतेबुधैः ॥३॥
सु० उ० अ० ५०

अर्थ—उदान युक्त प्राणवायु सन् सन् शब्द करता हुआ यकृत्, प्लीहा तथा अन्त्रों को मुख से फेंकने की सी चेष्टा करता हुआ (हिक्) ध्वनि युक्त बारम्बार मुख से बाहर निकलता है । क्योंकि यह प्राणों को नष्ट[१] कर देता है, इसलिये बुद्धिमान् इसे हिक्का कहते हैं ।

१—इस रोग में वायु सहसा (एकाएक) "हिक्" ध्वनि करता हुआ निक-लता है । बस इसी को हिक्का या हिचकी कहा जाता है ।

२—हिक्का की "हिनस्ति असून् इति हिक्का" यह निरुक्ति केवल गम्भीरा एवं महती नामक हिक्काओं पर ही घट सकती है । दूसरी तीनों पर नहीं अतः शाब्दिकों की "हिक् इति कृत्वा कायति" अथवा "हिक्क अव्यक्ते शब्दे" धातु से निरुक्ति करना अधिक उत्तम एवं उचित है ।

हिक्कानां भेदाः सम्प्राप्तिश्च ।

अन्नजां यमलां क्षुद्रां गम्भीरां महतीं तथा ।

वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि ॥४॥ सु० उ० अ० ५०

अर्थ—अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा तथा महती नामक पांच हिचकियों को कफ युक्त वायु उत्पन्न करता है ।

हिक्कानां पूर्वरूपाणि ।

कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता ।

हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥५॥ च० चि० अ० १७

अर्थ—कण्ठ एवं वक्षस्थल (कण्ठनलिका एवं फुफ्फुसों) में भारीपन, मुँह का कसैलापन, उदर में गुड़गुड़ाहट, ये हिक्काओं के पूर्वरूप हैं ।

अथान्नजाया लक्षणम् ।

पानान्नैरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः ।

हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥६॥ सु० उ० अ० ५०

अर्थ—अत्यधिक पेय और भोज्य पदार्थों के सेवन से एकाएक पीड़ित हुआ वायु ऊर्ध्वगामी होकर हिक्का को उत्पन्न करता है । इसे वैद्य "अन्नजा" हिक्का जाने ।

यमलाया लक्षणम् ।

चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का संप्रवर्तते ।

कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत् ॥७॥ सु० सू० अ० ५०

अर्थ—विलम्ब से किन्तु युगल वेग से जो हिचकी सिर तथा ग्रीवा को कम्पित करती हुई प्रवृत्त होती है, उसे "यमला" कहा जाता है ।

क्षुद्राया लक्षणानि ।

प्रकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते ।

क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात्प्रधाविता ॥८॥ सु० उ० अ० ५०

अर्थ—विलम्ब से मन्द-मन्द वेगों द्वारा जत्रुमूल से उठने वाली जो हिचकी आती है, उसे क्षुद्रिका कहा जाता है ।

गम्भीराया लक्षणम् ।

नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी ।
अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता ॥९॥ सु० उ० अ० ५०

अर्थ—उदर के निचले भाग से उठी हुई, भयानक, गम्भीर शब्द-वाली, तृष्णा ज्वरादि अनेक उपद्रवों से युक्त गम्भीरा नामक हिक्का मानी जाती है।

महत्या लक्षणम् ।

मर्माण्युत्पीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते ।
महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रविकम्पिनी ॥१०॥ सु० उ० अ० ५०

अर्थ—नाभि, बस्ति, हृदय, शिर आदि मर्मों को पीड़ित एवं सम्पूर्ण शरीर को कम्पित करती हुई जो हिक्का प्रवृत्त होती है, उसे महाहिक्का जानना चाहिये।

हिक्कानामसाध्यलक्षणानि ।

आयम्यते हिक्कतो यस्य देहो
दृष्टिश्चोर्ध्वं नाम्यते यस्य नित्यम् ।
क्षीणोऽन्नद्विट् क्षौति यश्चातिमात्रं
तौ द्वौ चान्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ ॥ ११ ॥ सु० उ० अ० ५०

अर्थ—हिचकी लेते समय जिसका शरीर (वक्षःस्थल) तन जाता हो,[1] जिस की दृष्टि सर्वथा ऊपर चढ़ गई हो,[2] जो क्षीण एवं अन्न का द्वेषी हो, अधिक छींकता हो और जिसे अन्तिम दोनों (गम्भीरा और महती) हिक्कायें हों, उस रोगी को त्याग देना चाहिये।

प्रकारान्तरेण हिक्कायामसाध्यलक्षणानि ।

अतिसंचितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥ १२ ॥
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम् ।

१—२—मरते समय प्रायः ये लक्षण देखे जाते हैं।

अर्थ—जिसके शरीर में दोष संचित हो गये हैं, भोजन न खा सकने के कारण जो कृश हो गया है, रोगों द्वारा जिसका शरीर क्षीण हो चुका है और जो वृद्ध एवं अतिमैथुनशील है, ऐसे लोगों को इन हिक्काओं में से जो भी हिक्का उत्पन्न होती है, वह उन्हें मार डालती है।

यमिका च प्रलापाऽऽर्ति-मोह-तृष्णा-समन्विता ॥ १३ ॥
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः ।
तस्य साधयितु शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥१४॥ च० चि० अ० १७

अर्थ—प्रलाप, पीड़ा, मोह और तृष्णा से युक्त यमला हिक्का असाध्य होती है। जो रोगी क्षीण नहीं, सुस्त नहीं और जिसकी धातुएँ एवं इन्द्रियाँ स्थिर हैं, ऐसे रोगी की यमिका हिक्का साध्य, अन्यथा असाध्य होती है।

श्वासनिदानम्[1] ।

श्वासरोगस्य भेदाः ।

महोर्ध्व-च्छिन्न-तमक-क्षुद्र-भेदैस्तु पञ्चधा ।
भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः ॥१॥ सु० उ० अ० ५१

अर्थ—यह श्वास नामक महाव्याधि एक होने पर भी विशेष कारणों से निम्न पाँच भागों में बंट जाती है—१ महाश्वास, २ ऊर्ध्वश्वास, ३ छिन्नश्वास, ४ तमकश्वास तथा ५ क्षुद्रश्वास।

वातादीनां सम्बन्धः ।

(वाताधिको भवेत् क्षुद्रस्तमकस्तु कफोद्भवः ।
कफ-वाताधिकश्चैव संसृष्टश्छिन्नसंज्ञकः ।
श्वासो मारुतसंसृष्टो महानूर्ध्वस्ततो मतः ॥ १ ॥)

१—श्वास-निःश्वास की परम्परा में कष्ट होना या उसका सुखपूर्वक न होना ही "श्वास" रोग कहलाता है। इस रोग में फुफ्फुसों के वायुकोष्ठ या तो संकुचित हो जाते हैं अथवा कफ से भर जाते हैं। यही कारण है कि मनुष्य भरपूर या उचित रूप से साँस नहीं ले सकता। श्वासनलिका भी संकुचित या कफयुक्त हो जाती है।

अर्थ—क्षुद्रश्वास में वायु, तमकश्वास में कफ, छिन्नश्वास में कफ-वात, महान् एवं ऊर्ध्वश्वास में वायु प्रधान होता है ।

श्वासरोगस्य पूर्वरूपम् ।

प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा शूलमाध्मानमेव च ।
आनाहो वक्त्रवैरस्यं शंखनिस्तोद एव च ॥ २ ॥

अर्थ—उस के पूर्व रूप ये हैं—हृदय में पीड़ा,[1] उदर में शूल, पेट का फूलना, अँतड़ियों की गति में रुकावट,[2] मुख का फीकापन, पुटपुटियों में तोद ।

श्वासरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः ।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः ॥३॥ च० चि० अ० १७

अर्थ—जब कफपूर्वक वायु फुप्फुसीय वायुकोष्ठों को रोक कर स्वयं उन्हीं में उलझ कर प्रतिलोम गति करने लगता है, तब वह श्वास को उत्पन्न कर देता है ।

महाश्वासस्य लक्षणानि ।

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद्दुःखितो नरः ।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥ ४ ॥
प्रनष्ट-ज्ञान-विज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः ।
विवृताक्ष्याननो बद्ध-मूत्र-वर्चा विशीर्णवाक् ॥ ५ ॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम् ।
महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते ॥ ६ ॥ च० चि० अ० १७

अर्थ—जो मनुष्य ऊपर को शब्द युक्त श्वास लेते हुए अत्यन्त दुखी हो जाता है और मतवाले बैल की तरह निरन्तर ऊँचे-ऊँचे श्वास लेता है, जिसका ऐन्द्रियिक एवं बौद्धिक ज्ञान नष्ट हो जाता है, आँखें घूम

१—फुप्फुसों का दबाव पड़ने के कारण ।

२—इसी कारण श्वासरोगी प्रायः मलावरोध से पीड़ित रहते हैं ।

जाती हैं, आँख और मुख खुले रह जाते हैं, मल-मूत्र रुक जाते हैं, बोली नष्ट हो जाती है, अत्यन्त सुस्त हो जाता है, किन्तु इसका श्वास पर्याप्त दूर से सुनाई पड़ता है। यह महाश्वास का रोगी शीघ्र ही (मिनटों में) मर जाता है।

अथोर्ध्वश्वासलक्षणम्।

ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः।
श्लेष्मावृत-मुख-स्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः॥ ७॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः।
प्रमुह्यन्वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः॥ ८॥
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधः श्वासो निरुध्यते।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून्॥९॥ च० चि० अ० १७

अर्थ—जो रोगी ऊपर को लम्बा श्वास ले लेता है किन्तु वह श्वास लौटकर बाहर नहीं आता और कफ से मुख एवं फुफ्फुसीय वायुकोष्ठ रुक जाते हैं, वह रोगी उस दूषित वायु से बुरी तरह दुखी होता है। उसकी दृष्टि ऊपर की ओर लगी रहती है अथवा इधर-उधर नाचती[1] रहती है तथा ठीक ठीक दृष्टिज्ञान नहीं रहता। वह बेहोश और भीषण वेदनाओं से पीड़ित हो जाता है। मुख संफेद हो जाता है। रोगी मूर्च्छित-अथवा बेचैन हो जाता है। ऊर्ध्वश्वास के कुपित हो जाने पर बाहर को निकलनेवाला श्वास भी रुक जाता है। उस मूर्च्छित अज्ञा-नांधकार में डूबे हुए मनुष्य के प्राणों को यह ऊर्ध्वश्वास नष्ट कर देता है।

छिन्नश्वासस्य लक्षणम्।

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः।
न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः॥१०॥
आनाह-स्वेद-मूर्च्छाऽर्तो दह्यमानेन बस्तिना।

१—पार्श्ववर्त्ती लोग समझते हैं कि रोगी अपनी प्रिय वस्तुओं को देखता है या देखना चाहता है, सम्भव है उसके मन में यही बात हो।

विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ॥११॥
विचेताः परिशुष्काऽऽस्यो विवर्णः प्रलपन्नरः ।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्र विजहात्यसून् ॥१२॥ च० चि० अ० १७

अर्थ—छिन्न[1]श्वास से पीड़ित रोगी बलपूर्वक भी पूरा श्वास नहीं ले सकता अथवा रुक ही जाता है। अतएव रोगी हृदय के कटने की सी पीड़ा से और भी दुखित हो जाता है। आनाह, पसीना अथवा मूर्च्छा से पीड़ित होता है, बस्ति में दाह होता है, आंखों में आंसू आ जाते हैं, श्वास लेते समय दुखी हो जाता है, एक आंख लाल हो जाती है। रोगी बेचैन; बदरंग और प्रलापी हो जाता है। उसका मुख सूख जाता है। इस प्रकार छिन्नश्वास से पीड़ित मनुष्य शीघ्र ही प्राणों को छोड़ देता है[1]।

तमकश्वासलक्षणम् ।

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते ।
ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥१३॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा ।
अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥१४॥
प्रताम्यति स वेगेन तृष्यते सन्निरुध्यते ।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥१५॥
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः ।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ॥१६॥
तथाऽस्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम् ।
न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥१७॥
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः ।

१—महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास एवं छिन्नश्वास मरते समय प्रायः हो ही जाते हैं। ९० प्रतिशत रोगियों की मृत्यु इन्हीं के उत्पन्न होने पर होती है।

२—संसार में श्वास के जितने रोगी हैं, वे सब इसी श्वास के रोगी हैं।

आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥१८॥
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्तिमान् ।
विशुष्काऽऽस्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥१९॥
मेघाम्बु-शीत-प्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्धते ।
स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ॥२०॥

च० चि० अ० १७

अर्थ—जब वायु प्रतिलोम होकर वायुकोष्ठों में पहुँचता है, तब ग्रीवा तथा शिर में पीड़ा कर श्लेष्मा को उभाड़ कर पीनस (जुकाम) कर देता है । इसके पश्चात् उसी कफ से रुका हुआ वायु घुरघुर शब्द वाले तथा अत्यन्त भीषण वेग से प्राणों को कष्ट देने वाले श्वास को कर देता है । श्वास के वेग से रोगी को आँखों के सामने अन्धेरा प्रतीत होता है, प्यास लगती है, वह सुस्त हो जाता है, खांसते खाँसते बार २ बदहोश हो जाता है, श्लेष्मा के श्वासमार्ग को न छोड़ने के कारण बहुत दुखित होता है एवं उसके छोड़ देने पर कुछ क्षणों के लिये सुख प्राप्त करता है । रोगी का गला बैठ जाता है, वह कष्टपूर्वक बोलने में समर्थ होता है, श्वास की पीड़ा के कारण सोते समय नींद नहीं आती । सोते समय उसकी पसलियों में वायु पीड़ा करता है । बैठने पर सुख प्राप्त होता है एवं उष्ण पदार्थों की इच्छा करता है । आंखें उठी हुई होती हैं, ललाट से पसीना आता है, अत्यन्त पीड़ित होता है, मुख सूख जाता है, बार बार श्वास लेता तथा झूमा करता है । यह श्वास बादल, जल, शीत, पूर्वीय वायु एवं कफकारक पदार्थों से बढ़ता है । यह 'तमक-श्वास' नामक श्वास रोग याप्य होता है अथवा नवीन उठा हुआ साध्य भी होता है ।

प्रतमकश्वासलक्षणम् ।

ज्वर-मूर्च्छा-परीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तम् ।
उदावर्त-रजो-ऽजीर्ण-क्लिन्न-काय-निरोधजः ॥ २१ ॥
तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति ।

मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात्संतमकं तु तम् ॥२२॥ च०चि०अ०१७

अर्थ—उपर्युक्त लक्षणों के साथ ही ज्वर और मूर्च्छा से युक्त श्वास को 'प्रतमक'[1] नामक श्वास जानना चाहिये । यह उदावर्त्त, धूलि, अजीर्ण, बुढ़ापा एवं वेगावरोधों से उत्पन्न होता है और अन्धकार में अत्यन्त बढ़ता है तथा शीत उपायों से शीघ्र ही शान्त हो जाता है । इसी में जब रोगी के सामने अन्धेरा छाने सा ज्ञात होने लगता है तो उसके श्वास को 'सन्तमक'[2] जानना चाहिये ।

क्षुद्रश्वासस्य लक्षणानि ।

रूक्षायासोद्भवः[3] कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन् ।
क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥ २३ ॥
हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे ।
न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥ २४ ॥
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि कांचिदापादयेद्रुजम् ।
स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥ २५ ॥

च० चि० अ० १७

अर्थ—स्नेह रहित आहार एवं परिश्रम से उत्पन्न साधारण वायु जब फुप्फुसों में प्रतिलोम गति करता है, तब 'क्षुद्र' नामक श्वास हो जाता है, वह शरीर को अधिक कष्ट नहीं देता । अंगों की गति में कोई रुकावट नहीं डालता दूसरे श्वासों के समान दुखदायी नहीं होता और न खान-पान की उचित गति को ही रोकता है एवं इन्द्रियों की खिन्नता अथवा अन्य किसी प्रकार की पीड़ा को ही उत्पन्न करता और यह साध्य भी होता है । यों तो बलवान् पुरुष के वे सभी श्वास साध्य होते हैं, जिनके लक्षण पूर्णतया प्रगट न हुए हों ।

१—२—प्रतमक एवं सन्तमक श्वास में पित्त का प्राबल्य होता है । एवं यह दोनों तमकश्वास के ही भेद हैं ।

३—इसे तो प्रायः रोग समझा ही नहीं जाता । लोग इसे दुर्बलता या कमजोरी ही समझ कर रह जाते हैं ।

अथैषां साध्यासाध्यविचारः ।

क्षुद्रः साध्यो मतस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते ।
त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥२६॥ सु० उ० अ० ५१

अर्थ—इनमें क्षुद्र श्वास साध्य तथा तमक कृच्छ्रसाध्य एवं अवशिष्ट तीन श्वास और दुर्बल[1] मनुष्य का तमक-श्वास असाध्य होता है ।

अथैषां मारकत्वम् ।

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।
यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु वै ॥२७॥ च० चि० अ० १७

अर्थ[2]—यद्यपि प्राणों को नष्ट करनेवाले बहुत से रोग हैं, परंतु वे वैसे शीघ्र मारक नहीं होते जैसे श्वास अथवा हिक्का होते हैं ।

स्वरभेदनिदानम् ।

स्वरभेदस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः ।

अत्युच्चभाषणविषाध्ययनाभिघात-
संदूषणैः प्रकुपिताः पवनादयस्तु ।
स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां
हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः ॥ १ ॥

सु० उ० अ० ५३

अर्थ—अत्यन्त ऊँचे स्वर से भाषण, विषसेवन[3], अध्ययन, स्वर-

१—अर्थात् बलवान् का साध्य होता है ।

२—इसके पूर्व महर्षि चरक के 'अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः । अन्ते सञ्जायते हिक्का श्वासो वै तीव्रवेदनः ॥" इस पाठ को जोड़ देना चाहिये तो स्पष्ट संगति बैठ जाती है । अथवा श्वास प्रश्वास क्रिया पर ही जीवन स्थिति निर्भर है और ये दोनों रोग उसी पर आक्रमण करते हैं । अतः अन्य रोगों की अपेक्षा ये दोनों शीघ्र ही प्राणनाशक हो सकते हैं ।

३—प्रायः गायकों को द्वेषवश सिन्दूर (शीशक विष) खिला दिया जाता है, जिसके कारण बेचारों का गला सर्वदा के लिये बिगड़ जाता है ।

यन्त्र पर आघात तथा दोषोंको दूषित करनेवाले आहारविहारों से कुपित हुए वातादि दोष स्वरवाही स्रोतों में स्थित होकर स्वर को बिगाड़ देते हैं। इसी को 'स्वरभेद'[1] कहते हैं जो छः प्रकार का होता है।

(वातादिभिः पृथक् सर्वैर्मेदसा च क्षयेण च ।)

अर्थ—वातादि दोषों से तीन, सन्निपात से एक, मेद से एक और क्षय से एक इस प्रकार छः स्वरभेद हुये।

वातिकस्वरभेदस्य लक्षणम् ।

वातेन कृष्ण-नयना-ऽऽनन-मूत्रवर्चा
भिन्नं शनैर्वदति गर्दभवत् खरं च । सु॰ सू॰ अ॰ ५३

अर्थ—वायु से आँख, मुख, मूत्र एवं पुरीष में कालापन हो जाता है, टूटे हुये स्वर से धीरे धीरे गर्दभ स्वर के समान कर्णकटु स्वर निकलता है।

पैत्तिकस्वरभेदस्य लक्षणम् ।

पित्तेन पीत-नयना-ऽऽनन-मूत्र-वर्चा
ब्रूयाद्गलेन स च दाहसमन्वितेन ॥ २ ॥ सु॰ सू॰ अ॰ ५३

अर्थ—आंख, मुख, मूत्र एवं पुरीष पीला हो जाता है और बोलते समय रोगी के गले में दाह हो जाता है।

कफजस्वरभेदस्य लक्षणम् ।

ब्रूयात्कफेन सततं कफरुद्धकण्ठः
स्वल्पं शनैर्वदति चापि दिवा विशेषात् । सु॰ उ॰ अ॰ ५३

अर्थ—कफ से बोलते समय निरन्तर गले में कफ रुका रहता है, धीरे धीरे बहुत थोड़ा बोल सकता है। परन्तु दिन में कुछ अधिक भी बोल सकता है।

सान्निपातिकस्वरभेदस्य लक्षणम् ।

सर्वात्मके भवति सर्वविकारसम्पत्

१—इसी को "स्वर बिगड़ना" या "गला बैठना" या "आवाज खराब होना" कहा जाता है।

तं चाप्यसाध्यमृषयः स्वरभेदमाहुः ॥ ३ ॥ सु० उ० अ० ५३

अर्थ—सन्निपात से उपर्युक्त सभी लक्षण प्रकट हो जाया करते हैं और महर्षि इसे असाध्य कहते हैं।

क्षयजस्वरभेदस्य लक्षणम्।

धूप्येत वाक् क्षयकृते क्षयमाप्नुयाच्च
वाक्, एष चापि हतवाक् परिवर्जनीयः। सु० उ० अ० ५३

अर्थ—धातुओं के क्षय से होनेवाले स्वरभेद में बोलते समय धूआं सा निकलता है और स्वर क्षीण होता है। ऐसे हतवाक् रोगी को छोड़ देना चाहिये।

मेदोजस्वरभेदस्य लक्षणम्।

अन्तर्गतस्वरमलक्ष्यपदं चिरेण
मेदोऽन्वयाद्वदति दिग्धगलस्तृषार्तः ॥ ४ ॥ सु० उ० अ० ५३

अर्थ—मेद के कारण स्वर भीतर ही रह जाता है, यदि विलम्ब से रोगी किसी प्रकार बोलता भी है तो उस की शब्दावली श्रोता नहीं समझ पाते। स्वरयन्त्र की भीतरी दीवारों में चरबी भर जाने के कारण मोटा-पन आ जाता है। उसे प्यास भी अधिक लगती है।

स्वरभेदस्य असाध्यलक्षणानि।

क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य वाऽपि चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः।
मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति ॥ ५ ॥
सु० उ० अ० ५३

अर्थ—क्षय के रोगियों, बूढ़े, कृश तथा मेदस्वी मनुष्यों का, पुराना, जन्मजात एवं सान्निपातिक स्वरभेद कभी अच्छा नहीं हो सकता।

अरोचकनिदानम्[1]।

अथारोचकनिदानम्।

वातादिभिः शोक—भयातिलोभ-क्रोधैर्मनोघ्नाशन—रूप-गन्धैः।

१—इस रोग में रसग्राही संस्थान पर दोषों का प्रभाव पड़ने के कारण भोक्ता को भोजन का स्वाद नहीं आता अथवा खाने को मन नहीं चाहता।

अरोचकाः स्युः,— च० चि० अ० २६

अर्थ—वातादि दोषों से, शोक, भय, अतिलोभ, क्रोध तथा घृणोत्पादक भोजन, रूप एवं गन्ध से 'अरोचक' नामक रोग हो जाता है।

वातिकारोचकलक्षणम्।

—परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥१॥ च० चि० अ० २६

अर्थ—वायु से होने वाले अरोचक में दन्तहर्ष तथा मुंह में कसैलापन होता है।

पैत्तिकारोचकलक्षणम्।

कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्यात्,— च०चि०अ० २०

अर्थ—पित्त से मुख कडुआ, खट्टा अथवा फीका, उष्ण एवं दुर्गन्धि युक्त होता है।

श्लैष्मिकारोचकलक्षणम्।

—लवणं च वक्त्रम्।
माधुर्य–पैच्छिल्य–गुरुत्व–शैत्य–विबद्ध–सम्बद्ध–युतं कफेन ॥२॥
च० चि० अ० २६

अर्थ—कफ से मुख नमकीन, मीठा, चिपचिपा, भारी, ठंढा, बंधा एवं कफ से लिपा हुआ हो जाता है।

अथागन्तुजारोचकस्य लक्षणम्।

अरोचके[1] शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात्।
स्वाभाविकं चास्यमथारुचिश्च,— च० चि० अ० २६

अर्थ—शोक, भय, अतिलोभ, क्रोधादि, घृणोत्पादक और अपवित्र गन्ध से होने वाले अरोचक में मुख का स्वाद स्वाभाविक ही होता एवं अरुचि बनी रहती है।

सान्निपातिकारोचकलक्षणम्।

—त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु ॥ ३ ॥ च० चि० अ० २६

अर्थ—त्रिदोषज अरोचक में मुख का स्वाद दोष की प्रधानता के अनुसार होता है।

१—शोकादि के कारण भोजन की इच्छा ही नहीं होती।

अथारोचकस्य लक्षणान्तराणि ।

हृच्छूल-पीडन-युतं पवनेन, पित्ता-
त्तृड्-दाह-चोष-बहुलं, सकफप्रसेकम् ।
श्लेष्मात्मकं, बहुरुजं बहुभिश्च विद्या-
द्वैगुण्य-मोह-जडताभिरथापरं च ॥४॥

अर्थ—वायु से हृदय में शूल एवं संकोच, पित्त से प्यास, दाह और हृदय में टीस; कफ से थूक में कफ, सन्निपात से उपर्युक्त सभी लक्षण और आगन्तुक अरोचक में बेचैनी, बदहोशी तथा निश्चेष्टता होती है ।

छर्दिनिदानम् ।

छर्दिरोगस्य सनिर्वचनं निदानम् ।

दुष्टैर्दोषैः पृथक् सर्वैर्बीभत्साऽऽलोचनादिभिः ।
छर्दयः पञ्च विज्ञेयास्तासां लक्षणमुच्यते ॥ १ ॥

अर्थ—पृथक् पृथक् दुष्ट दोषों एवं सन्निपात तथा घृणोत्पादक रूप रस गन्धादिकों से पांच प्रकार का छर्दि रोग होता है । उनके लक्षण (निदान पूर्वरूपादि) कहते हैं ।

अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति ।
अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥ २ ॥
श्रमाद्भयात्तथोद्वेगादजीर्णात् क्रिमिदोषतः ।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥ ३ ॥
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ।
छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ।[2]

१—कहा जाता है कि आमाशय में संकोच होता है तो वह अपने में स्थित द्रव्य को मुखमार्ग से बाहर निकाल देता है, अस्तु । इसी को छर्दि या वमन या कै या उलटी कहा जाता है ।

२—बिनिश्चरन् (सु०) पाठ अत्युपयुक्त है ।

निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥४॥ सु० उ० अ०४६

अर्थ—अत्यन्त पतले, अत्यन्त चिकने, घृणोत्पादक, अत्यन्त[1] नमकीन, अकाल में अत्यधिक तथा प्रकृतिविरुद्ध भोजन करने से, परिश्रम, भय, घबड़ाहट, अजीर्ण एवं क्रिमिदोष से, स्त्रियों को गर्भाधान[2] से, अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक भोजन करने से अथवा अन्यान्य घृणोत्पादक कारणों से हठात् शीघ्र उभड़ा हुआ, अपने वेग से मुख ढकता हुआ तथा शरीर को पीड़ाओं से दुःखित करता हुआ मुखमार्ग की ओर दौड़ता हुआ (निकलता हुआ) दोष 'छर्दि' कहा जाता है[3]।

छर्देः पूर्वरूपाणि ।

हृल्लासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनुः ।
द्वेषोऽन्नपाने च भृशं वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥५॥ सु० उ० अ० ४९

अर्थ—जी मचलना, उद्गार न आना, मुँह में नमकीन एवं पतला पानी आना, खाने-पीने में अत्यन्त अरुचि, ये पूर्वरूप हैं।

वातिकच्छर्देर्लक्षणम् ।

हृत्-पार्श्व-पीडा-मुखशोष-शीर्ष-नाभ्यर्ति-कास-स्वरभेद-तोदैः ।
उद्गार-शब्द-प्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम् ।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ॥ ६ ॥
च० चि० अ० २३

अर्थ—वायु से हृदय एवं पार्श्वों (फुप्फुसों) में पीड़ा, मुख सूखना, सिर तथा नाभि में पीड़ा, खांसी, स्वरभेद एवं व्यथा से युक्त, झाग और छिछिड़ों से युक्त, काला, पतला, कसैला, थोड़ा द्रव्य कष्ट के

१—यही कारण है जो समुद्रजल एवं उष्ण लवणोदक का पान करने से वमन हो जाती है।

२—प्रकृतिभेद से किसी स्त्री को तो गर्भाधान के प्रथम दिन से ही अथवा किसी को चौथे पाचवें महीने में वमन होती है और किसी को कभी वमन नहीं होती।

३—न जाने दो धातुओं को मिलाकर "छर्दि" शब्द का निर्माण करने की क्या आवश्यकता थी, जब कि "छर्द वमने" (चुरादि) धातु विद्यमान थी। अस्तु।

साथ किन्तु बड़े वेग से निकलता है। इस छर्दि से रोगी अधिक दुखी होता है।

पैत्तिकच्छर्देर्लक्षणम्।

मूर्च्छा-पिपासा-मुखशोष-मूर्ध-ताल्वक्षि-सन्ताप-तमो-भ्रमाऽऽर्तः।
पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम् ॥ ७ ॥

च० चि० अ० २३

अर्थ—पित्त से मूर्च्छा, प्यास, मुखशोष, सिर, तालु एवं आंख में सन्ताप, आंख के आगे अंधेरा तथा चक्कर से पीड़ित रोगी पीला, गरम, हरा, कडुआ धूमिल एवं दाह से युक्त वमन करता है।

कफजच्छर्देर्लक्षणानि।

तन्द्रा-ऽऽस्यमाधुर्य-कफप्रसेक-सन्तोष-निद्रा-ऽरुचि-गौरवाऽऽर्तः।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं सरोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु ॥ ८ ॥

अर्थ—कफ से तन्द्रा, मुख का मीठापन, मुख से पानी जाना, पेट भरा सा मालूम होना, नींद, अरुचि, शरीर के भारीपन से युक्त रोगी चिकने, गाढ़े, मधुर एवं स्वच्छ द्रव्य की वमन करता है। इस समय रोगी को रोमांच होता है तथा अधिक पीड़ा नहीं होती।

सान्निपातिकच्छर्देर्लक्षणानि।

शूला-ऽविपाका-ऽरुचि-दाह-तृष्णा-श्वास-प्रमोह-प्रबला प्रसक्तम्।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणा-ऽम्ल-नील-सान्द्रोष्ण-रक्तं वमतां नृणां स्यात्॥

च० चि० अ० २३

अर्थ—सन्निपात से शूल, अपच, अरुचि, दाह, प्यास, श्वास एवं बदहोशी की प्रबलता से युक्त निरन्तर छर्दि होती है एवं उसमें नमकीन, खट्टा, नीला, गाढ़ा, उष्ण द्रव्य रक्त से मिला हुआ निकलता है।

छर्देरसाध्यलक्षणानि।

विट्[1]-स्वेद-मूत्रा-ऽम्बु-वहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥१०॥

१—बतलाइये यह असाध्य क्यों है।

विण्-मूत्रयोस्तत्सम-गन्धवर्णं तृट्-श्वास-हिक्कार्ति-युतं प्रसक्तम् ।
प्रच्छर्दयेद्दुष्टमिहातिवेगात्तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति ॥ ११ ॥
च० चि० अ० २३

अर्थ—जब वायु पुरीष, स्वेद, मूत्र एवं जल को बहाने वाले स्रोतों को रोक कर उभड़े हुए दोषोंवाले मनुष्य के कोष्ठ से उस सञ्चित दोष को लिये दिये ऊपर को आता है, तब मूत्र-पुरीष के समान गन्ध एवं वर्ण से युक्त दूषित द्रव्य बड़े वेग के साथ निकलता है। उस रोगी को प्यास, श्वास, हिचकी एवं पीड़ा बहुत अधिक हो जाती है और इससे पीड़ित रोगी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

अथागन्तुकच्छर्देर्लक्षणानि ।

बीभत्सजा दौर्हृदजामजा च असात्म्यजा च क्रिमिजा च या हि ।
सा पञ्चमी तां च विभावयेच्च दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥१२॥
सु० उ० अ० ४९

अर्थ—घृणोत्पादक रूपादिकों से, गर्भाधान से, अजीर्ण से, प्रकृति-विरुद्ध आहार-विहार से एवं क्रिमियों से जो छर्दि होती है वह पाँचवीं आगन्तुक छर्दि होती है। इनके लक्षण वही होते हैं जो पहले वातादि दोषों की छर्दियों में कहे जा चुके हैं।

क्रिमिच्छर्देर्लक्षणानि ।

शूल—हृल्लास—बहुला क्रिमिजा च विशेषतः ।
क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता ॥ १३ ॥ सु०उ०अ०४९

अर्थ—क्रिमियों से होनेवाली छर्दि में शूल, जी मिचलाना, क्रिमिज हृद्रोग के समान लक्षण विशेषरूप में पाये जाते हैं।

छर्देः साध्यासाध्यविवेकः ।

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता सोपद्रवा शोणित—पूययुक्ता ।
सचन्द्रिकां तां प्रवदेदसाध्यां साध्यां चिकित्सेन्निरुपद्रवां च ॥१४॥
च० चि० अ० २३

अर्थ—क्षीण पुरुष को लगातार वेगवाली, उपद्रवों से युक्त, रक्त

और पूय से मिश्रित मोर के पंख की चन्द्रिका के समान विविध[1] वर्णों वाली छर्दि को असाध्य समझना चाहिये और उपद्रवों से रहित छर्दि की चिकित्सा करनी चाहिये ।

छर्दिरोगस्योपद्रवाः ।

कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च ।
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः ॥ १५ ॥

अर्थ—कास, श्वास, ज्वर, हिचकी, प्यास, बेचैनी, हृद्रोग, आँखों के सामने अंधेरा छाना ये छर्दि के उपद्रव होते हैं ।

तृष्णानिदानम्[2] ।

तृष्णारोगस्य सम्प्राप्तिः ।

भय-श्रमाभ्यां बलसंक्षयाद्वा ऊर्ध्वं चितं पित्तविवर्धनैश्च ।
पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत्पिपासाम् ॥
स्रोतस्स्वपांवाहिषु दूषितेषु दोषैश्च तृट् संभवतीह जन्तोः ॥ १ ॥

अर्थ—भय, श्रम एवं बल के क्षय से तथा पित्त को बढ़ाने वाले पदार्थों से संचित एवं कुपित वायुयुक्त पित्त ऊपर तालु में गया हुआ मनुष्यों को प्यास उत्पन्न करता है । अथवा दोषों द्वारा जलवाही स्रोतों के दूषित होने पर प्राणी को प्यास उत्पन्न होती है ।

अथासां भेदाः ।

तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी क्षयात्तथा ह्यामसमुद्भवा च ।
भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासां निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥ २ ॥

सु० उ० अ० ४८

अर्थ—वातादि दोषों से तीन, क्षत से चौथी, क्षय से पांचवीं,

१—पानी पर तैरते हुए तैल के रंगविरंगे वर्ण के समान इसका रंग होता है । हमारे विचार से यह वैसा ही निकलती है ।

२—जलपान करने पर भी अथवा बार बार अथवा अनियमित प्यास लगना ही "तृष्णा" रोग है । भगवान् चरक ने "मुखशोष" को इसका पूर्वरूप माना है ।

अजीर्ण से छठीं एवं स्निग्धादि भोजनों से सातवीं, इस प्रकार सात प्रकार की तृष्णायें होती हैं, उनके लक्षण क्रमशः सुनो।

वातिकतृषाया लक्षणानि।

क्षामास्यता मारुतसंभवायां तोदस्तथा शङ्ख-शिरःसु चापि।
स्रोतोनिरोधो विरसं च वक्त्रं शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिमेति ॥३॥
सु० उ० अ० ४८

अर्थ—वायु की तृष्णा में चेहरे का उतर जाना, पुटपुटी एवं सिर में व्यथा, जलवाही स्रोतों में रुकावट[1], मुँह का फीकापन होता है। यह तृष्णा ठंढा पानी पीने से और भी बढ़ती है।

पैत्तिकतृष्णाया लक्षणानि।

मूर्च्छा-ऽन्नविद्वेष-विलाप-दाहा रक्तेक्षणत्वं प्रततश्च शोषः।
शीताभिनन्दा मुखतिक्तता च पित्तात्मिकायां परिदूयनं च ॥ ४ ॥
सु० उ० अ० ४८

अर्थ—पित्त की तृष्णा में मूर्च्छा (कभी कभी), अरुचि, प्रलाप, दाह, आँखों में लालिमा, पीये हुए पानी का निरन्तर सूखते जाना, शीत पदार्थों से प्रसन्नता, मुंह का कडुवापन, शरीर का तपना ये लक्षण होते हैं।

श्लैष्मिकतृष्णाया लक्षणानि।

वाष्पावरोधात्कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णा बलासेन भवेत्तथा तु।
निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च तृष्णार्दितः शुष्यति चातिमात्रम् ॥५॥
सु० उ० अ० ४८

अर्थ—कफ से जठराग्नि के ढक जाने पर उसकी वाष्प के रुक जाने से कफ की तृष्णा पूर्वोक्त प्रकारों ही से होती है। इसमें निद्रा, शरीर का भारीपन एवं मुख का मीठापन लक्षण होते हैं और इस तृष्णा से पीड़ित रोगी अधिक सूख जाता है।

क्षतजन्यतृष्णाया लक्षणम्।

क्षतस्य रुक्-शोणितनिर्गमाभ्यां तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु।
सु० उ० अ० ४८

१—अतएव पानी से पेट भरा रहता है और प्यास लगती जाती है।

अर्थ—घायल पुरुष की पीड़ा एवं रक्त के निकल जाने से जो चौथी तृष्णा, होती है वह क्षतजा होती है।

क्षयजतृष्णाया लक्षणानि।

रसक्षयाद्या क्षयसंभवा सा तयाऽभिभूतश्च निशादिनेषु ॥ ६ ॥
पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति तां सन्निपातादिति केचिदाहुः।
रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि तस्यामशेषेण भिषग् व्यवस्येत् ॥७॥

सु० उ० अ० ४८

अर्थ—रस के क्षय से क्षयज तृष्णा होती है। इससे पीड़ित रोगी रात-दिन पानी पीता जाता है, परन्तु सुख नहीं मिलता (प्यास बुझती ही नहीं)। इसी कारण कोई कोई आचार्य इसे सान्निपातिक तृष्णा मानते हैं। वैद्य को चाहिये कि इसमें रसक्षय के सभी लक्षणों पर ध्यान दे।

आमजतृष्णाया लक्षणम्।

त्रिदोषलिङ्गाऽऽमसमुद्भवा च हृच्छूल-निष्ठीवन-साद-कर्त्री।

सु० उ० अ० ४८

अर्थ—आमजनित तृष्णा में तीनों दोषों के लक्षणों के अतिरिक्त निम्न लक्षण भी होते हैं:—हृदय में शूल, अधिक थूक आना एवं सुस्ती।

अन्नजतृष्णाया लक्षणानि।

स्निग्धं तथाऽम्लं लवणं च भुक्तं गुर्वन्नमेवाशु तृषां करोति ॥८॥

सु० उ० अ० ४८

अर्थ—खाया हुआ चिकना खट्टा नमकीन एवं गुरु अन्न भी शीघ्र ही तृष्णा उत्पन्न कर देता है। इस तृष्णा को 'भुक्तोद्भवा' कहना चाहिये।

अथोपसर्गजतृष्णाया लक्षणानि।

दीनस्वरः प्रताम्यन् दीनः संशुष्क-वक्त्र-गल-तालुः।
भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा ॥९॥ च० चि० अ० २२

अर्थ—जो तृष्णा उपद्रवों (रोगों) से उत्पन्न होती है, वह बड़ी कष्ट-दायक एवं शरीर को सुखा डालनेवाली होती है। इसमें स्वर क्षीण हो

जाता है, आंखों के आगे अन्धेरा आने लगता है, स्वयं रोगी भी दीन हो जाता है, उसका मुख, गला एवं तालु सूख जाता है।

तृषोपसर्गाः।

ज्वर-मोह-क्षय-कास-श्वासाद्युपसृष्टदेहानाम्।
सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रयुक्तानाम्।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥१०॥ च० चि० अ० २२

अर्थ—ज्वर, मोह, क्षय, कास एवं श्वास आदि अन्यान्य रोगों से पीड़ित शरीर वाले, रोगों से दुर्बल तथा छर्दि के रोगियों की सर्वदा लगने वाली भयंकर मुख शोषादि उपद्रवों से युक्त तृष्णा रोगी को मारने के लिए ही उत्पन्न होती है।

मूर्च्छा-भ्रम-निद्रा-तन्द्रासंन्यासनिदानम्।

मूर्च्छारोगस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः।

क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः।
वेगाघातादभीघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः ॥ १ ॥
करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च।
निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः ॥ २ ॥
संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुख-दुःख-व्यपोहकृत् ॥ ३ ॥
सुखदुःख-व्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत्।
मोहो मूर्च्छेति तामाहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता ॥ ४ ॥
वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च।
षट्स्वप्येतासु पित्तं तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥५॥ सु० उ० अ० ४६

अर्थ—बल तथा मांस के क्षीण हो जाने से, दोषों के बढ़ जाने से, विरुद्ध आहारों के सेवन से, वेग रोकने से, चोट लगने से, सत्त्व गुण

(मानसिक शक्ति) से हीन मनुष्य के जब मन के बाहरी[1] एवं भीतरी[2] मार्गों में भयंकर दोष ठहर जाते हैं (उन्हें रोक लेते हैं), तब मनुष्य मूर्छित होते हैं।

निम्न प्रकार से और भी स्पष्ट हो जाता है—वायु आदि दोषों द्वारा जब संज्ञावाही नाड़ियां रुक जाती हैं तो एकाएक सुख दुख के ज्ञान को नष्ट करनेवाली मूर्च्छा आ जाती है। सुख दुःख के ज्ञान का नाश होने से मनुष्य लकड़ी के समान धड़ाम से गिर पड़ता है बस इसीको मोह[3] या मूर्च्छा[4] कहते हैं। यह निम्न रीति से ६ प्रकार की होती है।

वातादि दोषों से तीन, रक्त से चौथी, मद्य से पांचवीं तथा विष से छठीं। परन्तु इन छहों में पित्त प्रधानतया रहता है।

मूर्च्छायाः पूर्वरूपाणि।

हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च।
सर्वासां पूर्वरूपाणि, यथास्वं ता विभावयेत् ॥६॥ सु० उ० अ० ४६

अर्थ—मूर्च्छा के निम्न पूर्वरूप होते हैं—हृदय में पीड़ा, जम्भाई आना, मन की खिन्नता एवं ज्ञान की दुर्बलता। नीचे लिखे लक्षणों द्वारा उन मूर्च्छाओं को वातादिभेद से जान लेना चाहिये।

वातजमूर्च्छाया लक्षणम्।

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम्।
पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ॥ ७ ॥
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च।
कार्श्यं श्यावाऽरुणा छाया मूर्च्छाये वातसंभवे ॥८॥ च० सू० अ० २४

अर्थ—वायु की मूर्च्छा में रोगी आकाश को नीला, काला अथवा लाल देखते हुए मूर्च्छित होता है और शीघ्र ही होश में आ जाता है। होश में आने पर कांपने लगता है एवं अंगों तथा हृदय की पीड़ा का

१—पाँच कर्मेन्द्रियां, २—ज्ञानेन्द्रियाँ, इन दोनों में दोष आ जाने से चेष्टा एवं ज्ञान नष्ट हो जाते हैं।

३-४-मोह (बदहोशी) तथा मूर्च्छा (बेहोशी), इस प्रकार ये दो अवस्थाएँ हैं।

अनुभव करता है। दिनोंदिन कृश होता जाता है। चेहरे का रंग काला और लाल दिखाई देता है।

पित्तजमूर्च्छाया लक्षणम्

रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा।

पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुध्यते ॥ ९ ॥

(सपिपासः ससन्तापो रक्त-पीता-ऽऽकुलेक्षणः।)

संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसंभवे ॥ १० ॥

अर्थ—पित्त की मूर्च्छा में रोगी आकाश को लाल, हरा एवं पीला देखते हुए मूर्च्छित होता है। पसीने से लथपथ होकर होश में आता है। होश में आने पर प्यास एवं गर्मी मालूम होती है। आंखें लाल, पीली एवं व्याकुल दिखाई पड़ती हैं। यह रोगी बहुत शीघ्र मूर्च्छित होता है तथा शीघ्र ही होश में आ जाता है। रोगी को दस्त होने लगते हैं एवं उसका रंग पीला-सा हो जाता है।

कफजमूर्च्छाया लक्षणम्।

मेघसंकाशमाकाशमावृतं वा तमोघनैः।

पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥ ११ ॥

गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यदैवार्द्रेण चर्मणा।

सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छाये कफसंभवे ॥ १२ ॥

अर्थ—कफ की मूर्च्छा में रोगी साधारण बादलों अथवा काले बादलों से ढके हुए आकाश को देखते हुए मूर्च्छित होता है एवं विलम्ब से होश में आता है। गीले चमड़े से ढके हुए के समान अंगों में भारीपन का अनुभव करता है। उसके मुँह से पानी जाया करता है और उसका जी मिचलाया करता है।

सान्निपातिकमूर्च्छाया लक्षणम्।

सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः।

स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥१३॥ अ०हृ०नि०अ०६

अर्थ—सन्निपात से होनेवाली मूर्च्छा में उपर्युक्त सभी लक्षण पाये जाते हैं। वह अपस्मार के समान रोगी को बहुत शीघ्र ही बेहोश कर देता है, किन्तु इसमें अपस्मार[1] के मुख से झाग जाना, हाथ-पैरों का फड़कना एवं चेहरे की आकृति का विकृत हो जाना आदि लक्षण नहीं होते हैं।

रक्तजमूर्च्छायाः सम्प्राप्तिः ।

पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयः ।
तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः ॥ १४ ॥
द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति । सु० उ० अ० ४६

अर्थ—पृथ्वी और जल दोनों ही तमोगुण प्रधान हैं और रक्त की गन्ध भी तमोगुण प्रधान है, इसलिये रक्त[2] की गन्ध से मनुष्य मूर्च्छित हो जाते हैं। कुछ आचार्य रक्त की गन्ध को मूर्च्छा का हेतु नहीं मानते; अपितु रक्त के स्वभाव ही को मूर्च्छा का हेतु मानते हैं। क्योंकि उसके देखने से मूर्च्छा आ जाती है।

विष-मद्य-जन्यमूर्च्छाया लक्षणम् ।

गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विष-मद्ययोः ॥ १५ ॥
त एव तस्मात्ताभ्यां तु मोहौ स्यातां यथेरितौ । सु० उ० अ० ४६

अर्थ—वे लघु रूक्षादि गुण (जो कुछ न कुछ सभी पदार्थों में रहते हैं) विष एवं मद्य में तीक्ष्णतापूर्वक रहते हैं। यही कारण है कि उन दोनों से यथोक्त लक्षणों से युक्त मूर्च्छा हो जाती है।

१—अपस्मार एवं मूर्च्छा में यही भेद है।

२—हमारे विचार में सत्व-गुणी मनुष्य रक्त को देखकर नहीं घबड़ा जाता है और मूर्च्छित हो जाता है; क्योंकि रक्त की गन्ध एवं स्वभाव इसका कारण नहीं हो सकता। क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि रक्त देखने या सूंघनेवाले सभी मनुष्य मूर्च्छित नहीं होते। किसी एक मनुष्य में यह बात पायी जाती है। अर्थात् वह कभी थोड़ा-सा भी रक्त देख कर मूर्च्छित हो जाता है और कभी खून की नदी को बाहुओं से तैर कर पार कर जाता है।

रक्तजादिमूर्च्छात्रयस्य लक्षणानि ।

स्तब्धाङ्गदृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्च मूर्च्छितः ॥ १६ ॥
मद्येन विलपंश्छेते नष्ट-विभ्रान्त-मानसः ।
गात्राणि विक्षिपन् भूमौ जरां यावन्न याति तत् ॥ १७ ॥
वेपथु-स्वप्न-तृष्णाः स्युस्तमश्च विषमूर्च्छिते ।
वेदितव्यं तीव्रतरं यथास्वं विषलक्षणैः ॥१८॥ सु० उ० अ० ४६

अर्थ—रक्त की मूर्च्छा में अंग एवं आँखें जकड़ जाती हैं तथा रोगी का श्वास प्रश्वास अत्यन्त धीमा हो जाता है, मद्य से रोगी प्रलाप करते हुए सो जाता है। मानसिक शक्ति नष्ट अथवा चकरा जाती है। रोगी तब तक हाथ-पाँव पटकता रहता है, जब तक कि मद्य पच नहीं जाता। विष की मूर्च्छा से पहले कम्प, फिर प्यास, तत्पश्चात् निद्रा एवं उसके बाद मूर्च्छा हो जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के विषों से होने वाले भिन्न प्रकार के लक्षणों पर ध्यान दे लेना चाहिये अर्थात् उनके लक्षणों की मृदुता एवं तीव्रता[1] विषों की मृदुता एवं तीव्रता पर निर्भर करती है।

मूर्च्छा-भ्रम-निद्रा-तन्द्रासु दोष-गुणविशेषाद् भेदाः ।

मूर्च्छा पित्त-तमः-प्राया रजःपित्तानिलाद् भ्रमः ।
तमो-वात-कफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्म-तमो-भवा ॥१९॥

अर्थ—पित्त एवं तमोगुण की अधिकता से मूर्च्छा; पित्त, वायु एवं रजोगुण की अधिकता से भ्रम; वायु, कफ एवं तमोगुण की अधिकता से तन्द्रा; कफ एवं तमोगुण की अधिकता से निद्रा होती है।

भ्रमरोगस्य लक्षणम् ।

(चक्रवद् भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा ।

१—निम्न गुणों से युक्त कोई भी द्रव्य विष कहा जाता है:—लघु रूक्षमाशु विशदं, व्यवायि तीक्ष्णं विकाशि सूक्ष्मञ्च । उष्णमनिर्देश्यरसं, दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः ॥ च० चि० अ० २३ । वस्तुतः उक्त १० गुण ओज के गुरुस्निग्ध आदि १० गुणों को दबाकर अपना प्रभाव दिखाते हैं।

भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः ॥)

अर्थ—जिस रोग से रोगी चक्कर खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है, उसे 'भ्रम' कहते हैं। यह पित्त, वायु एवं रजोगुण की अधिकता से होता है।

तन्द्रालक्षणम्।

इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

अर्थ—जिस रोग में इन्द्रियों के विषय में पूर्ण ज्ञान न होना, शरीर का भारीपन, जम्भाई आना, सुस्ती और निद्रा से पीड़ित के समान चेष्टा होना, ये लक्षण हों, उसे "तन्द्रा" कहते हैं।

संन्यासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदः।

दोषेषु मद-मूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम्।
स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥२१॥ अ० हृ० नि० अ० ६

अर्थ—दोषों का बल घट जाने पर मद एवं मूर्च्छा स्वयमेव शान्त हो जाती है; किन्तु संन्यास बिना औषधियों के शान्त नहीं होता।

संन्यासरोगलक्षणम्।

वाग्-देह-मनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः।
संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः ॥ २२ ॥
स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः।
प्राणैर्विमुच्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥ २२ ॥

अ० हृ०नि अ० ६

अर्थ—हृदय में आश्रित अत्यन्त बलवान् दोष वाणी, देह एवं मन की क्रिया को रोककर दुर्बल मनुष्य को संन्यासी बना देते हैं। वह संन्यास का रोगी लकड़ी के समान मरा हुआ सा मालूम होता है। यदि तत्काल शीघ्र लाभ पहुँचाने वाली नस्यादि क्रिया न की जाय तो वह रोगी मर जाता है।

पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण एवं पानविभ्रम मदात्ययनिदानम् ।

ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः ।
तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः ॥ १ ॥

अर्थ—विष के जो गुण कहे गये हैं वे मद्य में भी पाये जाते हैं। अतएव विधिविरुद्ध मद्यपान से भीषण मदात्यय नामक रोग हो जाता है।

मद्यस्य स्वभाववर्णनम् ।

किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम् ।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥ २ ॥
प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या हिनस्त्यसून् ।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥३॥ च०चि०अ० १२

अर्थ—परन्तु मद्य[२] विष के समान समगुण होने पर भी अपने प्रभाव से अन्न के समान ही उपयोगी है। यह विधिविपरीत सेवन करने से रोगोत्पादक एवं विधिपूर्वक सेवन करने से अमृत के समान होता है। जैसे अन्न प्राणियों का प्राण होते हुए भी विधिरहित सेवन करने से प्राणनाशक हो जाता है उसी प्रकार विष भी प्राणनाशक होते हुये विधिपूर्वक सेवन करने से रसायन (जराव्याधिविनाशक) होता है।

१—मादक द्रव्यों के अधिक सेवन से "पानात्यय", मद (नशा) की अधिकता से "परमद", नामक द्रव्यों के अनपच से "पानाजीर्ण" एवं मादक द्रव्यों की विकृति से "पानविभ्रम" होता है।

२—इससे कदापि यह न समझना चाहिये कि मादक द्रव्य प्राणी मात्र के लिये अन्न के समान ही आवश्यक या अनिवार्य है। क्योंकि उक्त द्रव्यों में कोई भी ऐसा स्वतन्त्र गुण नहीं है जो जीवन के लिए उपयोगी प्रमाणित हो। केवल पित्त और हृदय को उत्तेजित कर मांसादिक गुरु द्रव्यों के पाक एवं रक्त परिचालन में सहायता देता है सो भी उचित मात्रा में सेवन करने पर। अतो न सेव्यमिति।

विधिनोपयुक्तस्य मद्यस्य गुणाः ।

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम् ।
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम् ॥४॥ च०चि०अ०१२७
स्निग्धैस्तदन्नैर्मांसैश्च भक्ष्यैश्च सह सेवितम् ।
भवेदायुःप्रकर्षाय बलायोपचयाय च ॥ ५ ॥
काम्यता मनसस्तुष्टिस्तेजो विक्रम एव च ।
विधिवत् सेव्यमाने तु मद्ये सन्निहिता गुणाः ॥६॥ सु०उ०अ०४७

अर्थ—विधिपूर्वक मात्रा के अनुसार उचित समय में हितकारक अन्नों के साथ यथाशक्ति प्रसन्न होकर जो मनुष्य मद का सेवन करता है उसके लिए वह अमृत के समान गुणकारी सिद्ध होता है तथा स्निग्ध (पकौड़े आदि) अन्न, मांस एवं अन्य विविध प्रकार के भोजनों के साथ सेवन करने से मद्य आयु, बल एवं पुष्टि की वृद्धि करनेवाला होता है। सौन्दर्य, मन की प्रसन्नता, उत्साह एवं शत्रुओं को दबाने की शक्ति ये सब गुण विधिपूर्वक मद्य सेवन करने से अवश्य प्राप्त होते हैं।

प्रथममदस्य लक्षणम् ।

बुद्धि-स्मृति-प्रीतिकरः सुखश्च पाना-ऽन्न-निद्रा-रति-वर्धनश्च ॥
संपाठ-गीत-स्वर-वर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि ॥ ७ ॥

अर्थ—मद्य के मद की पहली अवस्था बुद्धि, स्मृति एवं प्रीति करने वाली, सुखदायक, पीने, खाने, सोने तथा मैथुन की शक्ति को बढ़ाने वाली, अध्ययन, संगीत एवं स्वर को बढ़ानेवाली (उत्तम करनेवाली) एवं अत्यन्त रमणीय होती है।

द्वितीयमदस्य लक्षणम्

अव्यक्तबुद्धि-स्मृति-वाग्-विचेष्टः सोन्मत्त-लीलाऽऽकृतिरप्रशान्तः ।
आलस्य-निद्रा-ऽभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन ॥ ८ ॥

अर्थ—मद्य के मद की दूसरी अवस्था में मतवाले मनुष्य की बुद्धि, स्मृति एवं वाणी अस्पष्ट हो जाती है। सभी चेष्टायें विकृत हो जाती हैं,

पागल तथा कौतुकी के समान स्वरूप हो जाता है। अत्यन्त चंचल, आलसी तथा बारम्बार सो जाता है।

तृतीयमदस्य लक्षणम्।

गच्छेदगम्यान्न गुरूंश्च मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः।
ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः॥ ९॥

अर्थ—मद्य के मद की तीसरी अवस्था में पुरुष अगम्यागमन (अनुचित स्थानों पर जाना अथवा मां-बहन आदि के साथ अनुचित छेड़-छाड़) पर उतारू हो जाता है,' बड़ों का सम्मान नहीं करता, अभक्ष्य पदार्थों को खा लेता है, मन की गुप्त बातों को अनायास बक देता है एवं उसकी संज्ञा नष्ट हो जाती है।

चतुर्थमदस्य लक्षणम्।

चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रियः।
कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादप्यपरो मृतः॥ १०॥
को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम्।
बहुदोषमिवामूढः कान्तारं स्ववशः कृती॥ ११॥

अर्थ—मद्य के मद की चौथी अवस्था में मनुष्य सर्वथा बेहोश हो जाता है, टूटी हुई लकड़ी के समान गिर पड़ता है एवं क्रियाशून्य हो जाता है, कुछ होश में आने पर भी कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान से शून्य हो जाता है, अधिक क्या मरे हुए से भी बुरी दशा को प्राप्त हो जाता है।

अतः कौन भला मनुष्य उन्माद जैसी नशे की इस अवस्था को प्राप्त करने का यत्न करेगा। जैसे कोई बुद्धिमान स्वाधीन मनुष्य बहुत से दोषों (सिंह सर्पादि जन्तुओं) से युक्त वन में कभी नहीं जा सकता।

अथावैधमद्यपानस्य विकारान्तरकर्तृत्वम्।

निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम्।
आपादयेत्कष्टतमान्विकारानापादयेच्चापि शरीरभेदम्॥ १२॥

सु० उ० अ० ४७

अर्थ—बिना खाद्य पदार्थों के निरन्तर मद्य का सेवन करने से

मनुष्य सर्वदा कष्टसाध्य रोगों को प्राप्त करता है एवं अन्ततः उसका शरीर भी नष्ट हो जाता है।

कीदृशानां जनानां मद्यपानं रोगोत्पादकम्।

क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन।
व्यायाम-भाराध्व-परिक्षतेन वेगावरोधाभिहतेन चापि ॥ १३ ॥
अत्यम्बुभक्षावततोदरेण साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन।
उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं करोति मद्यं विविधान्विकारान् ॥१४॥

सु० उ० अ० ४७

अर्थ—कुपित, भयभीत, तृष्णायुक्त, शोकसन्तप्त, भूखे, व्यायाम, भार एवं मार्ग से थके हुए, वेगों के रोकने से दुखी, अत्यधिक खान-पान से तने हुए पेटवाले और अजीर्ण होने पर भी खानेवाले, गर्मी से पीड़ित एवं दुर्बल मनुष्य का पिया हुआ मद्य कष्ट-साध्य विकारों को उत्पन्न कर देता है।

तेषां नामतो विवरणम्।

पानात्ययं परमदं पानाजीर्णमथापि वा।
पानविभ्रममुग्रं च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १५ ॥

अर्थ—उपरोक्त कारणों से पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण तथा भीषण पानविभ्रम इस प्रकार चार रोग हो जाते हैं। उसके लक्षण कहते हैं।

वातिकमदात्ययस्य लक्षणम्।

हिक्का-श्वास-शिरःकम्प-पार्श्व-शूल-प्रजागरैः।
विद्याद्बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥१६॥ च० चि० अ० १२

अर्थ—हिक्का, श्वास, शिर का काँपना, पसलियों में पीड़ा, नींद का न आना तथा प्रलाप इन लक्षणों से युक्त वायु का मदात्यय जानना चाहिये।

पैत्तिकमदात्ययस्य लक्षणम्।

तृष्णा-दाह-ज्वर-स्वेद-मोहा-ऽतीसार-विभ्रमैः।

विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥१७॥ च० चि० अ० १२

अर्थ—प्यास, दाह, ज्वर, पसीना, बदहोशी, अतिसार, चक्कर और शरीर का हरापन इन लक्षणों से युक्त पित्त का मदात्यय होता है।

श्लैष्मिकमदात्ययस्य लक्षणम्।

छर्द्यरोचक-हृल्लास-तन्द्रा-स्तैमित्य-गौरवैः।

विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ॥१८॥ च० चि० अ० १२

अर्थ—वमन, अरुचि, जी मिचलाना, उँघाई, शरीर का गीलापन, भारीपन एवं शीत से व्याप्त मनुष्य का मदात्यय कफ से होने वाला समझना चाहिये।

सान्निपातिकमदात्ययस्य लक्षणम्।

ज्ञेयस्त्रिदोषजश्चापि सर्वलिङ्गैर्मदात्ययः॥

अर्थ—उपरोक्त तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त त्रिदोषज मदात्यय होता है।

परमदस्य लक्षणानि।

श्लेष्मोच्छ्रयोऽङ्गगुरुता विरसाऽऽस्यता च

विण्-मूत्र-सक्तिरथ तन्द्रिररोचकश्च।

लिङ्गं परस्य च मदस्य वदन्ति तज्ज्ञा-

स्तृष्णा रुजा शिरसि सन्धिषु चापि भेदः ॥१९॥ सु० उ० अ० ४७

अर्थ—नीचे लिखे हुए लक्षणों को बुद्धिमान् परमद का लक्षण मानते हैं:—कफ की वृद्धि, शरीर का भारीपन, मुंह का फीकापन, विष्ठा एवं मूत्र की रुकावट, उँघाई, अरुचि, प्यास, सिर में पीड़ा और सन्धियों में फटने की सी पीड़ा।

पानाजीर्णस्य लक्षणानि।

आध्मानमुग्रमथ चोद्गिरणं विदाहः

पानेऽजरां समुपगच्छति लक्षणानि। सु० उ० अ० ४७

अर्थ—पानाजीर्ण (मद्य का अपच) के नीचे लिखे लक्षण होते हैं:—भीषण अफरा, डकार, एवं दाह।

पानविभ्रमस्य लक्षणानि ।

हृद्-गात्र-तोद-कफसंस्रव-कण्ठधूमा,
मूर्च्छा-वमि-ज्वर-शिरोरुजन-प्रदाहाः ॥ २० ॥
द्वेषः सुरान्न-विकृतेष्वपि तेषु तेषु
तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेन धीराः । सु० उ० अ० ४७

अर्थ—हृदय और गात्र में व्यथा, मुख से कफ निकलना, गले से धूआँ सा निकलना, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, सिर में पीड़ा, दाह एवं विविध प्रकार के मद्य तथा भक्ष्य पदार्थों में द्वेष, इन लक्षणों से युक्त रोग को बुद्धिमान् पानविभ्रम कहते हैं।

मदात्ययस्यासाध्यलक्षणानि ।

हीनोत्तरौष्ठमतिशीतममन्ददाहं तैलप्रभास्यमपि पानहतं त्यजेत्तु ॥२१॥
जिह्वौष्ठदन्तमसितं त्वथवाऽपि नीलं पीते च यस्य नयने रुधिरप्रभे वा ।
सु० उ० अ० ४७

अर्थ—जिसका ऊपर का ओठ लटक गया हो, जो अत्यन्त शीत एवं दाह से पीड़ित हो, जिसके चेहरे पर तैल (वसा) के कण दिखाई पड़ते हों अथवा जीभ, ओठ एवं दाँत काले या नीले हो गये हों तथा आँखें पीली और लाल हो गयी हों ऐसे मतवाले मनुष्य को असाध्य समझ कर त्याग देना चाहिये।

मदात्ययरोगस्योपद्रवाः ।

हिक्का-ज्वरौ वमथु-वेपथु-पार्श्वशूलाः
कास-भ्रमावपि च पानहतं भजन्ते ॥ २२ ॥ सु० उ० अ० ४७

अर्थ—मद्यपान के रोगों से पीड़ित मनुष्य को हिचकी, ज्वर, वमन, कम्प, पसलियों की पीड़ा, खाँसी एवं भ्रम आ घेरते हैं।

दाहनिदानम् ।

मद्यजदाहस्य लक्षणम् ।

त्वचं प्राप्तः स पानोष्मा पित्त-रक्ता-ऽभिमूर्च्छितः ।
दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥ १ ॥ सु० उ० अ० ४७

अर्थ—मद्यपान की वही पूर्वोक्त गर्मी पित्त एवं रक्त से जब बढ़ जाती है तो त्वचा में पहुँचकर भयानक (अथवा साधारण) दाह को उत्पन्न कर देती है। इसमें पित्त शान्त करनेवाली औषधियों का प्रयोग किया जाता है[1]।

रक्तजदाहस्य लक्षणम्।

कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ध्रुवम्।
स उष्यते तृष्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः॥ २॥
लोहगन्धाङ्गवदनो वह्निनेवावकीर्यते। सु० उ० अ० ४७

अर्थ—सम्पूर्ण शरीर में भ्रमणशील रक्त कुपित होकर अत्यन्त दाह उत्पन्न कर देता है। रोगी टीस का अनुभव करता है। प्यास अधिक लगती है। शरीर एवं आँखों का वर्ण तांबे के समान लाल हो जाता है। तपा कर पानी में बुझाये हुए लोहे के समान शरीर एवं मुख में गन्ध ज्ञात होती है। रोगी को अपने ऊपर आग छिटी हुई मालूम होती है अर्थात् अत्यन्त दाह मालूम होता है।

पित्तजदाहस्य लक्षणम्

पित्तज्वरसमः पित्तात्स चाप्यस्य विधिः स्मृतः॥ ३॥ सु० उ० अ० ४७

अर्थ—पित्त के कारण जो दाह होता है उसमें पित्तज्वर के समान लक्षण होते हैं (किन्तु पित्तज्वर के समान आमाशय में कोई दोष न होने के कारण ताप क्रम नहीं बढ़ता) और उसीके समान चिकित्सा भी होती है।

तृष्णानिरोधजदाहस्य लक्षणम्।

तृष्णा निरोधादब्धातौ क्षीणे तेजः समुद्धतम्।
स बाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेन्मन्दचेतसः॥ ४॥
संशुष्क-गल-ताल्वोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य वेपते। सु० उ० अ० ४७

अर्थ—प्यास रोकने से जलधातु के घट जाने पर (शरीर में समुचित द्रव की कमी होने से) पित्त बढ़कर रोगी के शरीर में बाहर[2] भीतर

१—इस विषय में रक्त-पित्त के चौथे श्लोक की टिप्पणी देखिये।

२—बाहर भीतर अर्थात् त्वचा एवं हृदयादिकों में।

दाह उत्पन्न कर देता है। चेतनाशक्ति मन्द हो जाती है एवं रोगी का गला, तालु और ओठ सूखने लगते हैं। इसके अनन्तर रोगी जीभ निकाल कर कुत्ते की भांति हाँफने लगता है।

शस्त्राघातजदाहस्य लक्षणम्।

असृजः पूर्णकोष्ठस्य दाहोऽन्यः स्यात्सुदुस्तरः ॥५॥ सु०उ०अ०४७

अर्थ—रक्तवाही सिरा धमनियों के (किसी प्रकार के आघात अथवा रक्तभार के अधिक हो जाने के कारण) फट जाने से मध्यकाय के भीतरी आशयों में रक्त भर जाता है। इससे भी एक प्रकार का दाह उत्पन्न होता है जो अत्यन्त कष्टसाध्य होता है।

धातुक्षयजदाहस्य लक्षणम्।

धातुक्षयोक्तो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृडर्दितः।

क्षामस्वरः क्रियाहीनः स सीदेद्भृशपीडितः ॥६॥ सु०उ०अ०४७

अर्थ—रस आदि धातुओं के क्षयसे जो दाह उत्पन्न होता है उससे रोगी मूर्च्छा एवं प्यास से पीड़ित होता है और उसका स्वर क्षीण हो जाता है। यदि उचित चिकित्सा न हो तो रोग बढ़ जाने के कारण रोगी मर जाता है।

मर्माभिघातजदाहस्य लक्षणम्।

मर्माभिघातजोऽप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो मतः।

सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीतगात्रस्य देहिनः ॥७॥ सु०उ०अ०४७

अर्थ—सिर, हृदय एवं वस्ति इत्यादि महत्त्वपूर्ण मर्मस्थानों में चोट लगने से सातवाँ असाध्य दाह होता है। यदि रोगी का शरीर एकाएक ठंढा हो जाय तो सभी प्रकार के दाह असाध्य हो जाते हैं।

उन्मादनिदानम्।

अथोन्मादरोगस्य निर्वचनम्।

मदयन्त्युद्गता दोषा यस्मादुन्मार्गमागताः।

मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः ॥ १ ॥ सु०उ०अ०६२

अर्थ—विरुद्ध मार्गों एवं उत्तमांग अर्थात् मस्तिष्क में गये हुए दोष

मनुष्य के मन को चंचल अर्थात् अव्यवस्थित कर देते हैं। इसी कारण मानसिक रोग उन्माद[1] कहा जाता है।

अथोन्मादस्य प्रकाराः।

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
मानसेन च दुःखेन स च पञ्चविधो मतः॥ २॥
विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम्।
स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां बिभर्ति च॥ ३॥ सु० उ० अ० ६२

अर्थ—अत्यन्त बढ़े हुए पृथक् पृथक् एवं परस्पर मिले हुए दोषों से तथा मानसिक क्लेश से यह उन्माद पाँच प्रकार का होता है तथा एक विष से होनेवाला छठां उन्माद भी होता है। इनकी तदनुसार ही भिन्न भिन्न चिकित्सा की जाती है। अधिक न बढ़ा हुआ यह नवीन उन्माद मद (नशा) का सा होता है।

अथोन्मादस्य सामान्यहेतवः।

विरुद्ध-दुष्टाऽशुचि-भोजनानि प्रधर्षणं देव-गुरु-द्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भय-हर्ष-पूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः॥ ४॥

अर्थ—विरुद्ध, दूषित एवं अपवित्र भोजन, देवआज्ञा, अपने बड़ों तथा द्विजातियों का अपमान करने अथवा उनके द्वारा अपमानित (शप्त) होने से एवं भय और हर्ष के कारण मन पर एकाएक आघात होने से (प्रभावित होने से) और विविध प्रकार की प्रकृतिविरुद्ध चेष्टाओं से उन्माद हो जाता है।

अथोन्मादस्य सम्प्राप्तिः।

तैरल्पसत्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।

१—यह मानसिक एवं बौद्धिक रोग है। इससे मन एवं बुद्धि अव्यवस्थित हो जाती है अर्थात् मन सुचारुरूप से इन्द्रियों पर तथा अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं कर सकता और बुद्धि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर सकती। बस यही उन्माद है, पागलपन है, सौदाव है और है ज़नून।

स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥५॥

च० चि० अ० १४

अर्थ—उपर्युक्त कारणों से दुष्ट हुए वातादि दोष दुर्बल मानसिक शक्तिवाले मनुष्य की बुद्धि के निवास हृदय अर्थात् मस्तिष्क को दूषित कर एवं मनोवाही स्रोतों (सुषुम्नामण्डल की नाड़ियों को जो दशों इन्द्रियों में जाती हैं) में स्थित होकर मनुष्य के चित्त को अव्यवस्थित कर देते हैं।

अथोन्मादस्य सामान्यरूपाणि ।

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च ।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥६॥

च० चि० अ० १४

अर्थ-ज्ञान में भ्रान्ति[1] या अविश्वास, मानसिक चंचलता, दृष्टि में एक विचित्र व्यग्रता[2], अधैर्य (प्रत्येक कार्य में बेहद जल्दीबाजी), बेसिर पैर की बातचीत एवं मस्तिष्क का ज्ञानशून्य होना ये उन्माद के साधारण लक्षण हैं।

वातिकोन्मादस्य विशेषलक्षणानि ।

रूक्षाल्प-शीतान्न-विरेक-धातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः ।
चिन्तादिदुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥७॥
अस्थानहास्य-स्मित-नृत्य-गीत-वागङ्गविक्षेपण-रोदनानि ।
पारुष्य-कार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥८॥

च० चि० अ० १४

१—उन्माद का यही व्यञ्जन है।

२—इस व्यग्रता के कारण उत्पन्न हुई आखों की आकृति को देखकर सहज ही पहचान लिया जा सकता है कि यह उन्माद का रोगी है।

३—और पूर्वरूप यह है–मोहोद्वेगौ स्वनः श्रोत्रे गात्राणामपकर्षणम् । अत्युत्साहोऽरुचिश्चान्ने स्वप्ने कलुषभोजनम् । वायुनोन्मथनं चापि भ्रमश्चक्रगतस्य वा । यस्य स्यादचिरेणैव उन्मादं सोऽपि गच्छति । सु० उ० अ० ४–६२ इसमें हस्तमैथुन का बहुत बड़ा हाथ है। इस कुटेव के कारण बहुत से लोगों को उन्माद हो जाता है।

अर्थ—रूखे, मात्रा से न्यून एवं ठंडे भोजनों से, विरेचन वमनादि द्वारा अथवा हस्तमैथुनादि अन्य प्रकारों के द्वारा धातुक्षय होने से तथा अनशन करने से अत्यन्त बढ़ा हुआ वायु चिन्ता शोक आदि से दूषित मन[1] (मस्तिष्क) को और भी दूषित कर बुद्धि एवं स्मरण शक्ति को बिगाड़ देता है इस कारण नीचे लिखे मानसिक एवं शारीरिक दुष्टि के लक्षण पाये जाते हैं:—अनवसर (बेमौके) हँसना, मुस्कराना, नाचना, गाना, बोलना, अंग पटकना एवं रोना (ये मानसिक विकृति के सूचक लक्षण हैं) और शरीर में खर्दरापन, कृशता तथा रक्तवर्णता होती है (ये शारीरिक लक्षण हैं) यह रोग भोजन पच जाने पर बढ़ता है । वह वातज उन्माद का लक्षण है ।

पैत्तिकोन्मादस्य हेतवो लक्षणानि च ।

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम् ।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥९॥
अमर्ष-संरम्भ-विनग्नभावाः सन्तर्जनातिद्रवणौष्ण्यरोषाः ।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषः पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥१०॥

अर्थ—अजीर्ण, कटु, अम्ल, विदाहकारी एवं उष्णवीर्य भोजनों से संचित एवं कुपित हुआ पित्त दुर्बल मनवाले मनुष्य के मस्तिष्क में स्थित होकर पूर्ववत् अर्थात् मनोवाही स्रोतों को दूषित एवं बुद्धि और स्मृति का उपहनन करके भीषण उन्माद को उत्पन्न कर देता है । इस पैत्तिक उन्माद के नीचे लिखे लक्षण पाये जाते हैं-चिड़चिड़ापन, प्रत्येक कार्य में अनुचित शीघ्रता, नंगे हो जाना, दूसरों को झिड़कना, अत्यन्त दौड़ना, शरीर में गर्मी, क्रोध, छाया एवं शीत अन्नपान की अभिलाषा, मुख का पीलापन ।

१—हृदय शब्द हृत्पिण्ड (रक्तसञ्चालक यन्त्र) एवं मन (इन्द्रिय सञ्चालक) का वाचक है । एक स्थूल है तो दूसरा अणु, एक वक्षस्थलके भीतर फुप्फुसों के मध्य में स्थित है तो दूसरा शिर के भीतर जहाँ भी मानसिक एवं बौद्धिक विषय की चर्चा हो, वहां हृदय शब्द का अर्थ मन ही करना उचित तथा युक्तिसंगत है ।

श्लैष्मिकोन्मादस्य हेतवो लक्षणानि च ।

सम्पूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि सम्प्रदुष्टः ।
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्त प्रमोहयन्सञ्जनयेद्विकारम् ॥ ११ ॥
वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारी-विविक्त-प्रियताऽतिनिद्रा ।
छर्दिश्च लाला च बलं च भुङ्क्ते नखादिशौक्ल्यं च कफात्मके स्यात्॥

च० चि० अ० १४

अर्थ—उचित परिश्रम न करनेवाले मनुष्य की ऊष्मायुक्त कफ सम्पूर्ण स्रोतों को भर देने वाले भोजनों से अधिपति मर्म में कुपित हो जाता है। वह बुद्धि एवं स्मृति को बिगाड़ कर चित्त को मुग्ध करते हुए उन्मादरोग को उत्पन्न कर देता है। इस कफजन्य उन्माद में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं:—बोल चाल में मन्दता, अरुचि, नारी एवं एकान्तसेवन की इच्छा, अत्यन्त नींद आना, कभी कभी वमन हो जाना, लार आना, भोजन कर लेने पर रोग का बल बढ़ना एवं नख नेत्रादि में श्वेतता।

सान्निपातिकोन्मादस्य लक्षणानि ।

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात् ।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग् विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥१२॥

च० चि० अ० २१

अर्थ—सान्निपातिक उन्माद अत्यन्त भीषण होता है। वह उपर्युक्त सभी कारणों से उत्पन्न होता है। अतएव इसमें सभी दोषों के लक्षण भी पाये जाते हैं एवं यह चिकित्साविधि के विरुद्ध पड़ने के कारण असाध्य अतः त्याज्य होता है।

शोकजोन्मादस्य सम्प्राप्तिः ।

चौरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथान्यैर्वित्रासितस्य धन-बान्धव-संक्षयाद्वा ।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसोर्जायेत चोत्कटतमो मनसो विकारः॥
चित्रं ब्रवीति च मनोऽनुगतं विसंज्ञो
गायत्यथो हसति रोदिति चापि मूढः ॥१४॥ सु० उ० अ० ६२

अर्थ—चोर, राजकर्मचारी (प्रायः पुलिस), शत्रु एवं अन्यान्य डाकू, सिंह, सर्पादिकों से भयभीत होने से अथवा धन और बन्धुओं (पुत्र मित्रादि) का विनाश होने से, नायिका के साथ रमण की उत्कट एवं असफल अभिलाषा से, मन पर गहरी चोट पड़ने से अत्यन्त भयानक मानसिक विकार (उन्माद) हो जाता है। इस से रोगी मनोनुकूल विचित्र एवं गुप्त बातें कहता है। उसे ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता। वह गाता है, हँसता है, रोता है और कभी-कभी मूर्च्छित भी हो जाता है।

विषजोन्मादस्य लक्षणम्।

रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियभाः सुदीनः श्यावाननो विषकृतेऽथ भवेद्विसंज्ञः॥
सु० उ० अ० ४७

अर्थ—विषजन्य उन्माद में रोगी की आंखें लाल, बल, इन्द्रियशक्ति एवं कान्ति का ह्रास एवं मुंह का रंग काला हो जाता है। यह रोगी दीन अथवा बेहोश हो जाता है।

अथोन्मादस्यासाध्यलक्षणानि।

अवाङ्मुखी वाप्युदङ्मुखी वा क्षीण-मांस-बलो नरः।
जागरूको ह्यसन्देहमुन्मादेन विनश्यति॥ १६ ॥ सु० उ० अ० ३४

अर्थ—सदैव नीचे या सदैव ऊँचे को मुंह रखने वाला, क्षीण बल और मांस वाला तथा जिसे सर्वथा नींद नहीं आती, यह रोगी अवश्यमेव उन्माद के कारण नष्ट[1] हो जाता है।

भूतोन्मादस्य[2] सामान्यलक्षणानि।

अमर्त्य-वाग्-विक्रम-वीर्य-चेष्टो ज्ञानादि-विज्ञान-बलादिभिर्यः।

१—इस का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि रोगी तत्काल मर जाते हैं। अपितु ऐसे रोगियों को जिन्हें निद्रा नहीं आती प्रायः वर्षों तक जीवित देखा जाता है। वस्तुतः 'विनश्यति' का अर्थ बर्बाद हो जाना या जीवन की व्यर्थता समझना चाहिये। यथा "बुद्धिनाशात्प्रणश्यति" गीता।

२—इस उन्माद में देवादि ग्रह अथवा उनके अनुचर मानवात्मा पर प्रभाव डालकर उनको स्वानुरूप बना लेते हैं। अत एव आविष्ट रोगी तदनुकूल ही आचरण करने लगता है।

उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्माद्मुदाहरेत्तम् ॥ १७ ॥

च० चि० अ० १४

अर्थ—मनुष्यों में न पाये जाने वाले वाणी, उत्साह, बल, चेष्टा, ज्ञान और विज्ञान (कला कौशलादि) से युक्त पुरुष के उन्माद को भूतजनित उन्माद कहते हैं। इस उन्माद का समय दोषज उन्मादों के समान निश्चित नहीं होता।

देवग्रहगृहीतस्य लक्षणानि।

संतुष्टः शुचिरतिदिव्य-माल्य-गन्धो निस्तन्द्रीरवितथ-संस्कृत-प्रभाषी।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्रह्मण्यो[1] भवति नरः स देवजुष्टः॥१८॥

सु० उ० अ० ६०

अर्थ—जिसमें देवताओं का आवेश होता है वह रोगी सन्तोषी, पवित्र, स्वर्गीय (परमोत्तम) माला एवं गन्धों को चाहनेवाला, आलस्यरहित, शुद्ध संस्कृत बोलनेवाला, अपूर्व कान्तिवाला, निर्निमेष आंखोंवाला, दूसरों को आशीर्वाद देने वाला और विद्वान् एवं ज्ञान से प्रेम रखने वाला होता है।

असुरग्रहगृहीतस्य लक्षणम्।

संस्वेदी द्विज-गुरु-देव-दोष-वक्ता जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः।
सन्तुष्टो न भवति चान्न-पान-जातैर्दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः॥१९॥

सु० उ० अ० ६०

अर्थ—असुरों द्वारा आविष्ट रोगी को अधिक पसीना आता है। वह द्विज, गुरु एवं देवताओं के दोषों का कहनेवाला, टेढ़ी आंखवाला, निर्भय, बुरे मार्गों पर दृष्टिपात करनेवाला होता है। वह अधिक से अधिक खान—पान से भी तृप्त नहीं होता एवं बुरी मनोवृत्ति वाला होता है।

१—कुछ लोग 'ब्रह्मण्यः' का अर्थ जन्मना ब्राह्मणोंमें अनुरक्त लगाते हैं। हम उनके उक्त अर्थ से सहमत नहीं है। क्योंकि जिन देशों में जन्मतः वर्णव्यवस्था नहीं है उनदेशों में इस अर्थ का कुछ मूल्य नहीं रह जायगा। इसको कदापि नहीं भूलना चाहिये कि–हमारा आयुर्वेद सार्वदेशिक है।

गन्धर्वग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ।

हृष्टात्मा पुलिन-वनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रिय-परि-गीत-गन्ध-माल्यः ।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः॥२०॥
सु० उ० अ० ६०

अर्थ—गन्धर्वग्रह से पीड़ित मनुष्य प्रसन्न मनवाला, नदियों के किनारे एवं वनों के मध्य भागों में रहने वाला, अच्छे आचार वाला, गायन, गन्ध एवं माला से प्रेम करने वाला, नाचता हुआ, बहुत ही मधुर थोड़ी ध्वनि के साथ (अट्टहास न करते हुए) हँसता है ।

यक्षग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ।

ताम्राक्षः प्रिय-तनु-रक्त-वस्त्रधारी गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक् सहिष्णुः ।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः॥२१॥
सु० उ० अ० ६०

अर्थ--जो मनुष्य लाल आंखोंवाला, सुन्दर पतले एवं लाल वस्त्रों को पसन्द करने वाला, गम्भीर स्वभाववाला, शीघ्रगामी, मितभाषी, सहनशील एवं तेजस्वी होता है और प्रायः "किस को क्या दूँ" कहता रहता है, वह यक्षग्रह से पीड़ित होता है ।

पितृग्रहगृहीतस्य लक्षणानि ।

प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डान् शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः ।
मांसेप्सुस्तिल-गुड-पायसाभिकामस्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः॥२२॥
सु० उ० अ० ६०

अर्थ—जो रोगी कुश-पत्रादिकों पर पितरों के लिये पिण्ड देता है, शान्त रहता है, दाहिने कन्धे पर वस्त्र रखकर पितरों का तर्पण करता है । मांस, तिल, गुड़ एवं खीर के सेवन की इच्छा करता है, पितरों में श्रद्धा करने वाला होता है, उसे पितृग्रहजुष्ट मानना चाहिये ।

सर्पग्रहगृहीतस्य लक्षणम् ।

यस्तूर्व्यां प्रसरति सर्पवत्कदाचित् सृक्किण्यौ विलिहति जिह्वया तथैव ।
क्रोधालुर्गुड-मधु-दुग्ध-पायसेप्सु-र्ज्ञातव्यो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः ॥२३॥
सु० उ० अ० ६०

अर्थ—जो रोगी कभी कभी सांप के समान (छाती के बल) पृथ्वी पर सरकता है और उसी प्रकार जीभ से सृक्किणी (गलफड़ या जबड़ा) को चाटता है, क्रोधी, गुड़, मधु, दूध, एवं खीर का इच्छुक होता है, उसे सर्पग्रहजुष्ट समझना चाहिये।

राक्षसग्रहगृहीतस्य लक्षणम्।

मांसा-सृग्-विविध-सुराविकार-लिप्सुर्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः।
क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी शौचद्विड् भवति स राक्षसैर्गृहीतः ॥२४॥

अर्थ—मांस, रक्त, अनेक प्रकार की मद्यों का इच्छुक, निर्लज्ज, क्रूर, अतिशूर, क्रोधी, बलवान्, प्रायः रात में घूमने वाला एवं स्वच्छता का द्वेषी उन्माद का रोगी राक्षस जुष्ट माना जाता है।

पिशाचग्रहगृहीतस्य लक्षणम्।

उद्धस्तः कृश-परुषोऽचिरप्रलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः।
बह्वाशी विजन-वनाम्बु-रात्रि-सेवी व्याचेष्टन्भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः॥

सु० उ० अ० ६०

अर्थ—ऊपर को हाथ उठाये रहनेवाला, कृश, खरदरी त्वचावाला, शीघ्र बोलनेवाला, दुर्गन्धित शरीरवाला, अत्यन्त मैला रहने वाला, अत्यन्त लालची, बहुत खानेवाला, निर्जन वनों के मध्य में रहने वाला, विरुद्ध चेष्टायें करनेवाला एवं रोते हुए घूमनेवाला रोगी पिशाचाविष्ट माना जाता है।

ग्रहगृहीतस्यासाध्यलक्षणानि।

स्थूलाक्षो द्रुतमटनः स फेनलेही निद्रालुः पतति च कम्पते च यो हि।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः स्यात् सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाब्दे॥

सु० उ० अ० ६०

अर्थ—बड़ी बड़ी आंख वाला, शीघ्र चलने वाला, अपने मुंह से झाग निकाल कर चाटने वाला अथवा थूक कर चाटने वाला, अधिक सोने वाला,[1] चलते२ गिर पड़ने वाला, थर थर काँपने वाला, एवं पहाड़, हाथी तथा वृक्ष आदि से गिर कर उपरोक्त ग्रहों से आविष्ट होने वाला रोगी असाध्य होता है तथा तेरह वर्ष बीतने पर भी असाध्य होता है।

१—दोषज उन्माद का न सोने वाला रोगी असाध्य होता है।

देवादीनां ग्रहणकालाः ।

देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि ।

गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥ २७ ॥

पित्र्याः कृष्णक्षये हिंस्युः पञ्चम्यामपि चोरगाः ।

रक्षांसि रात्रौ पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति हि ॥२८॥ सु०उ०अ०१०

अर्थ—देवग्रह प्रायः पूर्णिमा तिथि में, असुर सन्ध्या के समय, गन्धर्व अष्टमी के दिन, यक्ष प्रतिपदा के दिन, पितर अमावास्या के दिन, सर्पग्रह पञ्चमी के दिन मार डालते हैं अथवा आवेश करते हैं। राक्षस रात्रि के समय एवं पिशाच चतुर्दशी के दिन आवेश करते हैं।

ग्रहावेशानुपलब्धावुदाहरणानि ।

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा ।

स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहधृक् ॥ २९ ॥

विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणः ।

प्रविश्याशु शरीरं हि पीडां कुर्वन्ति दुःसहाम् ॥३०॥ सु०उ०अ०१०

अर्थ—जैसे दर्पण आदि में छाया (प्रतिबिम्ब) एवं प्राणियों में जैसे सर्दी-गर्मी तथा सूर्यकान्त मणि में सूर्य की किरणें, शरीर में जैसे आत्मा, ये सब प्रवेश करते हुए नहीं देखे जाते। उसी प्रकार शरीरधारियों में ग्रह आवेश करते हुए नहीं देखे जाते। किन्तु प्रविष्ट होकर शरीर में दुस्सह पीड़ायें अर्थात् अपने २ उपर्युक्त लक्षणों को प्रकट करते हैं।

अपस्मारनिदानम्[1] ।

अथापस्मारस्य निरुक्तिः सम्प्राप्तिश्च ।

चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः ।

१—यद्यपि 'स्मृति' भूतार्थज्ञान या यादगार का नाम है, परन्तु यहाँ वर्त्तमान इन्द्रियजन्य ज्ञान का वाची समझना चाहिये। जिसे 'संज्ञा' कहा जाता है। अपस्मार एवं मूर्च्छा में अन्तर आप खोजिये। नाक पर जूता रखने से रोगी शीघ्र ही स्वस्थ हो जाता है।

कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥

अर्थ—चिन्ता, शोक एवं मिथ्या आहार-विहार इत्यादि कारणों से कुपित वातादि दोष मनोवाही स्रोतों में स्थित होकर स्मरण शक्ति का विनाश करके अपस्मार या मिर्गी नामक रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

अथापस्मारस्य सामान्यलक्षणम् ।

तमःप्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः ।

अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥ १ ॥

अर्थ—जिस रोग में आँखों के सामने अन्धेरा छा जाना, नेत्र विकृति के साथ साथ हस्तपादादि अंगों का पटकना[1], नाक मुँह से झाग जाना और स्मृति का विनाश हो जाता है उसे अपस्मार कहते हैं। यह भीषण रोग चार प्रकार का होता है।

अथापस्मारस्य पूर्वरूपाणि ।

हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढ़ता ।

निद्रानाशश्च तस्मिंश्च भविष्यति भवत्यथ ॥ २ ॥ सु० उ० अ० ६१

अर्थ—हृत्पिण्ड का कम्प, मानसिक शून्यता, स्वेद, चिन्ता (सोचते रहना), बेहोशी, बदहोशी (अर्धमूर्च्छा) एवं नींद न आना ये भावी अपस्मार के पूर्वरूप हैं।

वातिकापस्मारस्य लक्षणम् ।

कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि ।

परुषा-ऽरुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥३॥ सु० उ० अ० ६१

अर्थ—वातजन्य अपस्मार में रोगी अधिक काँपता है, दाँत लग जाते हैं, मुंह से झाग जाता है, जोर जोर से या रुक रुक कर श्वास लेता है एवं खरदरी (भयानक) लाल तथा काली वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं।

१—इस चेष्टा को "किचकिचाना" और पंजाब प्रान्त में 'मही' कहा जाता है।

पैत्तिकापस्मारस्य लक्षणम्।

पीत-फेना-ऽङ्ग-वक्त्राक्षः पीता-ऽसृग् रूपदर्शकः।
सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥४॥ सु० उ० अ० ६१

अर्थ—पित्तजन्य अपस्मार में झाग, शरीर, विशेषतः मुँह एवं आँखें पीली पड़ जाती हैं, सभी वस्तुएँ पीली एवं लाल दिखायी पड़ती हैं, प्यास अधिक लगती है, रोगी को सारा संसार धूप एवं आग से व्याप्त ज्ञात होता है।

श्लैष्मिकापस्मारस्य लक्षणम्।

शुक्ल-फेनाङ्गवक्त्राक्षः शीत-हृष्टाङ्गजो गुरुः।
पश्येच्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥५॥ च० चि० अ० १५

अर्थ—कफजन्य अपस्मार में फेन, शरीर, विशेषतः मुँह एवं आँखें सफेद हो जाती हैं, शरीर ठंढा और भारी हो जाता है, रोमांच हो आता है, रोगी को सभी वस्तुएँ सफेद दिखायी देती हैं। वेग से रोगी देरी से मुक्त होता है।

सान्निपातिकापस्मारस्य लक्षणम्।

सर्वैरेतैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः।
अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥ ६ ॥

अर्थ—उपर्युक्त सभी मिले हुए लक्षणों से युक्त त्रिदोषज अपस्मार होता है और यह असाध्य भी (सद्योमारक नहीं) होता है। एवं दुर्बल रोगी का पुराना अपस्मार भी असाध्य होता है।

प्रस्फुरन्तं सुबहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम्।
नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत्[1] ॥७॥ च० चि० अ० १५

अर्थ—बारम्बार वेग आना, अंगों में अधिक कम्पन, क्षीणता, भौंह का टेढ़ा हो जाना, आँखों का विकृत दिखाई पड़ना इन लक्षणों से युक्त अपस्मार रोगी को मार डालता है।

१—विनाशयेत् का अर्थ गीता के 'बुद्धिभ्रंशाद् विनश्यति' के अनुसार लगाना चाहिये।

अथापस्मारस्य वेगकालाः ।

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः ।
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम् ॥ ८ ॥

अर्थ—कुपित वातादि दोष प्रायः पन्द्रह दिन या बारह दिन अथवा एक मास के अनन्तर अपस्मार का वेग उत्पन्न करते हैं। किन्तु उपर्युक्त काल के भीतर या पश्चात् भी दौरे होते पाये जाते हैं।

अथापस्मारस्य सर्वदा वेगाकरणे सोदाहरणः प्रभावः ।

देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित् ।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयः[1] ॥ ९ ॥ सु० उ० अ० ६१

अर्थ—वर्षाऋतु में पर्याप्त वर्षा होने पर भी पृथ्वी में पड़े हुए बहुत से बीज शरद ऋतु में जाकर अंकुरित होते हैं, बस ठीक इसी प्रकार व्याधियों के बीज शरीर में सर्वदा रहते हुए भी अनुकूल समय पाने पर वेग होता है।

वातव्याधिनिदानम् ।

वातव्याधेः सम्प्राप्तिपूर्वकं निदानम्[2] ।

रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः ।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादपि ॥ १ ॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामादिविचेष्टितैः ।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥ २ ॥
वेगसंधारणादामादभिघातादभोजनात् ।
मर्माबाधाद्गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात् ॥ ३ ॥

१—यह श्लोक विषमज्वर, ग्रहणी, मूर्च्छा एवं अपस्मारादि सभी वेगोंवाले रोगों में स्मरण रखना चाहिये ।

२—वातजनित विविध किन्तु निश्चित रोगों को (जो कि प्रकरण में कहे जायँगे) "वातव्याधि" कहा जाता है ।

देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥ ४ ॥

च० चि० अ० २८

अर्थ—रूक्ष, शीत, मात्रा से कम, एवं लघु अन्नों के सेवन; अति मैथुन, अति जागरण, पंचकर्मादि में उचित उपचार न करने से, दोष एवं रक्त के अधिक निकलने अथवा निकालने से, अत्यन्त कूदने, तैरने और मार्ग चलने से, अधिक व्यामाम करने से, शारीरिक तथा मानसिक हानिकारक चेष्टाओं के करने से, धातुओं के घटने से, चिन्ता, शोक एवं रोगों द्वारा अत्यन्त कृश हो जाने से, मल-मूत्रादिक के वेगों के रोकने से, शरीर में आम दोष का संचय होने से, चोट लगने से, अनशन करने से, हृदयादि मर्मस्थलों पर चोट लगने से एवं हाथी, ऊँट, घोड़ा अथवा अन्यान्य मोटर साइकिल इत्यादि शीघ्रगामी यानों पर से गिरने से शरीर के आकाश युक्त (खाली अथवा खोखले) स्रोतों में भर कर कुपित वायु सब अंग अथवा किसी एक अंग में अनेक प्रकार के रोगों को कर देता है।

वातव्याधेः पूर्वरूपाणि।

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्। च० चि० अ० २८

अर्थ—सभी वातज रोगों का अपना अप्रकटित रूप ही उनका पूर्वरूप कहा जाता है।

वातप्रकोपेण संभवन्तो रोगाः।

आत्मरूपं तु यद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः ॥ ५ ॥
संकोचः पर्वणां स्तम्भो भङ्गोऽस्थ्नां पर्वणामपि।
रोमहर्षः प्रलापश्च पाणि-पृष्ठ-शिरोग्रहः ॥ ६ ॥
खाञ्ज्य-पाङ्गुल्य-कुब्जत्वं शोथोऽङ्गानामनिद्रता।
गर्भ-शुक्र-रजो-नाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ॥ ७ ॥
शिरो-नासा-ऽक्षि-जत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम्।
भेदस्तोदोऽर्तिराक्षेपो मुहुश्चायास एव च ॥ ८ ॥

एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः ।
हेतु–स्थान–विशेषाच्च भवेद्रोगविशेषकृत् ॥ ९ ॥

अर्थ—जो प्रकट हो जाते हैं उन वातरोगों का अपना रूप होता है। वह इस प्रकार है:—रोग का सहसा नष्ट हो जाना या घट जाना, पुनः उत्पन्न होना या बढ़ जाना, संधियों का संकोच एवं जकड़ना, हड्डियों एवं जोड़ों का टूटना (लटक जाना); रोमांच, प्रलाप, हाथ, पीठ एवं शिर का गतिहीन होना, लंगड़ापन, पंगुपन एवं कुबड़ापन हो जाना, अंगों की सूजन, निद्रानाश; गर्भ, शुक्र एवं रज का नाश, अंगों का फड़-कना तथा सोना, सर, नाक (जैसा मृत्यु के समय), आँख, हसली एवं गरदन का टेढ़ापन, शरीर में फटने की पीड़ा, व्यथा, पीड़ा, रोगी को बारम्बार पटक देना एवं थकावट। यद्यपि कुपित वायु उपर्युक्त लक्षणों को उत्पन्न करता है, परन्तु कारण एवं स्थान के भेद से भिन्न भिन्न रोगों को उत्पन्न करता है। जैसे कि:—

कोष्ठाश्रित-कुपित-वातलक्षणम् ।

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्र-वर्चसोः ।
ब्रध्न-हृद्रोग-गुल्मार्शः पार्श्वशूलं च मारुते ॥१०॥ च० चि० अ० २८

अर्थ—मध्यकाय का दूषित वायु मूत्र–पुरीष का निरोध, वृद्धि, हृद्रोग, वायुगोला, बवासीर एवं पार्श्वशूल (निमोनिया) को उत्पन्न करता है।

सर्वाङ्गकुपितवातलक्षणम् ।

सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्र-स्फुरण-भञ्जनम् ।
वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥११॥ च० चि० अ० २८

अर्थ—सम्पूर्ण शरीर में जब वायु कुपित होता है तो निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं जैसे—अंगों का (नेत्र, बाहु आदि) फड़कना, या टूटना, वेदनाओं से पीड़ित संधियाँ जैसे टूटती सी ज्ञात होती हैं।

गुदस्थितवातस्य लक्षणम् ।

ग्रहो विण्-मूत्र–वातानां शूला-ऽऽध्माना-ऽश्म-शर्कराः ।

जङ्घोरु-त्रिक-पात्-पृष्ठ-रोग-शोषौ गुदे स्थिते ॥१२॥ च०चि०अ०२८

अर्थ—गुद (पक्काशय) में स्थित अपान[1] वायु जब कुपित होता है तो विष्ठा, मूत्र एवं अधोवायु की रुकावट, उदर में शूल एवं अफरा होता है। मूत्रसम्बन्धी स्थानों में पथरियां तथा शर्करा उत्पन्न हो जाती हैं, टांग, जांघ, पैर एवं पीठ में पीड़ा एवं उनकी शुष्कता हो जाती है।

अथामाशयगतकुपितवातलक्षणम्।

रुक्-पार्श्वोदर-हृन्-नाभेस्तृष्णोद्गार-विसूचिकाः।
कासः कण्ठाऽऽस्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते॥१३॥ च० चि० अ० २८

अर्थ—आमाशयस्थ कुपित हुआ वायु फुफ्फुस, उदर, हृदय, एवं नाभि में पीड़ा, तृष्णा, उद्गार, विसूचिका, खांसी, कण्ठ तथा मुंह में शोष एवं श्वासरोग कर देता है।

पक्काशयस्थवातस्य लक्षणम्।

पक्काशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च।
कृच्छ्र-मूत्र-पुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्॥ १४॥

अर्थ—पक्काशय में कुपित हुआ वायु अँतड़ियों की कूजन, शूल, उदर में गुड़गुड़ शब्द, मूत्र और पुरीष का कष्टपूर्वक उतार, आनाह एवं त्रिक में पीड़ा कर देता है।

श्रोत्रादिगतवातलक्षणम्।

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद्दुष्टसमीरणः। च० चि० अ० २८

अर्थ—कान इत्यादिक इन्द्रियों में कुपित हुआ वायु उनकी शक्ति को नष्ट कर देता है।

त्वग्गतवातस्य लक्षणानि।

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते।
आतन्वते सरागा च सर्वरुक् त्वग्गतेऽनिले॥१५॥ च० चि० अ० २८

---

[1]—अपान वायु का स्थान गुद के अतिरिक्त श्रोणि, वस्ति, मेढ् एवं ऊरु भी है, यही कारण है कि वस्ति आदि के रोग हो जाते हैं।

अर्थ—चर्मगत वायु के कुपित होने से त्वचा रूखी हो जाती या फट जाती है, सो जाती है, पतली पड़ जाती है, काली हो जाती है, उसमें व्यथा हो जाती है, तन जाती है, कभी २ लाल भी हो जाती एवं सन्धियों में पीड़ा होती है।

रक्तगतवातस्य लक्षणानि ।

रुजस्तीव्रः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः ।

गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥१६॥

च० चि० अ० २८

अर्थ—रक्त[1] में वायु कुपित होने से भीषण एवं सन्तापयुक्त पीड़ायें, शरीर के वर्ण में परिवर्त्तन, शरीर की कृशता, अरुचि, सारे शरीर पर फुन्सियों का निकलना, खाये हुए आहार का उचित रूप से न पचना ये लक्षण होते हैं।

मांस-मेदोगतवातस्य लक्षणानि ।

गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा ।

सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांस-मेदो-गतेऽनिले ॥ १७ ॥

अर्थ—मांस तथा मेदोगत वायु के कुपित होने से ये लक्षण पाये जाते हैं:—शरीरका भारीपन एवं उसमें व्यथा, डण्डे एवं मुक्कों से पीटे हुए के समान पीड़ा, अत्यन्त थकावट का अनुभव ।

मज्जास्थिगतवातस्य लक्षणानि ।

भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांस-बल-क्षयः ।

अस्वप्नः संतता रुक् च मज्जास्थि-कुपितेऽनिले ॥१८॥ च० चि० अ० २८

अर्थ—मज्जा एवं हड्डी में वायु कुपित होने से हड्डियों एवं सन्धियों में फटने की सी पीड़ा, सन्धियों में टीस, मांस एवं बल की हानि, नींद का अभाव एवं शरीर में निरन्तर पीड़ा ।

शुक्रधातुगतवातस्य लक्षणम् ।

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा ।

१—वातरक्त का मूल कारण यही है ।

विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥१९॥ च० चि० अ० २८

अर्थ—शुक्रस्थान[1] में स्थित वायु कुपित होकर शुक्र एवं गर्भ को शीघ्र ही स्खलित कर देता अथवा देर तक रोक सकता है। अथवा उन में (शुक्र या गर्भ में) विकार उत्पन्न कर देता है।

सिरागतवातस्य लक्षणम् ।

कुर्यात्सिरागतः शूलं सिराऽऽकुञ्चन-पूरणम् । सु० नि० अ० १

अर्थ—सिरागत वायु कुपित होकर उन में शूल, संकोच एवं पूरण (सिराओं का फूलना) करता है।

स्नायुगतवातस्य लक्षणम् ।

स बाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कौब्जयमथापि वा ॥ २० ॥

सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः । च० चि० अ० २८

अर्थ—स्नायुमण्डल (वात नाड़ी सूत्रों) में स्थित वायु कुपित होकर बाह्यायाम अथवा अन्तरायाम, खल्ली, कुबड़ापन एवं सर्वाङ्ग अथवा एकाङ्ग के रोगों को करता है।

सन्धिगतवातस्य लक्षणम् ।

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च ॥ २१ ॥

अर्थ—सन्धियों में कुपित वायु उन में शूल एवं सूजन कर देता है और उनके पसारने तथा सिकोड़ने की क्रिया को नष्ट कर देता है।

(प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।

स्थानस्था मरुतः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥)

अर्थ—प्राण, उदान, समान, व्यान एवं अपान नामक पांचों वायु

१—इसी कारण पुरुषों को भी शीघ्र पतन (जिसके कारण वैद्य अधिक पूजे जते हैं) का रोग हो जाता है । इसी शुक्र से निर्मित गर्भ अकाल में स्खलित हो जाता है और उपविष्टक अथवा नागोदरादिके रूप में "वर्षगणैरपि स्यात्" को चरितार्थ करने के लिये गर्भाशय में मौज करता रहता है । भ्रूण में अनेक प्रकार की विकृतियाँ भी इसी कारण पायी जाती हैं। वस्तुतः स्त्रियों के बिम्बकोष एवं गर्भाशय में भी कुपित होने वाला वायु यही है ।

अपने अपने स्थान में स्थित होकर प्राणियों को जीवित रखते हैं।

पित्त-कफावृतानां प्राणादिवायूनां लक्षणानि।

प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते।
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैरस्यं च कफावृते॥ २२॥

अर्थ—प्राणवायु के पित्त द्वारा रोके जाने पर वमन एवं दाह और कफ द्वारा रोके जाने पर दुर्बलता, अवसन्नता, तन्द्रा तथा मुंह का फीकापन होता है।

उदाने पित्तयुक्ते तु दाहो मूर्च्छा भ्रमः क्लमः।
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतता च कफावृते॥ २३॥

अर्थ—उदान वायु के पित्त द्वारा रोके जाने पर दाह, मूर्च्छा, भ्रम एवं सुस्ती और कफ द्वारा रोके जाने पर पसीने का अभाव, रोमांच, अग्निमान्द्य एवं सर्दी होती है।

स्वेद-दाहौष्ण्य-मूर्च्छाः स्युः समाने पित्तसंवृते।
कफेन सक्ते विण्मूत्रे गात्रहर्षश्च जायते॥ २४॥

अर्थ—समान वायु के पित्त द्वारा रोके जाने पर पसीना, दाह, गर्मी का अनुभव एवं मूर्च्छा तथा कफ द्वारा रोके जाने पर विष्ठा और मूत्र की रुकावट और अंगों में झनझनाहट होती है।

अपाने पित्तयुक्ते तु दाहौष्ण्यं रक्तमूत्रता।
अधःकाये गुरुत्वं च शीतता च कफावृते॥ २५॥

अर्थ—अपान वायु के पित्त द्वारा रोके जाने पर दाह (जिसका अनुभव रोगी ही करता है), औष्ण्य (जिसको स्पर्श से जाना जा सकता है), मूत्र में रक्त आना अथवा उसका लाल हो जाना और कफ द्वारा रोके जाने पर अधःकाय में भारीपन एवं शीतता होती है।

व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः।
स्तम्भनो दण्डकश्चापि शूलशोथौ कफावृते॥२६॥ सु० उ० अ० ६०

अर्थ—व्यान वायु के कफ द्वारा रोके जाने पर दाह, अंगों को पट-

कना एवं सुस्ती और कफ द्वारा रोके जाने पर अंगों का स्तब्ध होना अथवा सर्वथा अकड़ जाना, शूल एवं शोफ होता है।

आक्षेपकस्य वायोर्लक्षणम्।

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः।

तदाऽऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः॥ २७॥

मुहुर्मुहुश्चाक्षेपणादाक्षेपक इति स्मृतः। सु० उ० अ० ६०

अर्थ—जब कुपित वायु शरीर की सम्पूर्ण धमनियों में पहुचता है तो वह शीघ्रगामी वायु शरीर को बारम्बार पटक देता है और बार बार पटकने के कारण ही इस रोग को आक्षेपक कहते हैं।

अथापतन्त्रकापतानकयोर्लक्षणानि।

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते॥ २८॥

पीडयन् हृदयं गत्वा शिरःशङ्खौ च पीडयन्।

धनुर्वन्नमयेद्गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तदा॥ २९॥

स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः।

कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः॥ ३०॥

अर्थ—वायु अपने को कुपित करने वाले आहार-विहारों से कुपित होकर अपने पक्वाशय नामक प्रधान स्थान से ऊपर की ओर चलता है। क्रमशः हृदय, शिर और शंख में जाकर शिर और शंख में पीड़ा करता हुआ धनुष की तरह अंगों को झुकाता है, रोगी को पटक देता है एवं बदहोश कर देता है। यह रोगी बड़ी कठिनता से श्वास लेता है, आँखें स्तब्ध होतीं अथवा मिच जाती हैं। गले से कपोत की कूजन सा शब्द निकलता है अथवा रोगी सर्वथा बेहोश हो जाता है, इसे "अपतन्त्रक"[1] कहा जाता है।

दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति।

---

[1]—यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को उनमें भी सीधी सादी, गृहकार्य में व्यस्त एवं मेहनत मजदूरी करनेवाली स्त्रियों की अपेक्षा चुस्त, चालाक, निठल्ली

हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः ॥ ३१ ॥
वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम् । च० सि० अ० ६

अर्थ—रोगी की दृष्टि स्तब्ध हो जाती है, संज्ञा नष्ट हो जाती है, कण्ठ से कबूतर का सा शब्द निकलता है। जब उसका हृदय वायु से मुक्त हो जाता है तो उसे संज्ञा या होश हो आती है तथा फिर वायु द्वारा हृदय ढक जाने से मूर्च्छा हो जाती है। इसे कुछ आचार्य वातजनित भीषण "अपतानक"[1] कहते हैं।

दण्डापतानकस्य लक्षणम् ।

कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥३२॥
दण्डवत्स्तम्भयेद्देहं स तु दण्डापतानकः ।
धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुस्तम्भसंज्ञकः ॥३३॥ सु० नि० अ० १

अर्थ—उन्हीं धमनियों में यदि कफ से अत्यन्त युक्त होकर वायु रहता है तो वह शरीर को दण्ड की तरह स्तब्ध कर देता है। इसे दण्डापतानक कहा जाता है और यदि धनुष की तरह शरीर को नवाता है तो उस रोग को धनुस्तम्भ कहते हैं। यही निम्नप्रकार से दो प्रकार का होता है।

अथाभ्यन्तरबाह्यायामयोर्लक्षणम् ।

अङ्गुली-गुल्फ-जठर-हृद्-वक्षो-गल-संश्रितः ।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ॥३४॥

(वेल्ही) एवं रसिक स्वभाव की स्त्रियों को अधिक होता है। इसके दौरे में ५-७ मिनट से महीनों तक का अन्तर रहता है। रोगनाशक शक्तिसम्पन्न मन्त्रों के पाठ से तथा रोगनाशक ओषधियों के धूमादि से रोगनिवृत्ति देखकर लोग भूतावेश का भी अनुमान कर लेते हैं अस्तु। यूनानी चिकित्सक इसे "गर्भाशय" का रोग मानते हैं और इसे "इखतनाक उल रहम" अर्थात् "गर्भाशय की ऐंठन" कहते हैं। रोगी को धूआँ सा अथवा गोला उठता प्रतीत होता है। जो गले में जाकर अटक जाता है रोगी प्रयत्न करने पर भी बोल नहीं सकता, इसके बाद बेहोश हो जाता है।

१— वस्तुतः अपतन्त्रक का ही दूसरा नाम अपतानक है।

विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् ।
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवम् ॥३५॥
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली ।
बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ॥ ३६ ॥
तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षः-कट्यूरु-भञ्जनम् । सु० नि० अ० १

अर्थ—अंगुलियों, गुल्फ (घुट्टी या गिट्टा), उदर, हृदय, छाती एवं गले में आश्रित वायु जब स्नायुमण्डलको वेग (दौरा) के साथ आक्षिप्त करता है (खींचता है) तो रोगी की आँखें स्तब्ध (एक टक देखना) हो जाती हैं । हनु भी स्तब्ध हो जाती है (जिसके कारण बोलने एवं चबाने में कठिनाई पड़ती है) । पसलियों में पीड़ा होती है, कफ की वमन[1] होती है । इन लक्षणों से युक्त रोगी को जब बलवान् वायु आगे की ओर धनुष की तरह नवाने का यत्न करता है तब इस रोग को 'अभ्यन्तरायाम'[2] कहा जाता है और जब वही वायु बाह्य स्नायुमण्डल में स्थित होकर बाहर की (पीछे की) ओर नवाने का यत्न करता है तो उस रोग को "बाह्यायाम"[3] कहा जाता है । यदि इसमें वक्षस्थल,

---

१—प्रायः कफ की वमन नहीं देखी जाती है वस्तुतः रोगी को लार जाते हुए देखा जाता है । हमारे इस विचार को चरक बाबा भी मानते हैं ।
च० चि० अ० २८

२-३—यह दोनों "धनुःस्तम्भ" के ही भेद हैं । पीठ की ओर को झुकाव होना "बाह्यायाम" तथा वक्षकी ओरको झुकाव होना "अभ्यन्तरायाम" कहलाता है । मधुकोषकार ने न जाने क्यों इन्हीं में "कुब्जत्व" को घसीटने का साहस किया है; जब कि इन में महान् अन्तर है—धनुस्तम्भ आशुकारी और कुब्जत्व दीर्घकालानुबन्धी । एक में आक्षेप, विष्टब्धाक्षता स्तब्धहनुता एवं कफ का वमन आदि लक्षण होते हैं और दूसरे में नहीं; पहिला वेगवान् और दूसरा स्थायी । एक में वेग के समय केवल झुकाव होता है तो दूसरे में सदा के लिये झुक ही जाता है । एक सहसा होता है दूसरा धीरे २ । एक वेगके समय रोगी उठ भी नहीं सकता तो दूसरे में लकड़ी के सहारे चलता फिरता है । एक स्नायुमंडल के संकोच से होता है दूसरा पृष्ठवंश की विकृति से ।

कमर एवं ऊरुओं में टूटने की सी पीड़ा हो तो उसे बुद्धिमान् असाध्य समझ लेते हैं।

अथाक्षेपकस्य लक्षणान्तरम्।

कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः॥ ३७॥

कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम्। सु० नि० अ० १

अर्थ—कफ और पित्तयुक्त वायु अथवा केवल वायु अभिघातजनित 'आक्षेपक' को कर देता है। एवं यह 'चौथा आक्षेपक' है (अपतन्त्रक, दण्डापतानक एवं धनुस्तम्भ ये तीन पहले ही कहे जा चुके हैं)।

अथासाध्यापतानकस्य लक्षणम्।

गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः॥ ३८॥

अभिघातनिमित्तश्च न सिद्ध्यत्यपतानकः।

अर्थ—गर्भपात[1] रक्त के अतिस्राव एवं चोट लगनेसे जो अपतानक है, उसे असाध्य माना जाता है।

पक्षवधस्य लक्षणानि।

गृहीत्वाऽर्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च॥ ३९॥

पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान्विमोक्षयन्।

कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः॥ ४०॥

एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः।

सर्वाङ्गरोगस्तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले॥ ४१॥

अर्थ—वायु (व्यान) शरीर के अर्धभाग को जकड़ कर उसी भाग के सिरा एवं स्नायुमण्डल को सुखाकर[2] तथा सन्धिबन्धनों को

१—प्रायः देखा जाता है कि गर्भ के स्राव, पात अथवा जन्म होने के पश्चात् अपतानक (अपतन्त्रक) अच्छा हो जाता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि गर्भपात से उत्पन्न होनेवाला अपतानक असाध्य होना ही चाहिये। क्योंकि विनाशक कारणों से उत्पन्न हुआ रोग क्यों न असाध्य होगा? किन्तु बुढ़ापा आने पर शान्त हो जाता है।

२—इसी कारण 'सिराधमनीस्रोतसां अविभागः' के अनुसार सिरा और धमनियों

खोलकर (ढीला कर) उस भाग की क्रियाशक्ति को न्यून अथवा सर्वथा नष्ट कर देता है। अतएव उस रोगी का पूरा आधा भाग क्रियाहीन एवं शून्य हो जाता है। इसे कोई एकांग रोग एवं दूसरे आचार्य पक्षवध कहते हैं (दोनों का कहना ठीक है)। इसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर पर वायु का प्रभाव होने के कारण सर्वाङ्ग (सर्वशरीरवध) रोग भी हो जाता है।

दाह–सन्ताप–मूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते।
शैत्य–शोथ–गुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफान्विते॥ ४२॥

अर्थ—पित्त युक्त वायु का कोप होने से दाह, सन्ताप, मूर्च्छा तथा कफ युक्त वायु का कोप होने से शीतता, शोथ एवं भारीपन होता है।

पक्षाघातस्य साध्यासाध्यत्वम्।

शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः।
साध्यमन्येन संयुक्तमसाध्यं क्षयहेतुकम्॥ ४३॥

अर्थ—केवल वायु से मारा हुआ पक्ष अत्यन्त कष्टसाध्य होता है एवं दूसरे दोषों से युक्त वायु द्वारा मारा हुआ पक्ष साध्य होता है। धातुओं के क्षय से कुपित वायु द्वारा मारा हुआ पक्ष असाध्य होता है।

अथार्दितरोगस्य लक्षणम्।

उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा।
हसतो जृम्भतो वापि भाराद्विषमशायिनः॥ ४४॥
शिरो-नासौष्ठ-चिबुक-ललाटेक्षण-सन्धिगः।
अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः।
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते॥ ४५॥
शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम्।

के सूखने से उस भाग को पोषण न मिलने के कारण वह सूख जाता है एवं स्नायु-मण्डल के सूख जाने से वह अकर्मण्य एवं शून्य हो जाता है। सर्वाङ्गरोग में भी यही बातें लागू होती हैं।

ग्रीवा-चिबुक-दन्तानां तस्मिन्पार्श्वे च वेदना ॥ ४६ ॥
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविचक्षणाः ।

अर्थ—ऊँचे स्वर से बोलते समय, अत्यन्त कठिन (सुपारी इत्यादि) पदार्थों को खाते समय, हँसते एवं जम्भाई लेते समय, सिर पर बोझ रहते समय अथवा विषम स्थान पर सोते समय, सिर, नाक, ओठ, चिबुक, मस्तक, एवं नेत्र की सन्धियों के कुपित वायु मुख (चेहरा) को पीड़ित (अकर्मण्य) कर देता है। इसके पश्चात् ही अर्दित (लकवा) हो जाता है। इसमें आधा चेहरा टेढ़ा हो जाता है, गर्दन घूम जाती है, सिर में कम्प हो जाता है, बोलने में रुकावट (जिह्वा पर प्रभाव पड़ जाने के कारण), नेत्र, नासिका इत्यादि में विकृति हो जाती है। उसी ओर गरदन चिबुक (ठुड्डी) एवं दांतों में वेदना होती है । इसको व्याधियों के जानकार वैद्य अर्दित कहते हैं।[1]

[यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ।
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्या-हनुग्रहः ॥]

अर्थ—इस रोग के पूर्वरूप हैं रोमांच, कम्प, नेत्र का धूमिल होना, डकार, तत्पक्ष की त्वचा का सो जाना, व्यथा, मन्या एवं हनु का जकड़ जाना ।

अथार्दितस्यासाध्यलक्षणम् ।

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः ॥ ४७ ॥
न सिद्ध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च । सु० नि० अ० १

अर्थ—जिसके धातु क्षीण हो चुके हैं, निमेषोन्मेष की शक्ति नष्ट हो गयी है, रुक कर तथा अस्पष्ट बोलता है, जिसके नेत्र, मुख और नासिका से पानी जाता है, उसका अथवा तीन वर्ष का पुराना एवं कम्पनयुक्त अर्दित असाध्य होता है ।

अथाक्षेपकादिवातरोगाणां वेगित्वम् ।

गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु ॥४८॥ वा० नि० अ० १९

१—इसके साथ चरक चिकित्सास्थान अध्याय २८ अवश्य देखिये ।

अर्थ—आक्षेपक, अर्दित आदि रोगों का वेग समाप्त हो जाने पर रोगी स्वस्थ सा हो जाता है (फिर दौरा होता है तो अस्वस्थ हो जाता है)।

हनुग्रहस्य लक्षणम्।

जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः।
कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनुम् ॥ ४९ ॥
करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम्।
हनुग्रहः स तेन स्यात् कृच्छ्राच्चर्वण-भाषणम् ॥५०॥ सु०नि०अ०१५

अर्थ—जिह्वा के दतुअन अथवा जीभी द्वारा खुरचने से, सूखे पदार्थों के खाने से अथवा चोट लगने से हनु की जड़ में रहनेवाला वायु कुपित होकर हनुओं को ढीलाकर 'हनुस्तम्भ' कर देता है। इससे या तो मुंह खुला ही रह जाता है या बन्द ही हो जाता है। इसे 'हनुग्रह' भी कहा जाता है। इससे चबाने एवं बोलने में कठिनाई पड़ती है (कभी कभी यह क्रिया सर्वथा नष्ट हो जाती है)।

मन्यास्तम्भस्य लक्षणम्।

दिवास्वप्नाऽऽसनस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः।
मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः ॥५१॥ सु०नि०अ०१

अर्थ—दिन में सोने, विषम शय्या पर शयन करने (जैसा कि कभी कभी तकिये से नीचे सिर गिर जाने से प्रातःकाल सोकर उठने पर ज्ञात होता है), मुंह खोल कर देर तक ऊपर देखने से श्लेष्मा से आवृत वायु मन्यास्तम्भ नामक रोग को उत्पन्न कर देता है।

जिह्वास्तम्भस्य लक्षणम्।

वाग्वाहिनी सिरा-संस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः।
जिह्वास्तम्भः स तेनान्न-पान-वाक्येष्वनीशता ॥५२॥ वा०नि०अ०१५

अर्थ—वाग्वाही सिराओं में स्थित वायु जिह्वा को स्तब्ध कर देता है। इसे 'जिह्वास्तम्भ'[1] कहते हैं। इससे खाने, पीने एवं बोलने में असमर्थता हो जाती है।

1—यह रोग मृत्यु के समय अथवा अल्पकाल के लिये होता है। मकरध्वज

सिराग्रहस्य लक्षणम् ।

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः सिराः ।
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः ५३ वा०नि०अ०१५

अर्थ—वायु रक्त के आश्रित होकर गर्दन की सिराओं को रूक्ष वेदनायुक्त एवं काली कर देता है । इसे सिराग्रह कहा जाता है और यह रोग असाध्य हो जाता है ।

गृध्रसीरोगस्य लक्षणम् ।

स्फिक्पूर्वा कटि-पृष्ठोरु-जानु-जंघा-पदं क्रमात् ।
गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः ॥ ५४ ॥
वाताद् वातकफात्तन्द्रा गौरवारोचकान्विता । च० चि० अ० २६

अर्थ—चूतड़से प्रारम्भ होकर क्रमशः कमर, पीठ, ऊरु, जानु (घुटना), जंघा (टांग) और पैर को वायु जकड़न, पीड़ा एवं व्यथा से युक्त कर देता है । इसे 'गृध्रसी'[1] कहा जाता है । यह दो प्रकार की होती है । १—वायु से एवं २—वात कफ से । १—वायु से बारम्बार कम्पन होता है एवं २—वात कफ से तन्द्रा, भारीपन तथा अरुचि होती है ।

गृध्रस्या विशेषलक्षणानि ।

वातजायां भवेत्तोदो देहस्यापि प्रवक्रता (?) ।
जानु-कट्यूरु-सन्धीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम् ॥ ५५ ॥
वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तं वह्निमार्दवम् ।
तन्द्रामुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च ॥ ५६ ॥

या कस्तूरी आदि के प्रयोग की आवश्यकता इसी समय होती है । वास्तव में बेचारी जीभ से तीन काम लिये जाते हैं यथा—१—इधर उधर घुमाकर अन्नचर्वण में सहायता, २—रसग्रहण, ३—बोलना ।

१—इस रोग से चलने में कष्ट होता है । क्योंकि "कण्डरा" के विकृत होने से प्रसारणाकुञ्चन में कठिनाई पड़ती है ।

अर्थ—गृध्रसी के निम्नलिखित लक्षण भी पाये जाते हैं:—यथा वातज गृध्रसी में व्यथा, सम्पूर्ण शरीर में ठंढापन, जानु, कटि एवं ऊरु की सन्धियों में स्फुरण एवं अत्यन्त स्तब्धता होती है (जकड़ जाते हैं) वातकफ की गृध्रसी में मन्दाग्नि प्रधान कारण होता है और तन्द्रा, मुख से पानी जाना एवं अरुचि इत्यादि लक्षण होते हैं।

विश्वाचीरोगस्य लक्षणम्।

तलं प्रत्यङ्गुलीनां याः कण्डरा बाहुपृष्ठतः ॥ ५७ ॥
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाची चेति सोच्यते। सु० नि० अ० १

अर्थ—बाहु पृष्ठ से अंगुली तक गयी हुई कण्डरायें, जब बाहु की क्रिया को नष्ट कर देती हैं तब उसे विश्वाची[1] कहा जाता है।

क्रोष्टुकशीर्षस्य लक्षणम्।

वातशोणितजः शोथो जानुमध्ये महारुजः ॥ ५८ ॥
ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षस्तु स्थूलः क्रोष्टुकशीर्षवत्। सु० नि० अ० १

अर्थ—घुटने पर वात-रक्तज अत्यन्त पीड़ायुक्त जो शोथ हो जाता है। उसे 'क्रोष्टुकशीर्ष' कहा जाता है। वह स्यार के सिर के समान मोटा हो जाता है।

खाञ्ज्य-पाङ्गुल्ययोर्लक्षणम्।

वायुः कट्याश्रितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ॥ ५९ ॥
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात्। सु० नि० अ० १

अर्थ—कमर में रहने वाला वायु जब टांग की कण्डरा को खींच लेता है तो मनुष्य खंज या लंगड़ा हो जाता है। इसी प्रकार दोनों टांगों की कण्डरा के विकृत होने से पंगु हो जाता है। (इसमें टांगें धीरे धीरे सूख जाती हैं)।

कलायखञ्जस्य लक्षणम्।

प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति ॥ ६० ॥

१—जिस प्रकार टांग में गृध्रसी होती है वैसे ही बाहु में विश्वाची होती है, वस्तुतः दोनों एक ही हैं

कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ।

सु० नि० अ० १

अर्थ—जो मनुष्य पैर रखते समय कांपता है और लंगड़े के समान चलता है, उसे 'कलायखंज'[1] का रोगी कहते हैं। इसका कारण सन्धियों के बन्धनों की शिथिलता है।

वातकण्टकरोगस्य लक्षणम् ।

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा ॥ ६१ ॥

वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् । अ० नि अ० १५

अर्थ—जब विषम स्थल पर पैर पड़ने से अथवा पैरसम्बन्धी परिश्रम (विशेषतः मार्गश्रम) से वायु के कारण घुट्टियों में पीड़ा होती है तब उसे "वातकण्टक" कहते हैं।

पाददाहस्य लक्षणम् ।

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः ॥ ६२ ॥

विशेषतश्चङ्क्रमतः पाददाहं तमादिशेत् । सु० नि० अ० १

अर्थ—प्रायः घूमते समय पित्त एवं रक्त युक्त वायु पैरों में जलन उत्पन्न कर देता है इसको "पाददाह" कहना चाहिये।

पादहर्षस्य लक्षणम् ।

हृष्येते चरणौ यस्य भवेतां चापि सुप्तकौ ॥ ६३ ॥

पादहर्षः स विज्ञेयः कफवातप्रकोपतः । सु० नि० अ० १

अर्थ—जिसके चरण विह्वल (झिनझिनी के समान) एवं सोये से (स्पर्श ज्ञान से रहित) हो जायँ, वायु तथा कफ के प्रकोप से उत्पन्न हुए उसके इस रोग को 'पादहर्ष' जानना चाहिये।

अंसशोषस्य लक्षणम् ।

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयेदंसबन्धनम् ॥६४॥ सु० नि० अ० १

१—थोड़ी दूर चलने पर ठीक हो जाता है। यह रोग सर्दियों में पशुओं को भी हो जाता है। इसे "सरन" कहते हैं।

अर्थ—अंस प्रान्त (कन्धे) में स्थित वायु वहाँ के बन्धन की रज्जुओं को सुखा कर 'अंसशोष' कर देता है।

अवबाहुकस्य लक्षणम्।

सिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयेदवबाहुकम्। सु० नि० अ० १

अर्थ—वहीं पर स्थित होकर वहीं (अंस देश) की सिराओं को सिकोड़कर "अवबाहुक" नामक रोग उत्पन्न कर देता है।

मूकादीनां लक्षणानि।

आवृत्य वायुः सकफो धमनीः शब्दवाहिनीः॥ ६५॥

नरान् करोत्यक्रियकान् मूक-मिन्मिन-गद्गदान्। सु०नि०अ०१

अर्थ—कफ युक्त वायु शब्दवाही धमनियों (स्रोतों) को रोक कर बोलने[1] की भरपूर चेष्टा न करनेवाले मनुष्यों को मूक, मिनमिना कर अथवा हकला कर बोलनेवाला बना देता है।

तूनीरोगस्य लक्षणम्।

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता॥ ६६॥

भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनी नाम नामतः। सु० नि० अ० १

अर्थ—मलाशय एवं मूत्राशय से उठी हुई जो वेदना गुदा, लिंग अथवा योनि को भेदन करती हुई चली जाती है, उसका 'तूनी' नाम है।

प्रतितूनीरोगस्य लक्षणम्।

गुदोपस्थोत्थिता या तु प्रतिलोमं प्रधाविता॥ ६७॥

वेगैः पक्काशयं याति प्रतितूनीति सोच्यते। सु० नि० अ० १

अर्थ—गुद एवं उपस्थ से उठकर जो वेदना ऊपर की (पक्काशय की) ओर को जाती है, उसे प्रतितूनी कहते हैं।

१—प्रायः देखा जाता है कि यदि वह सोच समझ कर धैर्यपूर्वक बोलने का कुछ अभ्यास करता है तो ये रोग अच्छे हो जाते हैं। क्योंकि बच्चे बड़े होकर अभ्यास ही के कारण बोलने लगते हैं। उक्त रोग प्रायः सदा के लिये अथवा दीर्घकाल के लिये भी होते हैं।

अथाध्मानरोगस्य लक्षणम् ।

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् ॥ ६८ ॥

आध्मानमिति तं विद्याद् घोरं वातनिरोधजम् । सु० नि० अ० १

अर्थ—गुड़गुड़ शब्द से युक्त, अत्यन्त पीड़ा से युक्त (कभी नहीं भी) पेट अत्यंत फूल जाता है, इसे 'आध्मान' कहा जाता है। कभी कभी यह घोर हो जाता है। यह अपान वायु के रुकने से होता है।

प्रत्याध्मानस्य लक्षणम् ।

विमुक्त-पार्श्व-हृदयं तदेवामाशयोत्थितम् ॥ ६९ ॥

प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम् । सु० नि० अ० १

अर्थ—फुफ्फुस एवं हृदय पर दबाव न डालते हुए यदि वही आध्मान केवल आमाशय में होता है तो उसे प्रत्याध्मान कहते हैं। यह आमाशय की वायु के कफ के कारण न निकलने से होता है।

वाताष्ठीला-प्रत्यष्ठीलारोगस्य लक्षणम् ।

नाभेरधस्तात् सञ्जातः सञ्चारी यदि वाऽचलः ॥ ७० ॥

अष्ठीलावद् घनो ग्रन्थिरूर्ध्वमायत उन्नतः ।

वाताष्ठीलां विजानीयाद्बहिर्मार्गावरोधिनीम् ॥ ७१ ॥

एतामेव रुजोपेतां वात-विण्-मूत्र-रोधिनीम् ।

प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ॥७२॥ सु० नि० अ० १

अर्थ—नाभि के नीचे इधर उधर हटनेवाली अथवा न हटनेवाली ढेले के समान कड़ी एक गांठ उत्पन्न हो जाती है यह गांठ ऊपर से चौड़ी अथवा उठी हुई होती है। इसे 'वाताष्ठीला' कहा जाता है। यह मल मूत्र के मार्ग को भी अपना दबाव डालकर रोक लेती है। यदि उसमें पीड़ा हो और अधोवायु विष्ठा एवं मूत्र को रोक दे और तिरछी उठी हुई हो तो इसे 'प्रत्यष्ठीला'[1] कहा जाता है।

१—ये दोनों अष्ठीलायें शीघ्र ही मर्दनादिक से शान्त हो जाती हैं। गुल्म की भांति कष्टप्रद नहीं होतीं।

मूत्रावरोधस्य लक्षणम् ।

मारुतेऽनुगुणे बस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते ।
विकारा विविधाश्चात्र प्रतिलोमे भवन्ति च ।।७३।। सु० नि० अ० १

अर्थ—बस्ति में मूत्र के अनुलोम रहने से मूत्र अच्छी तरह आता ही है किंतु उसके प्रतिलोम हो जाने से मूत्र सम्बंधी मूत्रबन्ध आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

वेपथुरोगस्य लक्षणम् ।

सर्वाङ्गकम्पः[1] शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः ।

अर्थ—सब (हस्तपादादि) अंगों का अथवा केवल सिर का कांपना 'वेपथु' या कम्प नामक रोग कहा जाता है ।

खल्लीरोगस्य लक्षणम् ।

खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी ।। ७४ ।।

अर्थ—पैर जांघ[2] (घुटने के नीचे घुट्टी तक), ऊरु (सत्थल या पट्ट) एवं मणिबंध में ऐंठन पैदा करने वाले रोग को 'खल्ली' कहा जाता है ।

अथोर्ध्ववातस्य लक्षणम् ।

अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन वा ।
करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातः स उच्यते ।। ७५ ।।

अर्थ—कफ अथवा वायु द्वारा आमाशय से ढकेला हुआ वायु बार बार उद्गार के रूप में निकलता है उसे "ऊर्ध्ववात"[3] कहा जाता है ।

१—यह सर्वशरीर व्यापी भी होता है और एकदेशी भी । नेत्रस्फुरण एवं हृदयकम्प आदि इसी के अन्तर्गत हैं ।

२—यह रोग प्रायः विसूची में हो जाता है । जो लोग ऊरु को जांघ कहते हैं वे गलती करते हैं ।

३—जिस प्रकार आमाशय से उद्गार आता है ठीक उसी प्रकार मलाशय से अधोवायु का निःसरण होता है । यद्यपि दोनों ही आरोग्यसूचक हैं किन्तु इसका अधिक निकलना रोग माना जाता है ।

अथानुक्तानां वातरोगाणां सूचनम् ।

स्थाननामानुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान्विनिर्दिशेत् ।
सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ॥ ७६ ॥

अर्थ—स्थान[1] एवं नाम के अनुकूल लक्षणों द्वारा वायु के अन्यान्य रोग भी माने जाते हैं और वायु के सभी रोगों में पित्त, कफ, रक्त एवं आम आदि के संसर्ग को खूब ध्यान से समझ लेना चाहिये ।

वातरोगाणां साध्यासाध्यत्वविचारः ।

हनुस्तम्भार्दिताक्षेपपक्षाघातापतानकाः ।
कालेन महता वाता यत्नात्सिध्यन्ति वा न वा ॥ ७७ ॥
नरान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ।

अर्थ—हनुस्तम्भ, अर्दित, आक्षेपक, पक्षाघात एवं अपतानक देर तक यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से अच्छे हो सकते हैं अथवा नहीं भी। इन रोगों की तभी चिकित्सा करनी चाहिये, जब रोगी बलवान् हो एवं उपद्रवों से रहित हो।

वातोपद्रवाः ।

विसर्प-दाह-रुक्-सङ्ग-मूर्च्छारुच्यग्निमार्दवैः ॥ ७८ ॥
क्षीण-मांस-बलं वाता घ्नन्ति पक्षवधादयः । सु० सू० अ० ३४

अर्थ—विसर्प, दाह, पीड़ा, मलमूत्रादि का निरोध, मूर्च्छा, अरुचि एवं अग्निमान्द्य आदि से युक्त पक्षाघात आदि वातव्याधियाँ ऐसे रोगी को मार डालती हैं, जिसका मांस एवं बल घट गया होता है। ये व्याधियाँ या तो अच्छी हो जाती हैं या जीवन भर रहती हैं।

वातव्याधेरसाध्यत्वम् ।

शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम् ।
रुजार्तिमन्तं च नरं वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥७९॥ सु० सू० अ० ३५

अर्थ—ऐसे रोगी को वातव्याधि मार डालती है, जिसका शरीर सूज

[1]—सम्पूर्ण रोगों में इन बातों का ध्यान रखना चाहिये ।

गया है, त्वचा सो गयी है, संधिबंधन प्रायः टूट गया है, कम्प एवं आध्मान से पीड़ित है और अनेक प्रकार की पीड़ाओं से जर्जर होगया है।

प्रकृतिस्थस्य वायोर्लक्षणम्।

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतिस्थितः।

वायुः स्यात् सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥ ८० ॥

अर्थ—जिस मनुष्य के शरीर में किसी प्रकार की रुकावट के बिना वायु की गतागति होती है और वायु अपने स्थान तथा स्वभाव में स्थित है, वह मनुष्य विगतरोग होकर सौ वर्ष अथवा अपने बच्चों को सताने के लिये उससे भी अधिक जीता है।

वातरक्तनिदानम्।[1]

वातरक्तस्य कारणानि।

लवणाम्ल-कटु-क्षार-स्निग्धोष्णाजीर्ण-भोजनैः।

क्लिन्न-शुष्काम्बुजानूप-मांस-पिण्याक-मूलकैः ॥ १ ॥

कुलत्थ-माष-निष्पावशाकादिपललेक्षुभिः।

दध्यारनाल-सौवीर-शुक्त-तक्र-सुराऽऽसवैः ॥ २ ॥

विरुद्धाध्यशनक्रोध-दिवास्वप्न-प्रजागरैः ॥३॥ च० चि० अ० २९

प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहार-विहारिणाम्।

स्थूलानां सुखिनां चापि कुप्यते वातशोणितम् ॥४॥ सु० चि० अ० ५

अर्थ—नमकीन, खट्टे, कडुवे, खारे, चिकने, गर्म भोजन करने तथा भोजन के न पचने से सड़े हुए, सूखे, पानी में होनेवाले (मछली आदि) तथा कीचड़ में होनेवाले (सूकरादि) प्राणियों के मांस खाने से, खली, मूली, कुलथी, उर्द, सेम, शाक, मांस, ईख, दही, कांजी, सौवीर, सिरका, तक्र, मद्य एवं आसव, विरुद्ध (जैसे खट्टा मीठा), अध्यशन, क्रोध,

---

[1]—पित्त तथा कफ से संतुष्ट वायु के लक्षण तो वातव्याधिप्रकरण में कह ही चुके हैं। अब रक्त से वायु के लक्षण इस प्रकरण में कहे जायँगे।

दिवाशयन, जागरण (रात में) से प्रायः सुकुमार (आजकल की बाबू-पार्टी), असात्म्य आहार विहार करनेवाले, स्थूल एवं सुखी (आलसी) पुरुषों को 'वातरक्त' नामक रोग हो जाता है।

वातरक्तस्य सम्प्राप्तिः ।

हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यन्नं स विदाहोऽशनस्य ।
कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु ॥
तत्संपृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ॥ ५ ॥
सु० नि० अ० १

अर्थ—हाथी, घोड़ा एवं ऊँट की पीठ पर (बिना रकाब के पैर लटका कर) चढ़ कर यात्रा करने वाले तथा विदाहकारी अन्नों का सेवन करनेवाले पुरुष के भोजन की गर्मी शरीर के सम्पूर्ण रक्त को गर्म कर देती है (दूषित कर देती है), वह दूषित रक्त सारे शरीर से आकर पैरों में इकट्ठा हो जाता है। दूषित वायुसे मिला हुआ होने अथवा वायु की प्रबलता के कारण इस रोग को 'वातरक्त' कहा जाता है।

वातरक्तस्य पूर्वरूपाणि ।

स्वेदोऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक् ।
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः ॥ ६ ॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु ।
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ॥ ७ ॥
कण्डूः सन्धिषु रुग् भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत् ।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम् ॥८॥ च०चि०अ०२९

अर्थ—अत्यन्त पसीना या सर्वथा पसीना न आना, शरीर पर कालापन छा जाना, स्पर्श का अनुभव न होना, क्षत में अत्यन्त पीड़ा होना, सन्धियों में शिथिलता, आलस्य, अंगों का अवसाद, फुन्सियाँ निकलना, जानु, जंघा, ऊरु, कमर, कन्धा, हाथ, पाँव एवं सम्पूर्ण शरीर की सन्धियों में व्यथा, फड़कन, फटने की सी पीड़ा, भारीपन, शून्यता और खुजली, सन्धियों में बारम्बार पीड़ा होकर उसका शान्त हो जाना,

शरीर का रंग बदल जाना, सम्पूर्ण शरीर पर चकत्ते पड़ना ये वातरक्त के पूर्वरूप हैं।

वाताधिकवातरक्तस्य लक्षणम्।

वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूल-स्फुरण-भञ्जनम्।
शोथस्य रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्यावता वृद्धिहानयः ॥ ९ ॥
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां संकोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्।
शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भ-वेपथु-सुप्तयः ॥१०॥ च० चि० अ० २९

अर्थ—वातरक्त में वायु के अधिक होने पर शूल, फड़कन, टूटने की सी पीड़ा, सूजन में रूखापन, कालापन अथवा कुछ कालापन, शोथ का बढ़ना और घटना, धमनी, अंगुली एवं सन्धियों का संकोच, अंगों की जकड़न एवं अत्यन्त पीड़ा, शीत पदार्थों में अरुचि और उनके सेवन से रोगवृद्धि, सारे शरीर में जकड़न, कम्प एवं शून्यता अधिक होती है।

रक्ताधिकवातरक्तस्य लक्षणम्।

रक्ते शोथोऽतिरुक्तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते।
स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डू-क्लेद-समन्वितः॥११॥ च० चि० अ० २९

अर्थ—रक्त के अधिक होने से शोथ, अत्यन्त पीड़ा, सूई चुभने की पीड़ा से युक्त एवं लाल हो जाता है और उसमें चुनचुनाहट होती है। स्निग्ध तथा रूक्ष पदार्थों से आराम नहीं मिलता अन्ततो गत्वा शोथ में खुजली तथा सड़न उत्पन्न हो जाती है।

पित्ताधिकवातरक्तस्य लक्षणम्।

पित्ते विदाहः संमोहः स्वेदो मूर्च्छा मदस्तृषा।
स्पर्शासहत्वं रुग्रागः शोथः पाको भृशोष्मता ॥१२॥ च० चि० अ० २९

अर्थ—पित्त अधिक होने से अत्यन्त दाह, बदहोशी, पसीना, मूर्च्छा, मद (जैसे किसी मादक द्रव्य का सेवन किया हो), प्यास, थोड़ा सा भी छूने से अत्यन्त वेदना, शोथ में पीड़ा, लालिमा, पाक एवं अत्यन्त दाह होता है।

कफाधिकद्वन्द्वजत्रिदोषजानां वातरक्तानां लक्षणानि ।

कफे स्तैमित्य-गुरुता-सुप्ति-स्निग्धत्व-शीतताः ।

कण्डूर्मन्दा च रुग्,-द्वन्द्वं सर्वलिङ्गं च संकरात् ॥१३॥ सु० नि० अ० १

अर्थ—कफ की अधिकता से शोथ में गीलापन, भारीपन, शून्यता, चिकनाई, शीतता, खुजली एवं थोड़ी पीड़ा होती है। दो दोषों के लक्षणों के मिलने से द्वन्द्वज तथा सब दोषों के लक्षण मिलने से सन्निपातज वातरक्त माना जाता है।

वातरक्तस्य प्रसारः ।

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि ।

आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति ॥ १४ ॥ सु० नि० अ० १

अर्थ—यह रोग प्रारम्भ में पैरों एवं कभी कभी हाथों में उत्पन्न होकर मूसे के विष[1] के समान कुपित होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है।

वातरक्तस्यासाध्यलक्षणानि ।

आजानु स्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतं च यत् ।

उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राण-मांस-क्षयादिभिः ॥ १५ ॥

वातरक्तमसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम् । सु० नि० अ० १

अर्थ—जिस वातरक्त में घुटनों तक फफोले फूट निकले हों, मांस की क्षीणता आदि उपद्रवों से युक्त हो, वह वातरक्त असाध्य होता है और एक वर्ष का पुराना कोई भी वातरक्त याप्य होता है।

वातरक्तस्योपद्रवाः ।

अस्वप्नारोचक-श्वास-मांसकोथ-शिरोग्रहाः ॥ १६ ॥

संमूर्च्छा-मद-रुक्-तृष्णा-ज्वर-मोह-प्रवेपकाः

हिक्का-पांगुल्य-वीसर्प-पाक-तोद-भ्रम-क्लमाः ॥ १७ ॥

अंगुलीवक्रता-स्फोट-दाह-मर्मग्रहार्बुदाः ।

१—मूसे के विष का लक्षण विष-निदान में देखिये ।

एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत् ।। १८ ।।
अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् । च० चि० अ० २६

अर्थ—निद्रा का अभाव, अरुचि, श्वास, मांस का सड़ना, सिर में दर्द, बेहोशी, मद, पीड़ा, प्यास, ज्वर, बदहोशी, कम्पन, हिचकी, पंगुपन, वीसर्प, पीब पड़ना, व्यथा, चक्कर, सुस्ती, अंगुलियों में टेढ़ापन, फफोले निकलना, दाह, हृदय-बस्ति आदि मर्मों की क्रिया में बाधा, एवं रसौलियों का निकलना इन उपद्रवों से युक्त वातरक्त असाध्य होता है। थोड़े बहुत उपद्रवों से युक्त याप्य एवं सर्वथा उपद्रवों से रहित साध्य होता है।

वातरक्तस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम् ।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ।।१९।। च० चि० अ० २९

अर्थ—एक दोषज एवं नवीन वातरक्त साध्य, द्विदोषज याप्य तथा त्रिदोषज अथवा उपद्रवों से युक्त वातरक्त असाध्य होता है।

ऊरुस्तम्भनिदानम् ।[1]

आमवातस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः ।

शीतोष्ण-द्रव-संशुष्क-गुरु-स्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयास-संक्षोभ-स्वप्न-जागरैः ।। १ ।।
सश्लेष्म-मेदः-पवनः साममत्यर्थसञ्चितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ।। २ ।।
सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च ।
तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ।। ३ ।।

१—इस रोग में कफ, मेदा तथा आम को साथ लिये वायु कुपित होता है। इस रोग का प्रभाव अधिकतर ऊरुओं पर पड़ता है। अतएव इसे "ऊरुस्तम्भ" कहा जाता है।

परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानाङ्गमर्द-स्तैमित्य-तन्द्रा-च्छर्द्यरुचि-ज्वरैः ॥ ४ ॥
संयुक्तौ पादसदन-कृच्छ्रोद्धरण-सुप्तिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥ ५ ॥

अर्थ—शीत, गर्म, पतले, सूखे, भारी एवं चिकने पदार्थों के सेवन से, भूखे या भरे पेट परिश्रम करना, दौड़ना, सोना तथा जागना आदि कारणों से श्लेष्मा, मेदा और वायु से युक्त अत्यन्त संचित आम पित्त को घटा कर अधोगामिनी सिराओं द्वारा यदि ऊरुओं में आ जाता है तो मन्द गति कफ से टांग की अस्थियों को भीतर से भर देता है जिससे ऊरु जकड़ जाते हैं। वे ठंढे, चेतनारहित, दूसरे के उधार लिये हुए के समान तथा अत्यन्त पीड़ित होते हैं। रोगी ध्यान लगाये बैठा रहता है। वह अंगों की पीड़ा, तन्द्रा, छर्दि, अरुचि एवं ज्वर से युक्त रहता है। दोनों पैर अवसन्नता से युक्त, उठाने में कष्ट देनेवाले एवं स्पर्शज्ञान से रहित हो जाते हैं। इस रोग को 'ऊरुस्तम्भ' तथा कुछ लोग 'आढ्य-वात' कहते हैं।

अथोरुस्तम्भस्य पूर्वरूपाणि ।

प्राग्रूपं तस्य निद्राऽतिध्यानं स्तिमितता ज्वरः ।
रोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्जंघोर्वोः सदनं तथा ॥ ६ ॥ च० चि० अ० २७

अर्थ—उसके पूर्वरूप ये हैं:—नींद, अत्यन्त चिन्ता, शरीर का गीलापन, ज्वर, रोमांच, अरुचि, छर्दि एवं जांघों तथा ऊरुओं में अवसन्नता।

अथोरुस्तम्भस्य लक्षणानि ।

वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य[1] स्यात्स्नेहनात्पुनः ।
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥ ७ ॥

1—वातव्याधि समझ कर स्नेहनक्रिया करने से कफ, मेदा एवं आम और भी अधिक बढ जाते हैं। फल होता है रोगवृद्धि।

जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने ।
पादं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥ ८ ॥
संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः ।
अन्यस्येव हि सम्भग्नावूरू पादौ च मन्यते ॥९॥ च०चि०अ०२८

अर्थ—ऊरुस्तम्भ में वायु के कुछ लक्षणों के मिलने से मूर्खता के कारण वातजन्य रोग की शंका करनेवाले वैद्यों द्वारा स्नेहन करने से पुनः पैरों में सुषुप्ति तथा उठाने में कष्ट होता है। जङ्घा एवं ऊरु में अत्यन्त पीड़ा, थोड़ी दाह और वेदना होती है । पैर टिका कर रखने से व्यथित होते हैं, वे शीत होते हैं, उन्हें स्पर्श का ज्ञान नहीं होता । खड़े होने में, हाथ से दबाने में पीड़ा होती है और चलने में तथा पैरों को इधर-उधर करने में रोगी असमर्थ होता है । रोगी अपने ही पैरों तथा ऊरुवों को दूसरे का टूटा हुआ समझता है ।

अथोरुस्तम्भस्यासाध्यलक्षणानि ।

यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत् ।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साधयेदन्यथा नवम् ॥ १० ॥ च० चि अ० २७

अर्थ—जब रोगी दाह, पीड़ा एवं सूई के चुभने की पीड़ा से युक्त होता है तथा काँपने लगता है; तब ऊरुस्तम्भ उसे मार डालता है। नहीं तो इन लक्षणों से रहित एवं नवीन ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा करनी चाहिए ।

आमवातनिदानम् ।[1]

आमवातस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः ।

विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च ।
स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा ॥ १ ॥

१—इस निदान में "यत्रस्थमामं" श्लोक का ही विस्तृत व्याख्यान है । आम का कफ के स्थानों (आमाशय आदि) पर समान गुण होने के कारण अधिक प्रभाव पड़ता है ।

वायुना प्रेरितो ह्याम: श्लेष्मस्थानं प्रधावति ।
तेनात्यर्थं विदग्धोऽसौ धमनी: प्रतिपद्यते ॥ २ ॥
वात–पित्त–कफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः ।
स्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः ॥ ३ ॥
जनयत्याशु दौर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च ।
व्याधीनामाश्रयो ह्येष आमसंज्ञोऽतिदारुणः ॥ ४ ॥

अर्थ—विरुद्ध आहार–विहार करने से, अग्नि मन्द हो जाने से, परिश्रम न करने से, चिकने अन्नों को खाने से अथवा बहुत अधिक व्यायाम करने से वायु द्वारा प्रेरित किया हुआ आम श्लेष्मा के स्थान हृदय में चला जाता है । वहाँ अत्यन्त विकृत होकर महाधमनी में चढ़ कर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है अथवा वात, पित्त, कफ द्वारा अत्यन्त दूषित वही अन्न का आम रस अनेक वर्ण का तथा लसीका होकर स्रोतों द्वारा निकलता[1] है । यह शीघ्र ही दुर्बलता उत्पन्न कर देता है और हृदय में भारीपन कर देता है । यह आमसंज्ञक दोष बहुत (विसूची अलसकादि) से रोगों को उत्पन्न कर देता है । एवं अत्यन्त भयानक होता है ।

अथामवातस्य पूर्वरूपाणि ।

युगपत् कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशकौ ।
स्तब्धं च कुरुतो गात्रमामवातः स उच्यते ॥ ५ ॥

अर्थ—यदि आम और वात साथ साथ कुपित होकर कमर एवं संधियों में प्रविष्ट होकर उन्हें स्तब्ध कर देते हैं तो इस रोग को "आमवात" कहा जाता है ।

१—(१) आमाशय से मुख तथा गुदमार्ग द्वारा, (२) शिर से नाक आदि द्वारा, (३) कण्ठ या फुप्फुस से कासादि द्वारा निकलता देखा जा सकता है किन्तु जो हृदय में जाता है वह धमनियों द्वारा शरीर में घूमते २ सन्धियों में चिपक जाता है । बस यही "गठिया" का हेतु बन जाता है ।

अथामवातस्य सामान्यलक्षणानि ।

अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा आलस्यं गौरवं ज्वरः ।
अपाकः शूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम् ॥ ६ ॥

अर्थ—आमवातका सामान्य लक्षण इस प्रकार है:—अंगों में मर्दन की सी पीड़ा, अरुचि, प्यास, आलस्य, शरीर में भारीपन, कभी कभी ज्वर, अन्न का न पचना तथा अंगों का सूज जाना ।

अथातिवृद्धिं गतस्यामवातस्य लक्षणानि ।

स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत् ।
हस्त-पाद-शिरो-गुल्फ-त्रिक-जानूरु-सन्धिषु ॥ ७ ॥
करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते ।
स देशो रुजतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ॥ ८ ॥
जनयेत् सोऽग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचिगौरवम् ।
उत्साहहानिं वैरस्यं दाहं च बहुमूत्रताम् ॥ ९ ॥
कुक्षौ कठिनतां शूलं तथा निद्राविपर्ययम् ।
तृट्-छर्दि-भ्रम-मूर्च्छाश्च हृद्ग्रहं विड्विबद्धताम् ॥
जाड्यान्त्रकूजमानाहं कष्टांश्चान्यानुपद्रवान् ॥ १० ॥

अर्थ—यह आमवात जब कुपित हो जाता है, तब सब रोगों से अधिक कष्ट देता है और हाथ, पाँव, सिर, घुट्टी (गिट्टा), कमर, जानु एवं शरीर की सन्धियों में पीड़ायुक्त शोथ[1] कर देता है । और जहाँ ही दोष पहुंचता है वहीं बिच्छू के काटने की सी अत्यन्त पीड़ा (टीस सी) होती है । और अग्नि की मन्दता, मुँह से पानी जाना, शरीर का भारीपन, आलस्य, मुँह की विरसता, दाह, बहुमूत्रता, पेट में कड़ापन, शूल, उचित समय पर नींद न आना, प्यास, वमन, चक्कर, मूर्च्छा, हृदय की क्रिया में रुकावट, कब्ज, अंगों की जड़ता, अँतड़ियों की गति में

1—बस यही "गठिया" है ।

रुकावट आदि अन्यान्य भी कष्टप्रद खल्ली आदि उपद्रवों[1] को कर देता है।

पित्तादियुक्तस्य विशेषलक्षणानि।

पित्तात् सदाहरागं च सशूलं पवनानुगम्।
स्तिमितं गुरुकण्डू च कफदुष्टं तमादिशेत्॥ ११॥

अर्थ—उपर्युक्त आमवात में यदि पित्त की कुछ अधिकता होती है तो उपर्युक्त लक्षणों के साथ साथ दाह एवं लालिमा, वायु की अधिकता से शूल, कफ की अधिकता से भीगापन, भारीपन एवं खुजली विशेषरूप से हो जाते हैं।

अथास्य साध्यासाध्यत्वादिविचारः।

एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते।
सर्वदेहचरः शोथः स कृच्छ्रः सान्निपातिकः॥ १२॥

अर्थ—एकदोष प्रधान आमवात साध्य, द्विदोषप्रधान याप्य एवं त्रिदोषज सर्वशरीरगामी शोथवाला आमवात कृच्छ्रसाध्य होता है।

शूल, परिणामशूल तथा अन्नद्रवशूल निदानम्।[2]

शूलरोगस्योत्पत्तिक्रमः।

दोषैः पृथक् समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत्।
सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः॥ १॥

अर्थ—यद्यपि वात, पित्त, कफ, सन्निपात, आम, एवं दो दो दोषों से शूल आठ प्रकार का होता है, परन्तु सभी शूलों में प्रायः वायु ही बलवान् होता है।

१—यही कफ के भिन्न २ के प्रभावित होने के लक्षण हैं, भला ढूँढ़िये, तो कैसे।

२—यह कोष्ठ में होनेवाला वह रोग है जिसको साधारणतया "पेट दुखना" कहा जाता है। तथापि यह कोष्ठ के भिन्न २ स्थानों में होता है अतः इसके स्थानानुरूप नाम भी भिन्न २ होते हैं और चिकित्सा भी भिन्न २। आप बतलाइये कि कोष्ठ में कौन २ अवयव हैं। हाँ उन उन अवयवों में होनेवाला स्वतन्त्र शूल "शूलरोग" (लक्ष्य) कहलाता है और भिन्न २ रोगों में होनेवाला परतन्त्र शूल लक्षण।

वातशूलस्य निदानानि ।

व्यायामयानादतिमैथुनाच्च प्रजागराच्छीतजलातिपानात् ।
कलाय–मुद्गाढकि–कोरदूषादत्यर्थरूक्षाध्यशनाभिघातात् ॥ २ ॥
कषाय–तिक्तातिविरूढजान्न–विरुद्ध–वल्लूरक–शुष्कशाकात् ।
विट्-शुक्र-मूत्रानिल-वेगरोधाच्छोकोपवासादतिहास्यभाष्यात् ॥३॥
वायुः प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं हृत्-पार्श्व-पृष्ठ-त्रिक-वस्ति-देशे ।
जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च शीते च कोपं समुपैति गाढम् ॥४॥
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपी विड्-वात-संस्तम्भन-तोदभेदैः ।
संस्वेदना-भ्यञ्जन-मर्दनाद्यैः स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं प्रयाति ॥५॥

अर्थ—व्यायाम, ऊबड़ खाबड़ रास्ते पर हिचकोलेदार सवारी पर यात्रा, अतिमैथुन, अत्यन्त जागरण, ठंढे पानी का अधिक व्यवहार, मटर, मूंग, अरहर, कोदो एवं अत्यन्त रूखे पदार्थों का सेवन, अध्यशन, चोट, कसैले, कडुवे अंकुरित अन्न, विरुद्ध पदार्थ, सूखा मांस, सूखे शाक, विष्ठा, शुक्र, मूत्र एवं वायु का वेग रोकना, शोक, उपवास, अत्यन्त हँसना एवं बोलना इन कारणों से बढ़ा हुआ वायु हृदय, पसलियाँ, पीठ, कमर, एवं वस्ति में शूल उत्पन्न कर देता है। यह शूल अन्न पचने पर सायंकाल, बादल रहने पर, एवं शीतकाल में विशेष रूप से होता अथवा बढ़ता है। इसके निम्न लक्षण हैं:—बारम्बार शान्त होना और कुपित होना, विष्ठा तथा वायु का रुकना, सूई के चुभने एवं फटने की सी पीड़ा। इसका उपशय निम्न है:—

स्वेद, मालिश और मर्दन करने से तथा स्निग्ध और उष्ण भोजनों के सेवन से शान्त होता है।

१—भींगे अथवा शीलदार स्थान में रखने के कारण चने आदि धान्यों में अंकुर निकल आता है। इस अंकुरित धान्य को "विरूढ़" या "घुघुरी" या वरुढ़ (पञ्जाब में) कहा जाता है।

पैत्तिकशूलस्य निदानानि ।

क्षारातितीक्ष्णोष्ण-विदाहि-तैल-निष्पाव-पिण्याक-कुलत्थ-यूषैः ।
कट्वम्ल-सौवीर-सुराविकारैः क्रोधानलाऽऽयास-रविप्रतापैः ॥६॥
ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धैः पित्तं प्रकुप्याशु करोति शूलम् ।
तृण्-मोह-दाहाऽऽर्ति-करं हि नाभ्यां संस्वेद-मूर्च्छा-भ्रम-चोष-युक्तम्॥
मध्यन्दिने कुप्यति चार्धरात्रे विदाहकाले जलदात्यये च ।
शीते च शीतैः समुपैति शान्तिं सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्च ॥ ८ ॥

अर्थ—खारे, तीखे, उष्ण एवं विदाहकारी भोजनों से, तैल, सेम, खली एवं कुलथी की दाल खाने से, कड़वे, खट्टे पदार्थों के सेवन से, कांजी एवं अनेक प्रकार के मद्य का पान करने से, क्रोध करने से, अग्नि का सेवन, परिश्रम एवं सूर्य की धूप लगने से, अधिक मैथुन करने से, पाचक पित्त की विकृति के कारण अन्न का उचित पाक न होने से, पित्त कुपित होकर शीघ्र ही शूल उत्पन्न कर देता है। यह शूल नाभि में होता है और इस के लक्षण ये हैं:—प्यास, बदहोशी, पीड़ा, पसीना, मूर्च्छा, चक्कर एवं टीस।

यह शूल मध्याह्न, आधी रात, भोजन की पच्यमानावस्था एवं शरद ऋतु में विशेष रूप से उत्पन्न होता या बढ़ता है। और शीतकाल में शीत पदार्थों के सेवन से, स्वादिष्ठ तथा शीत वीर्य भोजनों से शान्त हो जाता है।

श्लैष्मिकशूलस्य निदानानि ।

आनूप-वारिज-किलाट-पयोविकार-
मांसेक्षु-पिष्ट-कृशरा-तिल-शष्कुलीभिः ।
अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च
श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम् ॥ ९ ॥
हृल्लास-कास-सदनारुचि-संप्रसेकै-
रामाशये स्तिमितकोष्ठ-शिरोगुरुत्वैः ।

भुक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं
सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥ १० ॥

अर्थ—कीचड़ में रहने एवं जल में रहने वाले प्राणियों के मांस, छेना, दूध से निर्मित वस्तुयें (खोया, खीर आदि), मांस, ईख, पीठी के पदार्थ, खिचड़ी, तिल, कचौड़ी तथा अन्यान्य कफकारक कारणों से श्लेष्मा कुपित होकर शूल कर देता है। इस के निम्न लक्षण हैं:—

जी मिचलाना, खांसी, ग्लानि, अरुचि, मुँह से पानी जाना, गीलापन, कोष्ठ एवं सिर में भारीपन। यह शूल आमाशय में होता है। भोजन करने पर अथवा सदैव प्रातःकाल और शीतकाल तथा वसन्त ऋतु में उत्पन्न होता अथवा बढ़ता है।

सान्निपातिकशूलस्य लक्षणानि।

सर्वेषु दोषेषु च सर्वलिङ्गं विद्याद्भिषक् सर्वभवं हि शूलम्।
सुकष्टमेनं विष-वज्र-कल्पं विवर्जनीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ११ ॥

अर्थ—सभी दोषों के कुपित होने पर सभी लक्षणों से युक्त शूल को वैद्य "सान्निपातिक शूल" समझे। इस अत्यन्त कष्टप्रद एवं विष तथा वज्र के समान शूल को विद्वान् असाध्य होने के कारण त्याज्य कहते हैं।

अथामशूलस्य लक्षणानि।

आटोप-हृल्लास-वमी-गुरुत्व-स्तैमित्यकाऽऽनाह-कफप्रसेकैः।
कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति ॥ १२ ॥

अर्थ—गुड़गुड़ शब्द, जी मिचलाना, वमन, भारीपन, जड़ता, आनाह, कफ निकलना, इन एवं उपर्युक्त कफज शूल के लक्षणों से युक्त शूल को 'आमशूल' कहा जाता है।

त्रिदोषोत्पन्नशूलस्य लक्षणानि।

वस्तौ हृत्-पार्श्व-पृष्ठेषु स शूलः कफवातिकः।
कुक्षौ हृन्-नाभि-मध्येषु स शूलः कफपैत्तिकः ॥ १३ ॥
दाह-ज्वर-करो घोरो विज्ञेयो वातपैत्तिकः।

अर्थ—वस्ति, हृदय, पसली तथा पीठ में होनेवाला शूल कफवातज, कुक्षि (आमाशय), हृदय, नाभि में होनेवाला शूल कफपैत्तिक एवं उपर्युक्त स्थानों में ही होनेवाला और दाह तथा ज्वर करनेवाला घोर शूल वातपित्तज जानना चाहिये।

शूलरोगस्य साध्यासाध्यत्वम्।

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥ १४ ॥
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः।

अर्थ—एकदोषज शूल साध्य, द्विदोषज कृच्छ्रसाध्य एवं त्रिदोषज और अनेक उपद्रवों से युक्त तथा भयानक शूल असाध्य होता है।

वक्तव्य—शूल के उपद्रव यह हैं—

वेदना च तृषा मूर्च्छा ह्यानाहो गौरवाऽरुची।
कासः श्वासश्च हिक्का च, शूलस्योपद्रवाः स्मृताः ॥

अर्थ—कम से कम इस श्लोक का अर्थ तो आप ही लगाइये।

परिणामशूलस्य सम्प्राप्तिः।

स्वैर्निदानैः प्रकुपितो वायुः संनिहितस्तदा ॥ १५ ॥
कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद् बली।
भुक्ते जोर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ॥ १६ ॥
तस्य लक्षणमप्येतत् समासेनाभिधीयते।

अर्थ—अपने कारणों से कुपित वायु कफपित्त के घटने से और भी बलवान् होकर शूल उत्पन्न कर देता है। यह शूल भोजन पचते समय[1] होता है। इसी लिये इसका नाम "परिणामशूल" है। इसका संक्षिप्त लक्षण निम्न है :—

वातिकपरिणामशूलस्य लक्षणम्।

आध्मानाटोप-विण्-मूत्र-विबन्धारति-वेपनैः ॥ १७ ॥
स्निग्धोष्णोपशमप्रायं वातिकं तद् वदेद् भिषक्।

१—भोजन करने पर एवं पचने पर यह शांत हो जाता है।

तृष्णा-दाहारति-स्वेदं कट्वम्ल-लवणोत्तरम् ॥ १८ ॥
शूलं शीतशमप्रायं पैत्तिकं लक्षयेद् बुधः ।
छर्दि-हृल्लास-संमोह-स्वल्परुग् दीर्घसन्तति ॥ १९ ॥
कटु-तिक्तोपशान्तं च तच्च ज्ञेयं कफात्मकम् ।

अर्थ—अफरा, गुड़गुड़ाहट, विष्ठा तथा मूत्र की रुकावट, बेचैनी एवं कम्पन से युक्त तथा स्निग्ध और उष्ण पदार्थों के सेवन से शान्त होनेवाला शूल वातज परिणामशूल होता है ।

तृष्णा, दाह, बेचैनी, स्वेद से युक्त, कडुए, खट्टे तथा नमकीन पदार्थों से बढ़नेवाला और शीतोपचार से शान्त होनेवाला शूल पित्तज परिणामशूल होता है ।

वमन, जी मिचलाना, बदहोशी, थोड़ी पीड़ा से युक्त, देर तक रहनेवाला, कडुवे एवं तिक्त पदार्थों से शान्त होनेवाला शूल कफज परिणामशूल होता है ।

द्वन्द्वजपरिणामशूलस्य लक्षणम् ।

संसृष्टलक्षणं बुद्ध्वा द्विदोषं परिकल्पयेत् ॥ २० ॥
त्रिदोषजमसाध्यं तु क्षीण-मांस-बलानलम् ।

अर्थ—मिले हुए लक्षणों को देखकर द्विदोषज तथा त्रिदोषज परिणामशूल की कल्पना करनी चाहिये । और मांस, बल एवं अग्नि क्षीण हो जाने पर उक्त रोग असाध्य हो जाता है ।

अन्नद्रवाख्यशूलस्य लक्षणानि ।

जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते ॥ २१ ॥
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च ।
न शमं याति नियमात् सोऽन्नद्रव उदाहृतः ॥ २२ ॥

अर्थ—अन्न के पच जाने पर, पच्यमानावस्था में अथवा न पचने पर[1] जो शूल उत्पन्न होता है, वह पथ्य या अपथ्य के उपयोग से भोजन

१—अर्थात् सर्वदा शूल होता है ।

करने या न करने से नियमानुसार शान्त नहीं होता। उसे अन्नद्रव शूल कहा जाता है।

(अन्नद्रवाख्यशूलेषु न तावत् स्वास्थ्यमश्नुते।
वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूलमाशु व्यपोहति ॥ १ ॥)

अर्थ—अन्नद्रव नामक शूल में रोगी तब तक स्वस्थ नहीं होता जब तक वमन होने के कारण पित्त के पच जाने से शूल शान्त नहीं होता।

वक्तव्य—अन्न में मिलनेवाले द्रव (पित्त आदि) अधिक मात्रा में मिल जाते हैं। अतएव सर्वदा शूल होता है, किन्तु जब वमन द्वारा ये निकल जाते हैं तब शूल भी शान्त हो जाता है।

उदावर्त्तनिदानम्।[1]

अथोदावर्त्तरोगस्य कारणानि।

वात-विण्-मूत्र-जृम्भा-ऽस्र-क्षवोद्गार-वमीन्द्रियाः।
क्षुत्तृष्णोच्छ्वास-निद्राणां धृत्योदावर्तसंभवः ॥ १ ॥

अर्थ—अधोवायु, पुरीष, मूत्र, जम्भाई, आंसू, छींक, डकार, वमन, शुक्र, भूख, प्यास, ऊर्ध्वश्वास एवं निद्रा के वेग को धारण करना ही उदावर्त्त की उत्पत्ति का कारण है।

वातोदावर्तस्य लक्षणम्।

वात-मूत्र-पुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा।
जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥ २ ॥

अर्थ—अधो (अपान) वायु के वेग को रोकने से उत्पन्न होने-

१—वेग दो प्रकार के होते हैं—१—धारणीय (रोकने योग्य) यथा—हिंसा, क्रोध आदि के वेग, २—अधारणीय (न रोकने योग्य जैसे मूत्रादि के) इन अधारणीय वेगों द्वारा शरीर से बाहर निकलने योग्य पदार्थों को न निकलने देने के कारण उनका "उत्—उलटा या ऊपर को या पीछे को आवर्त्त-घूमना या लौट जाना ही "उदावर्त्त" कहलाता है।" यह दो प्रकार का होता है-१—वह जो मनुष्य के अपने प्रमाद से (अर्थात् हठात् वेगों को रोकने से), २—वह जो वायु के प्रकोप से।

वाले उदावर्त्त में अधोवायु, मूत्र एवं पुरीष की रुकावट, अफरा, व्यर्थ थकावट, पेट में पीड़ा तथा अन्यान्य वातज व्याधियां हो जाती हैं।

मलावरोधजस्य लक्षणम्।

आटोप-शूलौ परिकर्तिका च सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः।
पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य ॥ ३ ॥

अर्थ—पुरीष के वेग को रोकने से पीड़ित मनुष्य के पेट में गुड़गुड़ शब्द, शूल (पक्काशय में), गुद में कैंचो से काटने की सी पीड़ा, पुरीष का निरोध, उद्गार अथवा कभी कभी मुखमार्ग से पुरीष भी निकलने लगता है।

मूत्ररोधजस्य लक्षणम्।

बस्ति-मेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजाः।
विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥ ४ ॥

अर्थ—मूत्र का वेग रोकने से बस्ति एवं मूत्रमार्ग में शूल, मूत्रकृच्छ्र, सिर में पीड़ा, विनाम, (पीड़ा के मारे पीड़ित स्थान को दबा कर रोगी बेतरह झुक जाता है।) वंक्षणों[1] का जकड़ना ये लक्षण होते हैं।

जृम्भोपघातजस्य लक्षणम्।

मन्या-गल-स्तम्भ-शिरोविकारा जृम्भोपघातात्पवनात्मकाः स्युः।
तथाऽक्षि-नासा-वदनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह कर्णरोगैः ॥ ५ ॥

अर्थ—जम्भाई को रोकने से मन्या एवं गले का जकड़ना, वायुजन्य शिरोरोग तथा आंख, नाक, मुख एवं कर्ण के भीषण रोग हो जाते हैं।

अथाश्रूदावर्तस्य लक्षणम्।

आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि।
शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन ॥ ६ ॥

अर्थ—आनन्द अथवा शोक से आये हुए आंसुओं को रोकने वाले मनुष्य को शिर का भारीपन, आंखों में अभिष्यन्दादि भीषण रोग तथा पीनस हो जाता है।

१—वस्तुतः यहाँ पर वंक्षण शब्द का अभिप्राय गवीनियों से है।

छिक्कोदावर्तस्य लक्षणम् ।

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ ।
इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात् ॥ ७ ॥

अर्थ—छींक को रोकने से मन्या का जकड़ना, सिर में पीड़ा, लकवा, आधाशीशी तथा चक्षु आदि इन्द्रियों में दुर्बलता होती है ।

अथोद्गारोदावर्तस्य लक्षणम् ।

कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः कूजश्च वायोरथवाऽप्रवृत्तिः ।
उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति घोरा विकाराः पवनप्रसूताः ॥ ८ ॥

सु० उ० अ० ५५

अर्थ—उद्गार का वेग रोकने से गला तथा मुंह भरा सा ज्ञात होना, व्यथा, पेट में कुलकुल शब्द होना, अधोवायु का न खुलना अथवा और भी वाताष्ठीला आदि वायु के बहुत से भयानक रोग हो जाते हैं ।

छर्द्युदावर्तस्य लक्षणम् ।

कण्डू-कोठारुचि-व्यङ्ग-शोथपाण्ड्वामय-ज्वराः ।
कुष्ठ-वीसर्प-हृल्लासाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः ॥९॥ च० सू० अ० ७

अर्थ—वमन को रोकने से खुजली, चकत्ते, अरुचि, झांई, शोथ, पाण्डुरोग, ज्वर, कोढ़, विसर्प एवं हृल्लास हो जाता है ।

शुक्रोदावर्तस्य लक्षणम् ।

मूत्राशये[1] वै गुदमुष्कयोश्च शोथो रुजा मूत्रविनिग्रहश्च ।
शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेच्च ते ते विकारा विहते च शुक्रे ॥१०॥

सु० उ० अ० ५५

अर्थ—शुक्र का वेग रोकने से बस्ति, गुद, अण्डकोष में सूजन

१—मूत्रयने (मूत्रमार्गे, मेढ्रे, चरक) पाठान्तर अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है । वास्तव में 'शुक्राशये' या "शुक्रायने" पाठ होना चाहिये । दर्शन स्पर्शन आदि सप्तविध मैथुनों के कारण शुक्र का निर्माण होने पर भी मैथुन न करने से उक्त लक्षण हो जाते हैं । भला बतलाइये क्यों ?

तथा पीड़ा, मूत्र का निरोध, शुक्राश्मरी, शुक्रमेह एवं वायु के अनेक रोग हो जाते हैं।

क्षुदुदावर्तस्य लक्षणम्।

तन्द्रा-ऽङ्गमर्दावरुचिः श्रमश्च क्षुधाभिघातात्कृशता च दृष्टेः।
कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोधस्तृष्णाविघाताद्‌ हृदये व्यथा च ॥

सु० उ० अ० ५५

अर्थ—भूख रोकने से तन्द्रा, अंगों में मर्दन की-सी पीड़ा, अरुचि, व्यर्थ थकावट एवं दृष्टि की न्यूनता हो जाती है। और प्यास को रोकने से कण्ठ और मुंह का सूखना श्रवणशक्ति का ह्रास तथा हृत्पिण्ड में व्यथा होती है।

श्वासोदावर्तस्य लक्षणम्।

श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः।
जृम्भाऽङ्गमर्दोऽक्षिशिरोतिजाड्यं निद्राभिघातादथवाऽपि तन्द्रा ॥

सु० उ० अ० ५५

अर्थ—व्यायामादि के कारण बढ़ी हुई श्वास की गति को रोकने से हृद्रोग, बदहोशी अथवा गुल्म हो जाता है। और नींद को रोकने से जम्भाई, अंगों में मर्दन की सी पीड़ा, आंख और सिर में जड़ता अथवा उँघाई आती है।

कुपितवातजोदावर्तस्य निदानानि।

वायुः कोष्ठानुगो रूक्षः कषाय-कटु-तिक्तकैः।
भोजनैः कुपितः सद्य उदावर्तं करोति हि ॥१३॥ सु० उ० अ० ५५

अर्थ—रूक्ष, कसैले, तीखे एवं तिक्त (कडुए) भोजनों से कुपित कोष्ठगत वायु उदावर्त्त कर देता है।

अथास्य सम्प्राप्तिः।

वात-मूत्र-पुरीषासृक्-कफ-मेदो-वहानि वै।
स्रोतांस्युदावर्तयति पुरीषं चातिवर्तयेत् ॥ १४ ॥
ततो हृद्‌-वस्ति-शूलाऽऽर्तो हृल्लासारतिपीडितः।

वात-मूत्र-पुरीषाणि कृच्छ्रेण लभते नरः ॥ १५ ॥
श्वास-कास-प्रतिश्याय-दाह-मोह-तृषा-ज्वरान् ।
वमि-हिक्का-शिरोरोग-मनः-श्रवण-विभ्रमान् ।
बहूनन्यांश्च लभते विकारान् वातकोपजान् ॥१६॥

अर्थ—उपर्युक्त कुपित वायु वायु, मूत्र, पुरीष, रक्त, कफ एवं मेदा को बहानेवाले स्रोतों को उलटा कर देता है। तथा पुरीष की गांठे बाँध देता है। इसके पश्चात् हृदय और वस्ति के शूल से रोगी व्याकुल हो जाता है। हृल्लास तथा बेचैनी से पीड़ित होता है। उसे वात मूत्र एवं पुरीष बड़ी कठिनता से उतरते हैं। रोगी को श्वास, कास, प्रतिश्याय, दाह, मोह, प्यास, ज्वर, वमन, हिचकी, शिरोरोग, मन की व्याकुलता, श्रवण-शक्ति का ह्रास अथवा और भी बहुत से वायु के रोग आ घेरते हैं।

आनाहरोगस्य[1] लक्षणानि ।

आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन ।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति १७ सु० उ० अ० ५६

अर्थ—आम दोष अथवा पुरीष क्रम से संचित होकर तत्पश्चात् विकृत वायु द्वारा बँधकर भली प्रकार प्राकृतिक गति नहीं करता (आमाशय से) आम नीचे की ओर एवं मलाशय से मल गुद की ओर नहीं सरकता। इस विकार को आनाह कहते हैं।

अथामजानाहस्य लक्षणम् ।

तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृष्णा-प्रतिश्याय-शिरोविदाहाः ।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृत्स्तम्भ उद्गारविघातनं च ॥१८॥
स्तम्भः कटी-पृष्ठ-पुरीष-मूत्रे शूलोऽथ मूर्च्छा शकृतश्च छर्दिः ।
शोथश्च पक्वाशयजे भवन्ति तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि ॥ १९ ॥
सु० उ० अ० ५६

१—यह दो प्रकार से होता है। १—आमाशय की स्वाभाविक गति रुकने से तथा २—पक्वाशय (अन्त्र एवं मलाशय) की गति रुकने से। आनाह-नह्-बन्धने धातु से आङ् उपसर्ग लगाकर आनाह शब्द का निर्माण होता है।

अर्थ—आमाशय के आनाह में प्यास, प्रतिश्याय, सिर में दाह, आमाशय में शूल एवं भारीपन, हृदय की क्रिया में बाधा या सर्वथा निरोध (हार्टफेल), उद्गार का रुकना, ये लक्षण होते हैं। मलाशय के आनाह में कमर और पीठ में जकड़न, मूत्र तथा पुरीष का निरोध, शूल, मूर्च्छा, पुरीष का वमन, शोथ अथवा पूर्वकथित अलसक के सभी लक्षण हो जाते हैं।

गुल्मनिदानम्।[1]

गुल्मरोगस्य सम्प्राप्तिः।

दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहार-विहारतः।
कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम्।

अर्थ—मिथ्या आहार-विहार से अत्यन्त दूषित वातादि दोष कोष्ठ के भीतर के गाँठ के रूप में पाँच प्रकार के गुल्म या वायुगोला कर देते हैं।

तस्य पञ्चविधं स्थानं पार्श्व-हृन्-नाभि-वस्तयः[2] ॥ १ ॥

अर्थ—उस गुल्म के निम्न पांच स्थान हैं:—पसवाडे (दोनों), हृदय, नाभि, गर्भाशय एवं वस्ति।

गुल्मरोगस्य सामान्यलक्षणम्।

हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः सञ्चारी यदि वाऽचलः।

१—इसे लोग, "वायुगोला" कहते हैं और यह होता भी है वायुप्रधान ही। जल में बुद् बुद के समान वायु ही की गुटि का सी बँध जाती है। किसी २ रोगी को ये गुटिका अनेक भी होती हैं। नाभि की गुटिकाएँ मर्दन (तैल सहित) क्रिया से गुल गुल शब्दपूर्वक टूटती हैं और अधोवायु के रूप में निकल जाती हैं।

२—नाभि (आमाशय से मलाशय तक का भाग एवं गर्भाशय) और वस्ति का गुल्म स्पर्श द्वारा जाना जा सकता है, किन्तु हृदय एवं पार्श्व (फुप्फुसों) का नहीं। मेरा विचार है कि इस प्रकरण में नाभि के ही गुल्म का वर्णन विस्तार से किया गया है और दूसरों का बहुत संक्षेप से। इसके विशेष लक्षण यह हैं यथा—पार्श्व गुल्म में "उच्छ्वासश्चास्योपरुध्यते" च०चि०अ०३। हृदय में "हृदयरोग" नाभि—(महास्रोत) में "मलबन्धादि"। गर्भाशय में "रजोऽवरोध"। वस्ति में "मूत्रकृच्छ्र"।

वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः ॥२॥ सु० उ० अ० ४२

अर्थ—हृदय एवं वस्ति के मध्य में इधर-उधर हटनेवाली अथवा अचल, गोल, बड़ी एवं छोटी होनेवाली जो गांठ उत्पन्न हो जाती है, उसे गुल्म या गोला कहा जाता है।

गुल्मरोगस्य संख्यारूपा सम्प्राप्तिः।

स व्यस्तैर्जायते दोषैः समस्तैरपि चोच्छ्रितैः।

पुरुषाणां, तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः ॥ ३ ॥ सु० उ० अ० ४२

अर्थ—वह गुल्म बढ़े हुये भिन्न भिन्न एवं सम्मिलित वातादि दोषों से पुरुष और स्त्रियों को होता है, पाचवां रक्त से होनेवाला गुल्म (गर्भाशय में) केवल स्त्रियों को ही होता है।

गुल्मरोगस्य पूर्वरूपाणि।

उद्गारबाहुल्य-पुरीषबन्ध-तृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि।

आटोप आध्मानमपक्तिशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥ ४ ॥
वा० नि० अ० ११

अर्थ—गुल्म के ये पूर्वरूप हैं:—उद्गारों की अधिकता, पुरीष में रुकावट, सर्वदा पेट भरा हुआ ज्ञात होना, प्रत्येक कार्य में अक्षमता, अँतड़ियों में कुल-कुल अथवा गुड़गुड़ शब्द होना, अफरा तथा पाचन शक्ति का ह्रास।

गुल्मस्य साधारणं रूपम्।

अरुचिः कृच्छ्रविण्-मूत्र-वातताऽन्त्रविकूजनम्।

आनाहश्चोर्ध्ववातत्वं सर्वगुल्मेषु लक्षयेत् ॥ ५ ॥

अर्थ—सभी गुल्मों के सामान्य लक्षण ये हैं:—अरुचि, पुरीष, मूत्र तथा अधोवायु का कष्टपूर्वक उतरना, अन्त्रकूजन, आनाह एवं उद्गार।

वातगुल्मस्य हेतवो लक्षणानि च।

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च।

शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥ ६ ॥

यः स्थान-संस्थान-रुजां विकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्र-शोषम् ।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरंच हृत्-कुक्षिपार्श्वांस-शिरो-रुजं च ॥७॥
करोति जीर्णे त्वधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च ।
वातात् स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषाय-तिक्तं कटु चोपशेते ॥८॥
च० चि० अ० ५

अर्थ—रूखे, न्यूनाधिक अथवा अधिक मात्रा में अन्नपान का सेवन, विरुद्ध चेष्टायें, वेगों का रोकना, शोक, पेट पर चोट, विरेचनादि द्वारा मल का अत्यन्त निकल जाना अथवा भूखे रहना ये वातगुल्म के कारण हैं।

जो गुल्म अपने निवासस्थान, स्वरूप तथा पीड़ाओं में परिवर्त्तन करता रहे, पुरीष एवं अधोवायु का निरोध, गला और मुँह का शोष, त्वचा पर कालिमा अथवा लालिमा, शीतज्वर, हृदय, अन्त्र, पसलियाँ, कन्धे और सिर में पीड़ा तथा भोजन पच जाने पर उक्त लक्षणों में वृद्धि करे, भोजन करने पर कुछ शान्त हो जाय वह 'वातगुल्म' होता है। इस गुल्म में रूखे, कसैले, कडुये, तीखे पदार्थ लाभदायक नहीं होते।

पैत्तिकगुल्मस्य निदानानि।

कट्वम्ल-तीक्ष्णोष्ण-विदाहि-रूक्ष-क्रोधातिमद्यार्क-हुताश-सेवा ।
आमाभिघातो रुधिरंच दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥९॥
ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च ।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥१०॥
च० चि० अ० ५

अर्थ—मरिचादि कडुये पदार्थ, खट्टे, तीखे, गरम, विदाहकारी, रूखे पदार्थ, क्रोध, अत्यन्त मद्य, सूर्य एवं अग्नि के सन्ताप का अति सेवन, आमदोष का संचय, रक्त का दूषित होना ये सब पित्तज गुल्म के कारण हैं।

ज्वर, प्यास, चेहरे (विशेषतः) तथा शरीर पर लालिमा, भोजन

की पच्यमानावस्था में अत्यन्त शूल, पसीना, अत्यन्त दाह, गुल्म को छूने से फोड़े के समान पीड़ा ये सब पित्तगुल्म के लक्षण हैं।

श्लैष्मिकगुल्मस्य निदानानि।

शीतं गुरुस्निग्धमचेष्टनं च सम्पूरणं प्रस्वपनं दिवा च।
गुल्मस्य हेतुः कफसम्भवस्य, सर्वस्तु दुष्टो निचयात्मकस्य ॥११॥
च० चि० अ० ५

अर्थ—ठंढे, भारी एवं चिकने पदार्थों का अति सेवन, किसी प्रकार का परिश्रम न करना, अत्यन्त भोजन करते जाना तथा दिन में सोना ये कफज गुल्म के कारण हैं।

तीनों प्रकार के गुल्मों के सम्मिलित कारण त्रिदोषज गुल्म के कारण होते हैं।

श्लैष्मिकगुल्मस्य लक्षणानि।

स्तैमित्य-शीतज्वर-गात्रसाद-हृल्लास-कासारुचि-गौरवाणि।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥१२॥
च० चि० अ० ५

अर्थ—गीलापन, शीतज्वर, अंगों में अवसन्नता, जी मिचलाना, खांसी, अरुचि, भारीपन, शीत लगना, थोड़ी पीड़ा, गुल्म का कड़ा एवं ऊँचा होना ये सब कफज गुल्म के लक्षण हैं।

द्वन्द्वजगुल्मस्य लक्षणानि।

निमित्तरूपाण्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबलं च।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांश्च गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥ १३ ॥
च० चि० अ० ५

अर्थ—एक एक गुल्म में दो दो दोषों के कारण तथा लक्षणों को एवं दोष के बलाबल को देखकर मिश्रित लक्षणोंवाले तीन द्विदोषज गुल्मों का भी निश्चय कर लेना चाहिये। इससे चिकित्सा करने में सुविधा रहती है।

सान्निपातिकगुल्मस्य लक्षणानि।

महारुजं दाहपरीतमश्मवद्घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम्।

मनःशरीराग्निबलापहारिणं त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥१४॥

च० चि० अ० ५

अर्थ—अत्यन्त पीड़ा एवं शरीर भर के दाह से युक्त, पत्थर के समान कड़ा और ऊँचा, दाह से युक्त, भीषण, मन, शरीर तथा पाचकाग्नि के बल को हरनेवाला गुल्म त्रिदोषज गुल्म होता है। इसे असाध्य समझना चाहिये।

रक्तगुल्मस्य सम्प्राप्तिः।

नवप्रसूताऽहितभोजना[1] या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्।
पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं विशेषणं चाप्यपरं निबोध ॥ १५ ॥
यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूलः समगर्भलिङ्गः।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥१६॥

च० चि० अ० ५

अर्थ—जो प्रसूता स्त्री मिथ्या आहार विहार करती है अथवा जो स्त्री गर्भपात करती है अथवा जो ऋतुकाल में मिथ्या आहार विहार करती है, उस स्त्री का वायु निकलने योग्य रक्त को गर्भाशय में रोक कर गुल्म उत्पन्न कर देता है। इसमें पीड़ा और दाह तो होता ही है साथ ही साथ पित्तज गुल्म के लक्षण भी पाये जाते हैं। एक और बात भी स्मरण रखना चाहिये कि इस गुल्म में गर्भ के सब लक्षण पाये जाते हैं परन्तु गर्भ अपने हाथ पैर आदि अंगों से स्पन्दन करता है एवं इसमें पिण्ड का पिण्ड स्पन्द करता ज्ञात होता है। इसमें शूल भी होता है जो गर्भ में नहीं होता। यह रक्तज गुल्म केवल स्त्रियों ही को होता है। इसकी चिकित्सा भी दसवां महीना बीत जाने पर ही करनी चाहिये।

गुल्मस्यासाध्यलक्षणानि।

सञ्चितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः।

1—यह स्त्रियों को ही होता है और होता है गर्भाशय में। इससे पीड़ित स्त्री की मूर्च्छा (च० नि० अ० ३) देख कर लोग "हिस्टीरिया" समझ लेते हैं और रक्तभेदन के अनन्तर रोग शान्त हो जाता है।

कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोत्थितः ॥ १७ ॥
दौर्बल्यारुचि-हृल्लास-कास-च्छर्द्यरति-ज्वरैः ।
तृष्णा-तन्द्रा-प्रतिश्यायैर्युज्यते स न सिध्यति ॥१८॥ च०चि०अ०५

अर्थ—क्रम से बढ़ा हुआ, बहुत से स्थान को रोकनेवाला, गहरी जड़-वाला, सिराओं से व्याप्त, कछुये की पीठ के समान उठा हुआ, दुर्बलता, अरुचि, जी मिचलाना, खाँसी, वमन, बेचैनी, ज्वर, प्यास, तन्द्रा तथा प्रतिश्याय से युक्त गुल्म असाध्य होता है।

अथास्य पुनरप्यसाध्यलक्षणम् ।

गृहीत्वा सज्वरं श्वास-च्छर्द्यतीसार-पीडितम् ।
हृन्नाभि-हस्त-पादेषु शोथः कर्षति गुल्मिनम् ॥१९॥ च०चि०अ०५

अर्थ—ज्वर, श्वास, वमन, अतिसार, हृदय, नाभि, हाथ एवं पाँव की सूजन रोगी को पकड़ कर मार डालती है।

अथापरमसाध्यलक्षणम् ।

श्वासः शूलं पिपासाऽन्नविद्वेषो ग्रन्थिमूढता ।
जायते दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मरणाय वै ॥२०॥ सु०सू०अ०३३

अर्थ—श्वास, शूल, प्यास, अरुचि, गुल्म की स्थिरता तथा दुर्बलता ये लक्षण गुल्मियों के मर जाने के लिये उत्पन्न होते हैं।

हृद्रोगनिदानम्[1] ।

हृद्रोगस्य निदानानि ।

अत्युष्ण-गुर्वन्न-कषाय-तिक्त-श्रमाभिघाताध्यशन-प्रसङ्गैः ।
संचिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामयः पञ्चविधः प्रदिष्टः ॥ १ ॥

अर्थ—अत्यन्त उष्ण एवं गुरु, कसैले, कड़ुये द्रव्यों के सेवन से,

---

१—यह हृत्पिण्ड का रोग है। उक्त अवयव दोनों फुफ्फुसों के मध्य भाग में स्थित है। इसमें चार कोष्ठ हैं। इसी अंग पर दोषों का प्रभाव पड़ने से उक्त रोग होता है।

श्रम, चोट, बहुत दिनों तक अध्यशन, अधिक चिन्ता एवं वेगों को रोकने से 'हृद्रोग' हो जाता है। यह पाँच प्रकार का होता है।

हृद्रोगस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणम्।

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः।
हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥ २ ॥ सु०उ०अ०४३

अर्थ—हृदयगत विकृत दोष रस को दूषित कर हृदय में विकृति पैदा कर देते हैं। इसे हृद्रोग कहा जाता है।

वातिकहृद्रोगस्य लक्षणम्।

आयम्यते मारुतजे हृदयं तुद्यते तथा।
निर्मथ्यते दीयते च स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च ॥३॥ सु०उ०अ०४३

अर्थ—वातजन्य हृद्रोग में हृदय में खिंचाव या तनाव होता है और उसमें सूई के चुभने की सी पीड़ा होती है अथवा विलोडन होता है अथवा दरारें पड़ जाती हैं या वह फूट जाता है या फट जाता है।

वक्तव्य—हृदयकोष्ठों में वायु भर जाने से उक्त लक्षण होते हैं।

पैत्तिकहृद्रोगस्य लक्षणम्।

तृष्णोष्मादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयक्लमः।
धूमायनं च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो मुखस्य च ॥४॥ सु० उ० अ० ४३

अर्थ—प्यास, अन्दर से वाष्प निकलना, दाह, मन की सुस्ती, धूआँ सा निकलना, मूर्च्छा, पसीना एवं मुख का सूखना ये पित्तज हृद्रोग के लक्षण हैं।

श्लैष्मिकहृद्रोगस्य लक्षणम्।

गौरवं कफसंस्रावोऽरुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम्।
माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि ॥५॥ सु० उ० अ० ४३

अर्थ—हृदय एवं शरीर में भारीपन, मुँह से कफ जाना, शरीर एवं, हृदय की गति में रुकावट, अग्निमान्द्य एवं मुँह का मीठापन ये कफज हृद्रोग के लक्षण हैं।

सक्रिमिजसान्निपातिकहृद्रोगस्य लक्षणम् ।

विद्यात्त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रातितोदं क्रिमिजं सकण्डूम् ।

च० चि० अ० २६

उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः ।

अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत् ॥६॥ सु० उ० अ० ४३

अर्थ—उपर्युक्त सभी लक्षणों से युक्त त्रिदोषज हृद्रोग होता है। तीव्र पीड़ा एवं सूई के चुभने की व्यथा से युक्त, भीतर खुजली युक्त क्रिमिज हृद्रोग होता है।

वक्तव्य—भगवान् सुश्रुत ने क्रिमिज रोग के कुछ और भी लक्षण लिखे हैं। वे ये हैं:—हृदय के एक कोष्ठ[1] में रस का सड़ना, थूक अधिक आना, व्यथा, शूल, जी मिचलाना, हृल्लास, हृदय में सड़न पैदा होना, आँखों के आगे अंधेरा, अरुचि, आँखों में कुछ कालापन एवं शोथ। "हृदयाद" क्रिमि यही है।

अथैषामुपद्रवाः ।

क्लमः सादो भ्रमः शोषो ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः ।

क्रिमिजे क्रिमिजातीनां श्लैष्मिकाणां च ये मताः ॥ ७ ॥

अर्थ—सुस्ती, अवसन्नता, चक्कर एवं शोष ये हृद्रोगों के उपद्रव हैं और क्रिमिज हृद्रोग के उपद्रव वे ही होते हैं जो कफज क्रिमियों के लक्षण हैं।

मूत्रकृच्छ्रनिदानम् ।[2]

मूत्रकृच्छ्रस्य निदानानि ।

व्यायाम-तीक्ष्णौषध-रूक्ष-मद्यप्रसङ्ग-नित्य-द्रुत-पृष्ठ-यानात् ।

१—इसी कारण क्रिमि पड़ जाते हैं। "मर्मैकदेशे संक्लेदं, रसश्चाप्युपगच्छति। संक्लेदात्क्रमयश्चास्य, भवन्त्युपहतात्मनः॥" च० सू० अ० १७ इस स्थल को देख ही डालिये।

२—इस रोग के कारण मूत्र उतरने में कष्ट होता है। अतएव इसे "मूत्रकृच्छ्र" कहा जाता है। इसका व्यञ्जन है मूतते समय घाव पर नमक के समान कड़क होना। सच बात तो यह है कि उक्त कारणों द्वारा बढे हुए पित्त से मूत्रमार्ग में क्षत हो

आनूप-मांसाध्यशनादजीर्णात्स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणां तथाऽष्टौ ॥१॥
च० चि० अ० २६

अर्थ—व्यायाम, तीक्ष्ण, उष्ण[1] एवं रूक्ष पदार्थों के सेवन से, अधिक मद्यपान, नित्यप्रति शीघ्रगामी घोड़े आदि की पीठ पर बैठकर तथा रेल आदि में बैठकर लम्बी यात्रा करने से, कीचड़ में रहनेवाले प्राणियों के मांस का सेवन करने से, भोजनोपरि भोजन करने से एवं अजीर्ण से आठ प्रकार का मूत्रकृच्छ्र हो जाता है।

मूत्रकृच्छ्रस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्षणम्।

पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बस्तौ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥ २ ॥
च० चि० अ० २६

अर्थ—अपने अपने कारणों से कुपित पृथक् पृथक् अथवा मिलकर वातादि दोष मूत्राशय में जाकर जब मूत्रमार्ग में पीड़ा कर देते हैं तो मनुष्य कष्ट के साथ मूतता है।

वातिकमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम्।

तीव्रार्तिरुग्-वङ्क्षण-बस्ति-मेढ्रे स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात्।
च० चि० अ० २६

अर्थ—वातज मूत्रकृच्छ्र में वंक्षणों,[2] मूत्राशय, मूत्रमार्ग (वस्ति से मूत्र को बाहर कर देनेवाला मार्ग) में मूत्र निकलते समय अत्यन्त पीड़ा होती है एवं मूत्र थोड़ा थोड़ा तथा बारम्बार निकलता है।

पैत्तिकमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम्।

पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥ ३ ॥
च० चि० अ० २६

जाता है। ज्यों ही उस पर से मूत्र गुजरता है त्योंही कड़क होती है। क्योंकि मूत्र भी नमकीन होता है।

१—हम औषध शब्द का अर्थ "ओषः 'तापः' धीयते अनेन" के अनुसार शरीर में गर्मी पैदा करनेवाले पदार्थ लगाते हैं।

२—सम्भवतः "वंक्षण" यहाँ पर गवीनियों के लिये आया है।

अर्थ—पित्तज मूत्रकृच्छ्र में पीला, कुछ लाल अथवा रक्त सहित, पीड़ा एवं दाह से युक्त कष्टपूर्वक बारम्बार मूत्र निकलता है।

कफजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम्।

बस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्व-शोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे।

च० चि० अ० २६

अर्थ—कफज मूत्रकृच्छ्र में मूत्रमार्ग और मूत्राशय में भारीपन एवं सूजन हो जाती है। मूत्र में लसीलापन रहता है।

सान्निपातिकमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम्।

सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम् ॥ ४ ॥

च० चि० अ० २६

अर्थ—सन्निपातज[1] मूत्रकृच्छ्र में उपर्युक्त सभी लक्षण पाये जाते हैं और यह मूत्रकृच्छ्र कष्टसाध्य होता है।

शल्यजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम्।

मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु वा।
मूत्रकृच्छ्रं तदाघाताज्जायते भृशदारुणम् ॥ ५ ॥
वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत्। सु० उ० अ० ५६

अर्थ—मूत्रमार्ग में किसी प्रकार शल्य द्वारा क्षत अथवा मुष्टिप्रहारादि द्वारा अभिघात होने से 'आघातज' मूत्रकृच्छ्र हो जाता है जो बड़ा ही भीषण होता है। इस के लक्षण वातज मूत्रकृच्छ्र के समान ही होते हैं।

पुरीषजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम्।

शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः ॥ ६ ॥
आध्मानं वातशूलं च मूत्रसङ्गं करोति च। सु० उ० अ० ५९

१—यद्यपि इसके लक्षण "सूजाक" के समान ही होते हैं तथापि यह उससे भिन्न ही है क्योंकि "सूजाक" संक्रामक होता है और यह दोषज। एक में विशेष प्रकार के क्रिमि पाए जाते हैं और दूसरे में नहीं।

अर्थ—पुरीष के वेग को रोकने से वायु विकृत होकर अफरा, शूल एवं मूत्रावरोध कर देता है।

अथाश्मरीजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम्।

अश्मरीहेतु[1] तत्पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—अश्मरीजनित मूत्रकृच्छ्र अश्मरी के कारण होता है।

शुक्रजमूत्रकृच्छ्रस्य लक्षणम्।

शुक्रे दोषैरुपहते मूत्रमार्गे विधाविते।

सशुक्रं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्वस्ति-मेहन-शूलवान् ॥८॥ सु० उ० अ० ५९

अर्थ—दोषों द्वारा दूषित शुक्र मूत्रमार्ग में आता है, जिससे शुक्र सहित कष्टपूर्वक मूत्र उतरता है। रोगी के मूत्राशय एवं मूत्रमार्ग में शूल होता है।

अथाश्मरी-शर्करयोर्भेदः।

अश्मरी शर्करा चैव तुल्य-सम्भव-लक्षणे।

विशेषणं शर्करायाः शृणु कीर्तयतो मम ॥ ९ ॥

पच्यमानाऽश्मरी पित्ताच्छोष्यमाणा च वायुना।

विमुक्तकफसन्धाना क्षरन्ती शर्करा मता ॥१०॥ सु० उ० अ० ५९

अर्थ—अश्मरी और शर्करा की उत्पत्ति एवं लक्षण समान हैं। अश्मरी और शर्करा में जो भेद है उसे मैं कहता हूँ, आप सुनिये। अश्मरी ही पित्त द्वारा पकने एवं वायु द्वारा सूखने पर कणों को सटानेवाले कफ से रहित हो कर खर कर जाती है तो शर्करा[2] कहलाती है।

१—वस्ति की अश्मरी (पथरी) बड़ी होने के कारण मूत्रमार्ग से कभी निकल ही नहीं सकती। जब निकलती है तो शर्करा (बालू, रेत) के रूप में निकलती है। इस शर्करा के मूत्रमार्ग में फंस जाने अथवा उसके द्वारा क्षत हो जाने से उक्त रोग हो जाता है।

२—कभी पथरी बनते समय कफ की स्निग्धता के अभाव से वायु द्वारा विभक्त होकर शर्करा ही रह जाती है एवं कभी बनी बनायी पथरी ही टूट टूट कर शर्करा हो जाती है।

अश्मर्या उपद्रवाः ।

हृत्पीडा वेपथुः शूलं कुक्षावग्निश्च दुर्बलः ।
तया भवति मूर्च्छा च मूत्रकृच्छ्रं च दारुणम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस अश्मरी या शर्करा के कारण हृदय में पीड़ा, कम्प, वस्ति या उदर में पीड़ा, शूल, अग्निमान्द्य, मूर्च्छा एवं भीषण मूत्रकृच्छ्र हो सकता है ।

मूत्रवेगनिरस्ताभिः प्रथमं याति वेदना ।
यावदस्याः पुनर्नैति गुडिका स्रोतसो मुखम् ॥१२॥ सु० उ० अ० ५९

अर्थ—अश्मरी के कण जिन्हें शर्करा कहा जाता है, जब मूत्र द्वारा बाहर निकल जाते हैं तो वेदना तब तक के लिये शान्त हो जाती है जब तक कि उसके दूसरे कण फिर मूत्रमार्ग में नहीं आ जाते हैं ।

मूत्राघातनिदानम् ।[1]

मूत्राघातस्य संप्राप्तिः ।

जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश ।
प्रायो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलिकादयः ॥ १ ॥

अर्थ—मूत्र के वेग को रोकने आदि कारणों से कुपित वातादि दोषों द्वारा वातकुण्डलिका आदि तेरह रोग हो जाते हैं । उन्हें मूत्राघात कहते हैं ।

वातकुण्डलिकारोगस्य संप्राप्तिपूर्वकं निदानम् ।

रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा वायुर्बस्तौ सवेदनः ।

नदियों में जितने बालू होते हैं वे इसी प्रकार पहाड के पत्थरों के टूटे हुये कण ही होते हैं । और रेगिस्तान की बालू सूर्य की तीक्ष्ण किरणों के लगने से स्नेह निकल जाने के कारण पाषाण का रूप नहीं धारण कर पाते ।

आप इन दोनों उदाहरणों से शर्करा और अश्मरी के निर्माण का तत्व समझ जायंगे ।

१—इसमें भी मूत्रसंस्थान के सभी अवयव प्रभावित होते हैं तो भी इसका व्यञ्जन है मूत्र का विबन्ध या निरोध या रुकावट ।

मूत्रमाविश्य चरति विगुणः कुण्डलीकृतः ॥ २ ॥
मूत्रमल्पाल्पमथवा सरुजं संप्रवर्तते ।
वातकुण्डलिकां तां तु व्याधिं विद्यात्सुदारुणम् ॥३॥ सु० चि० अ० ५८

अर्थ—रूक्षता अथवा मूत्र के वेग को रोकने के कारण बस्ति के भीतर मूत्र में मिल कर वेदनायुक्त एवं कुण्डलाकार विकृत वायु घूमने लगता है। इससे मूत्र थोड़ा थोड़ा अथवा पीड़ायुक्त उतरता है। इस व्याधि को वातकुण्डलिका कहते हैं। यह बड़ी भयंकर होती है।

अष्ठीलारोगस्य लक्षणम्।

आध्मापयन्बस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम्।
कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलां[1] मूत्र-विण्-मार्ग-रोधिनीम् ॥ ४ ॥

अर्थ—वायु वस्ति एवं गुद के मार्गों को रोककर उनमें आध्मान उत्पन्न करते हुए चल तथा उन्नत, भीषण पीड़ायुक्त अष्ठीला को कर देता है। इससे मूत्र और पुरीष के मार्ग रुक जाते हैं।

वातबस्तिरोगस्य लक्षणम्।

वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः।
निरुणद्धि मुखं तस्य वस्तेर्बस्तिगतोऽनिलः ॥ ५ ॥
मूत्रसङ्गो भवेत्तेन बस्ति-कुक्षि-निपीडितः।
वातबस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः॥६॥ सु०नि०अ० ५८

अर्थ—जो मूर्ख मनुष्य मूत्र के वेग को रोकता है, उसकी बस्ति के मुख को बस्तिगत वायु रोक लेता है। इससे मूत्र रुक जाता है। बस्ति एवं उदर में पीड़ा[2] होती है। इस कृच्छ्रसाध्य व्याधि को "वातवस्ति" कहते हैं।

मूत्रातीतरोगस्य लक्षणम्।

चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते।

१—यह क्षणिक गुल्माकार रोग होता है, जो मर्दनक्रियासे शान्त हो जाता है।

२—यह पीड़ा वृक्कों एवं गवीनियों में भी होती है।

मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥ ७ ॥

अर्थ—चिरकाल तक मूत्र रोकने से वह वेगपूर्वक नहीं उतरता। कांखने या जोर देने पर थोड़ा थोड़ा उतरता है। इसे मूत्रातीत कहा जाता है।

मूत्रजठररोगस्य लक्षणम्।

मूत्रस्य वेगेऽभिहते तदुदावर्तहेतुकः।
अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद्भृशम् ॥ ८ ॥
नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम्।
तन्मूत्रजठरं विद्यादधोबस्तिनिरोधनम् ॥ ९ ॥ सु० उ० अ० ५८

अर्थ—मूत्र का वेग रोकनेसे उसके उदावर्त के कारण कुपित अपान वायु उदर को अत्यन्त भर देता है। जिससे नाभि के नीचे (वस्ति में) भीषण पीड़ायुक्त आध्मान हो जाता है। वस्तिमार्ग को रोकने वाले इस रोग को 'मूत्रजठर' कहते हैं।

मूत्रोत्सङ्गरोगस्य लक्षणम्।

बस्तौ वाऽप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः।
मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः ॥ १० ॥
स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाऽथ नीरुजम्।
विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः॥११॥सु०उ०अ०५८

अर्थ—जिस मनुष्य की वस्ति, मूत्रमार्ग अथवा मणि में आता हुआ मूत्र रुक जाता है, काँखने पर रक्त सहित थोड़ा थोड़ा पीड़ा युक्त अथवा पीड़ा रहित धीरे धीरे निकलता है, उसके इस रोग को'मूत्रोत्संग'कहते हैं। यह रोग वायु की विकृति के कारण होता है।

मूत्रक्षयरोगस्य लक्षणम्।

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य बस्तिस्थौ पित्तमारुतौ।
मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम् ॥१२॥ सु० उ० अ० ५८

अर्थ—रूखे शरीरवाले एवं थके हुये पुरुष की बस्ति[1] में स्थित पित्त एवं वायु पीड़ा और दाहपूर्वक मूत्र का निर्माण होने ही नहीं देते। इसे 'मूत्रक्षय' कहा जाता है।

मूत्रग्रन्थिरोगस्य लक्षणम्।

अन्तर्बस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत्।
अश्मरीतुल्यरुग्ग्रन्थिर्मूत्रग्रन्थिः स उच्यते ॥१३॥ वा० नि० अ० ९

अर्थ—बस्तिमुख के भीतर एकाएक गोल, स्थिर, छोटी सी, अश्मरी के समान पीड़ावाली गाँठ[2] उत्पन्न हो जाती है, इसे मूत्रग्रन्थि कहा जाता है।

मूत्रशुक्ररोगस्य लक्षणम्।

मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम्।
स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्तते ॥ १४ ॥
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते। वा० नि० अ० ९

अर्थ—मूत्र के वेग को रोक कर जो मनुष्य मैथुन करता है उस का शुक्र वायु द्वारा दूषित एवं अपने स्थान से चल कर मूतते समय मूत्र के आगे या पीछे भस्म घोल के समान निकलता है। इसे 'मूत्रशुक्र'[3] कहा जाता है।

वक्तव्य—मूत्रशुक्र तथा शुक्रमेह का भेद आप खोजिये।

अथोष्णवातस्य लक्षणम्।

व्यायामाध्वातपैः पित्तं बस्तिं प्राप्यानिलान्वितम् ॥ १५ ॥
बस्तिं मेढ्ं गुदं चैव प्रदहेत् स्रावयेदधः।
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा ॥ १६ ॥

१—वस्तुतः यहाँ बस्ति का अर्थ 'वृक्क' समझना चाहिये। क्योंकि मूत्र-निर्माण का कार्य वे ही सम्पादित करते हैं।

२—इस गाँठ में पाषाणत्व एवं अश्मरी के पूर्वरूपादि नहीं होते।

३—यह रोग शुक्राशयों के ढीले हो जाने के कारण होता है।

कृच्छ्रात्पुनः पुनर्जन्तोरुष्णवातं ब्रुवन्ति तम् । सु० उ० अ० ५८

अर्थ—व्यायाम, मार्गगमन एवं आग या सूर्य की गर्मी लगने से वायु युक्त पित्त बस्ति में पहुँचकर वस्ति, मूत्रमार्ग तथा गुद में विदाह (इसी कारण वहाँ की श्लैष्मिक कला में क्षत हो जाता है) कर देता है। जिस से हल्दी के घोल का सा अथवा रक्तयुक्त मूत्र अथवा केवल रक्त बड़ी कड़क के साथ बार बार उतरता है। इसे उष्ण-वात कहा जाता है।

मूत्रसादरोगस्य लक्षणम् ।

पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत् ॥ १७ ॥

कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पीतं श्वेतं रक्तं घनं सृजेत् ।

सदाहं रोचना-शङ्ख-चूर्ण-वर्णं भवेत्तु तत् ॥ १८ ॥

शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम् ।वा० नि० अ० ६

अर्थ—केवल पित्त या कफ अथवा दोनों ही यदि वायु के साथ मिल जाते हैं तो कड़क के साथ पीला, श्वेत अथवा रक्त, गाढ़ा, दाहपूर्वक मूत्र उतरता है। जिस स्थान पर रोगी पेशाब करता है वहाँ सूखने पर गोरो-चन (कुछ पीला), शंखचूर्ण (सर्वथा श्वेत) के समान कुछ पदार्थ दिखायी पड़ता है। इसे 'मूत्रसाद' कहते हैं।

विड्विघातरोगस्य लक्षणम् ।

रूक्ष-दुर्बलयोर्वातेनोदावृत्तं शकृद्यदा ॥१९॥

मूत्रस्रोतोऽनुपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः ।

विड्गन्धं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विड्विघातं विनिर्दिशेत् ॥२०॥वा० नि० अ० ६

अर्थ—रूखे एवं दुर्बल शरीरवाले रोगी का वायु पुरीष का उदावर्त्त कर देता है और वह पुरीष मूत्रस्रोतों में आ जाता है तब मनुष्य पुरीष मिश्रित अथवा पुरीष की गन्धयुक्त कड़क के साथ पेशाब आता है। इसे 'विड्विघात' कहते हैं।

बस्तिकुण्डलरोगस्य लक्षणम् ।

द्रुताध्वलङ्घनायासैरभिघातात्प्रपीडनात् ।

स्वस्थानाद्बस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥२१॥
शूल-स्पन्दन-दाहाऽऽर्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि ।
पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान् ॥२२॥
बस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम् ।
पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ।

अर्थ—शीघ्रतापूर्वक मार्गगमन, उछल कूद, परिश्रम, चोट एवं दबाव पड़ने के कारण बस्ति अपने स्थान से इधर उधर हटकर गर्भ के समान स्थूल हो जाती है उसमें शूल, स्पन्दन एवं दाह होता है। बूँद बूँद मूत्र भी उतरता है। वस्ति को दबाने से धारारूप में भी मूत्र उतरता है। इससे रोगी का शरीर अकड़ जाता है तथा उसमें ऐंठन (खल्ली के समान) हो जाती है। इस रोग को 'बस्तिकुण्डल'[1] कहते हैं। यह शस्त्र तथा विष के समान मारक होने के कारण बड़ा ही भीषण होता है। इसमें वायु इतना प्रबल होता है कि साधारण वैद्य इसकी चिकित्सा नहीं कर सकते।

वातस्य दोषान्तरानुबन्धवशाद्विशेषलक्षणानि ।

तस्मिन्पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता ॥ २३ ॥
श्लेष्मणा गौरवं शोथः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम् ।

अर्थ—उपर्युक्त वायु के साथ यदि पित्त मिल जाता है तो दाह, शूल एवं मूत्र के वर्ण में परिवर्त्तन (पीलापन) हो जाता है एवं श्लेष्मा के मिलने से भारीपन, शोथ तथा चिकना, गाढ़ा और सफेद मूत्र होता है।

अथैतस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

श्लेष्मरुद्धबिलो बस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति ॥ २४ ॥
अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ।

अर्थ—किसी भी 'मूत्राघात' में यदि श्लेष्मा द्वारा बस्ति का मुख रुक जाय तथा पित्त अत्यन्त बढ़ जाय तो वह असाध्य होता है और

1—पाश्चात्य चिकित्सक इसी रोग के होने पर कहते हैं कि मूत्र का विष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो गया।

बस्ति का मुख यदि मूत्रमार्ग से सर्वथा हट नहीं गया अथवा मुड़ नहीं गया है तो वह साध्य होता है।

कुण्डलीभूतस्यास्य लक्षणम्।

स्याद्बस्तौ कुण्डलीभूते तृण्मोहः श्वास एव च ॥ २५ ॥

अर्थ—बस्ति के कुण्डलीभूत होने पर प्यास, मोह और श्वास उत्पन्न हो जाते हैं।

अश्मरी (पथरी) निदानम्।[1]

अथाश्मरीरोगस्य विवरणम्।

वात-पित्त-कफैस्तिस्रश्चतुर्थी शुक्रजाऽपरा।

प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा अश्मर्यः स्युर्यमोपमाः ॥ १ ॥

अर्थ—वातज, पित्तज, कफज एवं शुक्रज चार प्रकार की अश्मरी होती है। प्रायः सभी अश्मरियों के कण श्लेष्मा के संयोजक तत्त्व से परस्पर सटे रहते हैं। ये यम के समान कष्टदायक होती हैं।

विशोषयेद्बस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा।

यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥ २ ॥

नैकदोषाश्रयाः सर्वा,— च० चि० अ० २६

अर्थ—वायु जब बस्ति के भीतर शुक्र[2] एवं पित्त से युक्त मूत्र को अथवा कफ को सुखाता जाता है तो क्रमशः अश्मरी बनती जाती है। जैसे गऊ के पित्ताशय में गोरोचन। सभी अश्मरियां केवल एक दोष से ही उत्पन्न नहीं होतीं।

अथाश्मरीरोगस्य पूर्वरूपम्।

—अथासां पूर्वलक्षणम्।

१—अश्मरी बस्ति के अतिरिक्त हृदय, यकृत् एवं वृक्क आदि अंगों में भी होती है।

२—यहाँ पर जो शुक्र की चर्चा की गयी है वह शुक्राश्मरी के लिये ही समझनी चाहिये न कि बस्ति के भीतर होने वाले अश्मरियों के लिये।

बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक् ॥ ३ ॥
मूत्रे बस्तसगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः । वा०नि०अ० ९

अर्थ—अश्मरियों के पूर्वरूप ये हैं:—बस्ति में आध्मान, बस्ति के समीप सब ओर अत्यन्त पीड़ा, मूत्र में बकरे के मूत्र की सी गन्ध, मूत्र-कृच्छ्र, ज्वर एवं अरुचि ।

अथाश्मरीरोगस्य सामान्यलक्षणम् ।

सामान्यलिङ्गं रुङ् नाभि–सेवनी–बस्ति–मूर्धसु ॥ ४ ॥
विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गे निरोधिते ।
तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् ॥ ५ ॥
तत्संक्षोभात्क्षते सास्रमायासाच्चातिरुग्भवेत् । वा० नि० अ० ९

अर्थ—अश्मरी के सामान्य लक्षण ये हैं:—नाभि, सीवन, बस्ति एवं बस्ति के ऊपरी भाग (गवीनियों एवं वृक्कों) में पीड़ा, पथरी द्वारा मूत्रमार्ग रुकने पर टूटी हुई धारा में मूत्र निकलना, और पथरी के हट जाने पर सुखपूर्वक मूत्र का उतरना । ऐसी दशा में मूत्र स्वच्छ एवं गोमेदमणि के समान कुछ लाल होता है । कभी कभी पथरी के हिलने से बस्ति के भीतर क्षत हो जाता है तो रक्तयुक्त भी मूत्र उतरता है । चलने फिरने आदि परिश्रमों से अत्यन्त पीड़ा होती है ।

वातजाश्मरीरोगस्य लक्षणम् ।

तत्र वाताद् भृशं चार्तो दन्तान् खादति वेपते ॥ ६ ॥
गृह्णाति मेहनं नाभिं पीडयत्यनिशं क्वणन् ।
सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहुर्मेहति बिन्दुशः ॥ ७ ॥
श्यावारुणाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता कण्टकैरिव । वा०नि०अ०९

अर्थ—वातज अश्मरीके कारण रोगी अत्यन्त दुखी होता है । पीड़ा के मारे दांतों को दबाता[1] है, कांपता है, लिंग को पकड़ता है, नाभि को

[1] सभी प्रकार की पीड़ाओं में रोगी ऐसा करते हैं । वस्तुतः रोगी को इससे कुछ आराम का अनुभव होता है ।

दबाता है, निरन्तर हाय ! हाय ! करता रहता है। पुरीषोत्सर्ग के समय अधोवायु के साथ पुरीष त्याग करता है। बारम्बार बूंद बूंद पेशाब करता है। इसकी अश्मरी का रंग काला और लाल होता है तथा उसके ऊपर छोटे छोटे कांटे होते हैं।

पैत्तिकाश्मरीरोगस्य लक्षणम्।

पित्तेन दह्यते बस्तिः पच्यमान इवोष्मवान् ॥ ८ ॥

भल्लातकास्थिसंस्थाना रक्तपीताऽसिताऽश्मरी । वा० नि० अ० ९

अर्थ—पित्तज अश्मरी के कारण बस्ति में इतनी दाह होती है कि जैसे बस्ति पक रही हो एवं उसमें से वाष्प सी निकलती ज्ञात होती है। यह अश्मरी भिलावे की गुठली के समान आकारवाली, लाल, पीली अथवा कुछ काली होती है।

कफजाश्मरीरोगस्य लक्षणम्।

बस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणा शीतलो गुरुः ॥ ९ ॥

अश्मरी महती श्लक्ष्णा मधुवर्णाऽथवा सिता । वा० नि० अ० ९

अर्थ—कफज अश्मरी के कारण बस्ति में सूई के चुभने की सी पीड़ा होती है तथा बस्ति ठण्ढी एवं भारी ज्ञात होती है। यह अश्मरी बड़ी तथा अत्यन्त चिकनी, शहद के समान वर्णवाली अथवा सफेद होती है।

अथासां बालेषु प्रायिकत्वम्।

एता भवन्ति बालानां तेषामेव च भूयसा ॥ १० ॥

आश्रयोपचयाल्पत्वाद्ग्रहणाहरणे सुखाः । वा० नि० अ० ९

अर्थ—यह उपर्युक्त तीनों प्रकार की अश्मरियां प्रायः बालकों[1] को होती हैं एवं उनकी बस्ति के छोटा होने एवं बस्ति के ऊपर की मांस पेशियों के पतली होने के कारण पथरी सुखपूर्वक पकड़ी एवं निकाली जा सकती है।

१—युवा एवं वृद्धों को भी होती हैं।

शुक्राश्मरीं तस्य लक्षणञ्चाह ।

शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्रधारणात् ॥ ११ ॥
स्थानाच्च्युतममुक्तं हि मुष्कयोरन्तरेऽनिलः ।
शोषयत्युपसंगृह्य शुक्रं तच्छुक्रमश्मरी ॥ १२ ॥
बस्तिरुङ्-मूत्रकृच्छ्रत्व-मुष्कश्वयथु-कारिणी ।
तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयते ॥ १३ ॥
पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन्,— . वा० नि० अ० ९

अर्थ—शुक्राश्मरी तो युवावस्था में चलित शुक्र के रुक जाने के कारण होती है। क्योंकि स्थान से च्युत होकर शुक्र जब बाहर नहीं निकलता तो (मेढ्र एवं अण्डकोष के मध्य में) वायु द्वारा सूख जाता है। बस यही सूखा हुआ शुक्राश्मरी[1] का रूप धारण कर लेता है।

इससे बस्ति में पीड़ा, मूत्रकृच्छ्र एवं अण्डकोष में सूजन हो जाती है। इस अश्मरी की प्रारम्भिक अवस्था में थोड़ा बहुत शुक्र बाहर निकलता है एवं उस प्रदेश के दबा देने से अश्मरी लापता हो जाती है।

शर्करारोगस्य लक्षणम् ।

—अश्मर्येव च शर्करा ।
अणुशो वायुना भिन्ना सा तस्मिन्ननुलोमगे ॥ १४ ॥
निरेति सह मूत्रेण प्रतिलोमे निरुध्यते ।
मूत्रस्रोतःप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् ॥ १५ ॥
दौर्बल्यं सदनं कार्श्यं कुक्षिशूलमथारुचिम् ।
पाण्डुत्वमुष्णवातं च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम् ॥१६॥ सु० नि० अ० ९

अर्थ—अश्मरी ही वायु द्वारा छोटे छोटे कणों में विभक्त होकर शर्करा बन जाती है। (इस का विशेष विवरण मूत्रकृच्छ्र के ६-१२

१—यह शुक्राशय अथवा वृषण से शुक्राशय तक के शुक्रमार्ग में हो सकती है, मूत्राशय में नहीं।

श्लोकों में देखिये।) वह शर्करा वायु के अनुलोम रहने पर मूत्र के साथ बह कर बाहर निकलती रहती है। एवं उस के प्रतिलोम होने पर रुक जाती है। जब कभी वह मूत्रमार्ग में आकर अटक जाती है तो निम्नलिखित उपद्रवों को कर देती है यथा—दुर्बलता, अवसाद, कृशता, कुक्षिशूल, अरुचि, शरीर में पीलापन, उष्णवात (मूत्राघातोक्त), तृष्णा, हृदय में पीड़ा एवं वमन।

अथानयोरसाध्यलक्षणम्।

प्रशूननाभिवृषणं बद्धमूत्रं रुजातुरम्।
अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता ॥१७॥ सु० सू० अ० ३३

अर्थ—जिस रोगी की नाभि एवं अण्डकोष सूज गये हों, मूत्र रुक गया हो, अत्यन्त पीड़ा होती हो उस रोगी को बालू की कणिकाओं के समान रूप वाले कणों से युक्त अश्मरी मार डालती है।

प्रमेह-प्रमेहपिडकानिदानम्।[1]

प्रमेहरोगस्य हेतवः सम्प्राप्तिश्च।

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि।

१—मेदा, वसा आदि शरीरोपयोगी द्रव्यों का मूत्रमार्ग द्वारा बह जाना ही "प्रमेह" कहलाता है। लोग "स्वप्नदोष" को भी "प्रमेह" कहते हैं किन्तु इसे पृथक् ही रोग मानना उचित है। उपलब्ध ग्रन्थों में इसकी चर्चा बहुत ही संक्षेप में की गई है, किन्तु यह इतना व्यापक रोग है कि शायद ही इस दुष्ट रोग से कोई बचा हो। पुरुषों के समान ही स्त्रियां भी इससे अछूती नहीं हैं। इसे मानसिक रोग मानना अनुचित नहीं है, क्योंकि स्वप्नावस्था में पाँचो ही कर्मेन्द्रियों पर मन का वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा उपस्थेन्द्रिय (मैथुनोपयोगी अवयव अर्थात् लिङ्ग और योनि) पर। १–वागिन्द्रिय पर प्रभाव पड़ने से मनुष्य बड़बड़ाता है। हस्त–हाथों को हिलाता है अथवा पकड़ता है। पाद–उठकर चल पड़ता है। देखा गया है कि बहुत से बिस्तर आदि लेकर चल पड़ते हैं। उपस्थ मैथुनानन्द का अनुभव करता है। गुद अर्थात् मलवाही एवं मूत्रवाही अंगविशेष—मल एवं मूत्र का त्याग या उत्सर्ग करता है। यह सब स्वप्नदोष ही है। सच बात यह है कि जाग्रत् एवं सुषुप्ति

नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥१॥ च० चि० अ० ६

अर्थ—बैठे रहने में सुख मानना, सोने में सुख मानना अर्थात् अधिक बैठे रहना एवं सोना, सब प्रकार के दही, गांवजल एवं कीचड़ में रहने वाले प्राणियों के मांस का रस (शोरुवा), सब प्रकार के दुग्ध, नवीन अन्न पान, गुड़ से बने पदार्थ तथा सभी कफकारक द्रव्य "प्रमेह" के कारण होते हैं।

त्रिदोषजमेहानां क्रमेण सम्प्राप्तिः।

मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो वस्तिगतः प्रदूष्य।
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ॥ २ ॥
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य धातून् संदूष्य मेहान् कुरुतेऽनिलश्च।

अर्थ—उपर्युक्त कारणों से कुपित कफ, मांस, मेदा एवं शरीर के अन्यान्य लसीका शुक्र रसादि धातुओं को दूषित कर तथा बस्ति में खींच कर प्रमेह कर देता है। उष्ण पदार्थों से कुपित पित्त भी उन्हीं मेदा आदि को दूषित कर तथा बस्ति में ले जाकर प्रमेह कर देता है। इसी प्रकार कफपित्त के कुछ घट जाने पर वायु शरीर की मेदा आदि धातुओं को दूषित कर तथा बस्ति में पहुँच कर प्रमेह कर देता है।

साध्याः कफात्तथा दश, पित्तजाः षड् याप्या, न साध्यः पवनाच्चतुष्कः।
समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ॥ ३ ॥
च० चि अ० ६

(गाढ निद्रा)के बीच की अवस्था को "स्वप्न" या अर्द्धनिद्रा कहा जाता है। इस अवस्था में मन ईषत्सुप्त होता है। अतः इस समय मन उत्तरदायी भी नहीं होता और न अकर्मण्य ही होता है। अर्थात् जाग्रत् में मन के कर्म- (इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः। ऊहो विचारश्च च० शा० अ० १) व्यवस्थित होते हैं और स्वप्न में अव्यवस्थित एवं सुषुप्ति में सर्वथा निरुद्ध। इस रोग की सफल चिकित्सा भी यही है कि जागो तो अच्छी तरह और सोओ तो अच्छी तरह। यही बात है कि जो लोग गहरे परिश्रम के बाद गहरी निद्रा लेते हैं उन्हें यह रोग कभी नहीं होता। मन की चञ्चलता ही इस रोग का कारण है।

अर्थ—कफ के दश प्रमेह दोष द्रव्यों की चिकित्सा समान होने के कारण साध्य, पित्त के छः प्रमेह दोष-दूष्यों की चिकित्सा के विषय होने के कारण याप्य एवं वायु के चार प्रमेह मज्जा-ओज आदि महत्त्वपूर्ण धातुओं के दूषित होकर बह जाने के कारण असाध्य होते हैं।

सर्वमेहानां दोषदूष्यसंग्रहः।

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः।
मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः॥ ४ ॥

वा० नि० अ० १०

अर्थ—कफ, पित्त तथा वायु तीन दोष हैं और मेदा, रक्त, शुक्र, जल, बसा, लसीका, मज्जा, रस, ओज एवं मांस यह दस दूष्य (दूषित होनेवाले) हैं, इन दोष-दूष्यों के विविध प्रकार के परस्पर संयोग से बीस प्रकार के "प्रमेह" हो जाते हैं।

प्रमेहस्य पूर्वरूपाणि।

दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयोः।
दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं च जायते ॥५॥ वा० नि० अ० १०

अर्थ—दांत (तालु, गला, जीभ आदि में) आदि में अधिक मल उत्पन्न होना; हाथ, पांव में दाह; शरीर में चिकनाई अथवा चिपचिपाहट; प्यास एवं मुख में मीठापन ये प्रमेह के पूर्वरूप हैं।

प्रमेहस्य सामान्यलक्षणम्।

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता।

अर्थ—परिमाण से अधिक मूत्र आना एवं मूत्र में उपर्युक्त दोषदूष्यों के घुल जाने के कारण गाढ़ापन होना ही प्रमेह का सामान्य या साधारण लक्षण है।

दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः॥ ६ ॥
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते। वा० नि० अ० १०

अर्थ—यद्यपि दोषदूष्यों में किसी प्रकार का भेद नहीं अर्थात् सभी प्रमेहों के वे ही तीन दोष और वे ही दस दूष्य कारण होते हैं तथापि

उन दोषदूष्यों के संयोग या मिश्रण में भेद अर्थात् न्यूनाधिक्य होने के कारण मूत्र के वर्ण, रस, गन्ध एवं स्पर्श आदि में जो भेद दिखाई पड़ता है, उसी से प्रमेहों में भेद मान लिया जाता है।

श्लैष्मिकाणां दशमेहानां लक्षणानि।

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ॥ ७ ॥
मेहत्युदकमेहेन किञ्चिदाविलपिच्छिलम्।
इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः ॥ ८ ॥
सान्द्रीभवेत् पर्युषितं सान्द्रमेहेन मेहति।
सुरामेही सुरातुल्यमुपर्यच्छमधो घनम् ॥ ९ ॥
संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद्बहुलं सितम्।
शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति ॥ १० ॥
मूर्ताणून् सिकतामेही सिकतारूपिणो मलान्।
शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् ॥ ११ ॥
शनैः शनैः शनैर्मेही मन्दं मन्दं प्रमेहति।
लालातन्तुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम् ॥१२॥ वा०नि०अ०१०

अर्थ—उदक[1] प्रमेह से स्वच्छ, बहुत, श्वेत, ठण्ढा, गन्धरहित

---

[1]—जैसे पञ्चमहाभूतों के संयोगवैचित्र्य से विविध प्रकार के द्रव्यों की उत्पत्ति हो जाती है या तीन के दोषों के सम्प्राप्तिभेद से जैसे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं ठीक वैसे ही दो दोषदूष्यों के संयोगवैचित्र्य से प्रमेह भी बीस प्रकार के हो जाते हैं। प्रमेह में शरीर के भिन्न २ रस-गन्धादि से युक्त द्रव्य (धातूपधातु) मूत्र के साथ मिश्रित होकर निकलते हैं। इसी कारण मूत्र में भिन्न २ प्रकार के रस गन्धादि भी पाये जाते हैं। मूत्र का रस या स्वाद जानने के लिये लिटमस पेपर का प्रयोग किया जाता है—इस कागज को मूत्र में डालने से उसके अम्ल एवं क्षार नामक रसों का पता लग जाता है। यह कागज नीला एवं लाल होता है।

मूत्र में 'नीला लिटमस' भिगोने पर यदि वह लाल हो जाय तो मूत्र में अम्लरस की प्रधानता समझनी चाहिये।

एवं जल के सदृश मूत्र आता है, किन्तु कुछ मलिन एवं चिपचिपा होता है। इक्षुमेह[1] से ईख के रस के समान अत्यन्त मीठा मूत्र आता है (इसमें भी चीटियां लग जाती हैं)। सान्द्रमेह से जो मूत्र आता है वह कुछ देर (१०-१२ घण्टा) रखने से गाढ़ा हो जाता है। सुरामेह से मद्य के समान मूत्र आता है। इसे शीशी में टिका कर रख दिया जाय तो गाढ़ा भाग नीचे बैठ जाता है और ऊपर पतला या तरल भाग आ जाता है। पिष्टमेह से पीठी के पानी के समान गाढ़ा एवं श्वेत मूत्र आता है तथा मूतते समय रोगी को रोमहर्ष हो जाता है। शुक्रमेह से शुक्र के समान अथवा शुक्र से मिश्रित मूत्र आता है[2]। सिकतामेह में मूत्र के साथ ठोस, छोटे २ बालू के कणों के से मलों के कण निकलते हैं। शीत-मेह में मीठा, अत्यन्त ठंढा एवं बार बार मूत्र आता है। शनैर्मेह में धीरे धीरे थोड़ा थोड़ा मूत्र आता है। लालामेह से लार या तन्तु (इसे रोगी कहा करता है कि मूत्र में लार पड़ती है) से युक्त एवं चिपचिपा मूत्र आता है। यह दश प्रमेह कफ के हैं।

पैत्तिकमेहानां षण्णां लक्षणानि।

गन्धवर्णरसस्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत्।
नीलमेहेन नीलाभं कालमेही मसीनिभम् ॥१३॥
हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासन्निभं दहत्।
विस्रं माञ्जिष्ठमेहेन मञ्जिष्ठासलिलोपमम् ॥१४॥
विस्रमुष्णं सलवणं रक्ताभं रक्तमेहतः। बा० नि०अ० १०

और यदि 'लाल लिटमस' नीला हो जाय तो मूत्र में क्षाररस की प्रधानता समझनी चाहिये।

१—मधुररस की प्रधानता तो चीटियों के लगने से ज्ञात हो ही जाती है।

२—शुक्रमेह में शुक्राभ एवं शुक्रमिश्र यह दो बातें पाई जाती हैं "शुक्राभ" में प्रोस्टेट ग्रन्थि का श्वेत रस (यही अत्यन्त गाढ़े शुक्र में मिल कर उसे पतला कर देता है इस ग्रन्थि का उल्लेख आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थों में नहीं मिलता) और "शुक्रमिश्र" में शुक्र ही आता है।

अर्थ—क्षारमेह से क्षार (चूना आदि) के पानी के समान गन्ध, वर्ण, रस (स्वाद) एवं स्पर्शवाला मूत्र होता है[1]। नीलमेह से नीला और कालमेह से सियाही जैसा काला मूत्र आता है। हारिद्रमेह से कडुवा, हल्दी के वर्ण से युक्त एवं दाहपूर्वक मूत्र आता है। मञ्जिष्ठामेह से दुर्गन्ध युक्त एवं मञ्जीठ के क्वाथ का सा (गहरा पीला) मूत्र आता है। रक्तमेह से दुर्गन्धयुक्त, गर्म, नमकीन एवं रक्त का सा लाल मूत्र आता है। (यह छः प्रमेह पित्त के हैं)।

वातिकमेहानां चतुर्णां लक्षणानि।

वसामेही वसामिश्रं वसाभं मूत्रयेन्मुहुः ॥१५॥
मज्जाभं मज्जमिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहुः।
कषायं मधुरं रूक्षं क्षौद्रमेहं वदेद् बुधः ॥१६॥
हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रं वेगविवर्जितम्।
सलसीकं विबद्धं च हस्तिमेही प्रमेहति[2] ॥१७॥ वा०नि०अ० १०

अर्थ—वसामेह से वसायुक्त मूत्र आता है अथवा केवल वसा का ही बार बार स्राव होता है। मज्जामेह से केवल मज्जा आती है अथवा मज्जायुक्त बार बार मूत्र आता है। क्षौद्रमेह से कसैला, मीठा एवं रूक्ष मूत्र आता है। हस्तिमेह से मदमत्त हाथी के समान वेग के बिना ही अर्थात् सर्वदा मूत्र आता रहता है। यदि कुछ काल के लिये रुकता है तो फिर लसीका से मिश्रित मूत्र आता है। (यह चार वातज प्रमेह हैं)।

१—चूना या जवाखार को पानी में घोल दीजिये, फिर देखिये कि उसका जल कैसा है।

२—वायु के इन चारों प्रमेहों पर ध्यान देकर देखिये, ये कितने भीषण हैं। यही कारण है कि ये असाध्य हैं। ये प्रमेह प्रायः मस्तिष्क से अधिक काम लेने वाले, गद्दी पर पड़े २ मजे उड़ाने वाले, अत्यन्त विलासी लोगों को होते हैं और प्रायः बुढ़ापे में हस्तिमेह हो जाता है। क्षौद्रमेह का ही नाम मधुमेह है (देखिये वाग्भट और चरक)।

त्रिदोषजमेहानामुपद्रवाः ।

अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः ।
उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ॥ १८ ॥
वस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः ।
दाहस्तृष्णाऽम्लिका मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम् ॥१६॥
वातजानामुदावर्तः कम्पहृद्ग्रहलोलताः ।
शूलमुन्निद्रता शोषः कासः श्वासश्च जायते ॥२०॥ वा० नि० अ० १०

अर्थ—कफप्रमेह के उपद्रव यह हैं—अपच, अरुचि, कै, नींद की अधिकता, खांसी एवं पीनस । पित्तप्रमेह के उपद्रव यह हैं—बस्ति एवं मूत्रमार्ग में व्यथा, गुटकावदरण (चिन्त्यं) ज्वर, दाह, प्यास, खट्टे उद्गार आना, मूर्च्छा एवं अतिसार । वायु के प्रमेह के उपद्रव यह हैं[1] उदावर्त्त, कम्प, हृदयग्रह, सब कुछ खाने की इच्छा, शूल, निद्रानाश, शोष, कास एवं श्वास ।

प्रमेहस्यासाध्यलक्षणम् ।

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव च ।
पिडकापीडितं गाढः प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥२१॥ वा० नि० अ० १०

अर्थ—उपर्युक्त उपद्रवों से युक्त, जिस के मूत्र के साथ सब धातु अत्यधिक मात्रा में निकल रहे हों और वक्ष्यमाण पिड़काओं (शराविका आदि) से पीड़ित रोगी को प्रमेह शीघ्र मार डालता है[2] ।

प्रकारान्तरेणासाध्यलक्षणम् ।

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा
न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् ।

१—वायु के सभी उपद्रव बड़े भीषण हैं, किन्तु उन में भी हृद्ग्रह (हार्ट-फेल) बड़ा भीषण है । इन रोगियों की प्रायः इसी से मृत्यु होती है ।

२—यों तो यह दुष्ट रोग बहुत काल पर्यन्त साथ देता है । भगवान् अग्निवेश ने "प्रमेहोऽनुषंगिनाम्" कहा है ।

ये चापि के चित् कुलजा विकारा
भवन्ति तांस्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥ २२ ॥ च० चि० अ० १६

अर्थ – प्रमेह से पीड़ित अथवा मधुमेहपीडित माता-पिता की सन्तान को भी (जन्म से ही अथवा कुछ समय के अनन्तर) प्रमेह हो जाता है तो वह बीज (रज वीर्य) के विकार के कारण असाध्य होता है। यही नहीं अपितु अन्यान्य भी जो (कुष्ठ, अर्श आदि) कुल या वंशज रोग होते हैं, वे भी असाध्य कहे जाते हैं[1]।

मधुमेहस्य लक्षणम्।

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥२३॥ सु० नि० अ० ६

अर्थ—सभी प्रमेह उचित चिकित्सा न होने से समय पाकर "मधु-मेह" या क्षौद्रमेह हो जाते हैं। ऐसी दशा में वे असाध्य भी हो जाते हैं। मधुमेह क्षौद्रमेह से भिन्न नहीं है।

मधुमेहे मधुसमं जायते स किल द्विधा।
क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायौ दोषावृतपथेऽथवा ॥ २४ ॥

अर्थ—मधुमेह में मूत्र मधु के समान तो होता ही है, किन्तु वह दो प्रकार से उत्पन्न होता है १—धातुओं के क्षय (मूत्र द्वारा बह जाने के कारण वायु का कोप होने से) से २—दोषों द्वारा मार्ग रुक जाने के कारण वायु का कोप होने से।

आवृतो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयन्।
क्षणात्क्षीणः क्षणात्पूर्णो भजते कृच्छ्रसाध्यताम् ॥ २५ ॥

१—देखा जाता है कि कुष्ठ, अर्श एवं श्वेत कुष्ठ आदि से पीड़ित माता-पिता की बहुत सी सन्तानों में से कुछ नीरोग तथा कुछ उन रोगों के रोगी होते हैं और यह भी देखा गया है कि तीसरी पीढ़ी (पुश्त) में जाकर रोग का प्रादुर्भाव होता है। इससे सिद्ध होता है कि रोग का बीज भी अपने अनुकूल हेतु तथा सम्प्राप्ति पा कर ही उगता है।

अर्थ—आवृत अर्थात् मार्ग रुकने से क्रुद्ध वायु कारणों के बिना ही स्वल्प कारणों से क्रुद्ध होकर अपने लक्षणों को प्रकट किया करता है। अतः वह क्षण २ में घटता बढ़ता है और इस दशा में प्रमेह कृच्छ्रसाध्य होता है[१]।

मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥२६॥ वा० नि० अ० १०

अर्थ—प्रायः सभी प्रमेहों में मधु के समान जो मीठा मूत्र आता है इस कारण वे सभी प्रमेह "मधुमेह" कहे जाते हैं। क्योंकि शरीर में महत्त्वपूर्ण या अत्युपयोगी सभी धातु मीठे हैं। प्रमेह में वे ही धातु मूत्र के साथ निकला जा रहा है[२]।

प्रमेहपिडकानिदानम्।

शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी।
मसूरिका सर्षपिका पुत्रिणी सविदारिका ॥ २७ ॥
विद्रधिश्चेति पिडकाः प्रमेहोपेक्षया दश।
सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु ॥२८॥ वा० नि० अ० १

अर्थ—प्रमेह की उचित चिकित्सा न करानेके कारण निम्न लिखित

१—मधुमेह तो असाध्य ही होता है फिर यह कृच्छ्रसाध्य क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर यह है कि इस दशा में शारीरिक धातु नष्ट ही हो जाते हैं। अतः बल भी नष्ट नहीं हो जाता जिससे रोगी सुश्रुतोक्त कूपखनन, पृथ्वीभ्रमण आदि कठिन कृत्यों का सम्पादन कर एवं कड़े से कड़े पथ्यादि का सेवन कर आरोग्य लाभ कर सकता है और धातुक्षय से जो मधुमेह होता है वह तो सर्वथा असाध्य होता ही है। क्योंकि उससे बल भी क्षीण हो जाता है। इसे पूर्णतया समझने के लिये "बलाधिष्ठानमारोग्यम्" स्मरण रखिये।

२—यद्यपि पित्त के प्रमेहों में मधुरता या मीठेपन का उल्लेख नहीं है, तो भी यह न भूलना चाहिये कि इनमें भी वे ही मधुर धातु दूषित होते हैं जो वात-कफ के प्रमेहों में होते हैं।

दश पिडकाएं सन्धि, मर्म एवं मांसल स्थानों में निकलने लगती है। इनके नाम इस प्रकार हैं—१—शराविका, २—कच्छपिका, ३—जालिनी, ४—विनता, ५—अलजी, ६—मसूरिका, ७—सर्षपिका, ८—पुत्रिणी, ९—विदारिका और १०—विद्रधि।

सर्वासां प्रमेहपिडकानां लक्षणानि।

अन्तोन्नता तु तद्रूपा निम्नमध्याशराविका।
गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपी॥ २९॥
सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः।
जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता॥ ३०॥
अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा।
महती पिडका नीला विनता नाम सा स्मृता॥ ३१॥
महत्यल्पचिता ज्ञेया पिडका चापि पुत्रिणी।
मसूराकृतिसंस्थाना विज्ञेया तु मसूरिका॥ ३२॥
रक्ता सिता स्फोटचिता दारुणा त्वलजी भवेत्।
विदारीकन्दवद्वृत्ता कठिना च विदारिका॥ ३३॥
विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता ज्ञेया विद्रधिका तु सा। वा॰ नि॰ अ॰ १०

अर्थ—सब ओर से ऊंची तथा बीच में नीची ठीक कसोरे (कूठी) कीसी "शराविका" नामक पिडका होती है। श्वेत सरसों के दाने के सदृश आकृतिवाली एवं उतनी ही छोटी "सर्षपिका" नामक पिडका होती है। दाहयुक्त एवं कछुए की पीठ के सदृश ऊँची तथा कठोर "कच्छपिका" होती है। भीषण दाहवाली तथा मांसपेशियों से ढकी हुई (गहरी) "जालिनी" होती है। पीठ पर अथवा उदर पर गहरी पीड़ा एवं सड़न से युक्त तथा नीले वर्णवाली बड़ी जो पिड़का (फोड़ा) होती है, उसे "विनता"[1] कहा जाता है। एक बड़ी पिडका जो कि छोटी २ बहुत-सी

1—यही वह प्रसिद्ध भयंकर फोड़ा है जिसे "अदीठ" या कारबकल कहते हैं।

पिडकाओं से घिरी रहती है उसे "पुत्रिणी" कहते हैं। मसूर (मसरी) के आकार एवं वर्ण से युक्त पिडका "मसूरिका" होती है। लाल अथवा श्वेत, फफोलों से व्याप्त एवं भयंकर "अलजी" होती है। विदारीकन्द के समान गोल एवं कठोर पिडका "विदारिका" होती है। विद्रधि के लक्षणों से युक्त "विद्रधिका" नामक पिडका होती है।

पिडकानामुत्पत्तौ कारणानि।

ये यन्मयाः स्मृता मेहास्तेषामेतास्तु तन्मयाः ॥ ३४ ॥
विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः।
तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहाः ॥३५॥ च०सू०अ० १७

अर्थ—जो प्रमेह जिस दोष से होता है, उसकी यह पिडका भी उसी दोष से होती (अर्थात् वातजनित प्रमेह में वातजनित ही पिडका होती है। इसके लिए विशेषरूप से दोषविवेचना करने की आवश्यकता नहीं है) है, किन्तु यह प्रमेह के बिना भी मेद धातु के दोष से उत्पन्न हो जाती है और ऐसी दशा में तब तक यह प्रत्यक्ष अथवा ऊंची नहीं होती जब तक अपनी चकली नहीं बना लेती।

अथासाध्यपिडकानां लक्षणानि।

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः।
सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडकाः परिवर्जयेत् ॥ ३६ ॥ सु० नि० अ० ६

अर्थ—यह पिडका यदि गुद, हृदय, सिर, कन्धे, पीठ एवं मर्मस्थानों में हो और उपद्रवों से युक्त एवं मन्दाग्नि से युक्त हो तो असाध्य होती है।

पिडकानामुपद्रवाः।

तृट्-कास-मांस-संकोच-मोह-हिक्का-मदज्वराः।
विसर्प-मर्मसंरोधाः पिडकानामुपद्रवाः ॥ ३७ ॥

अर्थ—प्यास, खांसी, मांस में सिकुड़न, मोह (अर्द्ध मूर्छा) हिचकी, मद, ज्वर, विसर्प एवं मर्मस्थानों का रुक जाना यह सब पिडकाओं के उपद्रव हैं।

मेदोरोगनिदानम् ।[1]

मेदोरोगस्य हेतु-सम्प्राप्ति-लक्षणानि च ।

अव्यायाम-दिवास्वप्न-श्लेष्मलाहार-सेविनः ।
मधुरोऽन्नरसः प्रायः स्नेहान्मेदः प्रवर्धयेत् ॥ १ ॥
मेदसाऽऽवृतमार्गत्वात् पुष्यन्त्यन्ये न धातवः ।
मेदस्तु चीयते तस्मादशक्तः सर्वकर्मसु ॥ २ ॥
क्षुद्रश्वास-तृषा-मोह-स्वप्न-क्रथन-सादनैः ।
युक्तः क्षुत्-स्वेद-दुर्गन्धैरल्पप्राणोऽल्पमैथुनः ॥ ३ ॥
मेदस्तु सर्वभूतानामुदरेष्वस्थिषु स्थितम् ।
अत एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत् ॥ ४ ॥
मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्धातुः कोष्ठे विशेषतः ।
चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि ॥ ५ ॥
तस्मात् स शीघ्रं जरयत्याहारमभिकाङ्क्षति ।
विकारांश्चाप्नुते घोरान् कांश्चित् कालव्यतिक्रमात् ॥ ६ ॥
एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ ।
एतौ तु दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा ॥ ७ ॥
मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः ।
विकारान् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ॥ ८ ॥

अर्थ—व्यायाम न करने से, दिन में अधिक सोने से एवं कफ-कारक आहारों के सेवन से अन्न का रस मीठा होकर अपनी स्निग्धता से प्रायः मेदा (केवल मेदा) धातु को बढ़ा देता है। इस मेदा द्वारा

१—यह रोग उन लोगों को होता है जो अत्यधिक स्निग्ध पदार्थ खाकर गद्दों पर पड़े रहते हैं तथा परिश्रम नहीं करते। पहलवानों के सब धातु पुष्ट होते हैं और अन्य लोगों का केवल मेद पुष्ट होता है।

अन्यान्य धातुओं को मार्ग रुक जाने (कुछ रुकते हैं सर्वथा नहीं) के कारण अन्यान्य धातु पुष्ट नहीं होते, किन्तु केवल मेदा का सञ्चय होता जाता है। अतः आगे मनुष्य सब कार्यों में असमर्थ होने लगता है। (धीरे २) क्षुद्र श्वास, प्यास, मोह, नींद की अधिकता, सोते समय गला या नाक बोलना (घराडे) थकावट, भूख की एवं स्वेद की अधिकता, शरीर से दुर्गन्ध आना, बल का ह्रास तथा मैथुन में असमर्थता भी आ घेरती है। क्योंकि मेदा सभी प्राणियों के उदर में तथा अस्थियों के ऊपर रहता है, अतएव प्रायः अर्थात् शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा उदर ही में अधिक वृद्धि होती है। मेदा द्वारा मार्ग रुकने के कारण कोष्ठ में वायु विशेष रूप से घूमता है, अतएव अग्नि बढ़ जाती है। आहार घटता जाता है, यही कारण है कि वह शीघ्र ही पच जाता है और पुनः भूख लग आती है। यदि थोड़े समय के लिये भोजन न मिला तो वह मनुष्य भीषण रोगों से पीड़ित हो जाता है। सचमुच यह अग्नि तथा वायु ही विशेष उपद्रव उत्पन्न करते हैं और उस मेदस्वी पुरुष को इस प्रकार जला डालते हैं, जैसे वनाग्नि वन को। मेदा अत्यन्त बढ़ जाने से वायु आदि दोष एकाएक भीषण रोगों को उत्पन्न कर जीवन को नष्ट कर देते हैं।

मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः।
अयथापचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ ९ ॥

अर्थ—जिसके मेदा एवं मांस के अत्यन्त बढ़ जाने के कारण चूतड़, उदर एवं स्तन बढ़कर थलथल हिलने लगते हैं और मोटापन तथा उत्साह (हौसला) बुरी तरह बढ़ जाता है तो उसे "अतिस्थूल" कहते हैं।

उदररोगनिदानम्।[1]

अथोदररोगस्य मुख्यं निदानम्।

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च।

१—इस रोग में उदर के सभी यन्त्र बिगड़ जाते हैं। यथा—अग्नि मन्द हो जाता है। हृदय सुचारुरूप से रक्त-परिचालन नहीं करता है। फुफ्फुसों की रक्त-

अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसञ्चयात् ॥१॥ वा॰नि॰अ॰१२

अर्थ—यद्यपि सभी रोग जठराग्नि (पाचनशक्ति) के दुर्बल हो जाने पर ही होते हैं; किन्तु उदररोग तो अवश्यमेव अग्निमान्द्य से होता है। अतएव अजीर्ण, मलिन या दूषित अन्नों का सेवन एवं मलसञ्चय भी इसका कारण है[1]।

अथोदररोगस्य सम्प्राप्तिः।

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि संचिताः।

प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम्॥२॥ च॰चि॰अ॰१८

अर्थ—वातादि दोष स्वेद तथा जलवाही स्रोतों में सञ्चित होकर तथा उन्हें रोक कर और प्राण (हृदयगत वायु), अग्नि, एवं अपान (मलाशयगत वायु) को अत्यन्त दूषित कर "उदररोग" को उत्पन्न कर देते हैं।

अथोदररोगस्य सामान्यलक्षणानि।

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता।

शोथः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः॥ ३ ॥

दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि।

अर्थ—अफरा, चलने में असमर्थता, दुर्बलता, अग्निमान्द्य, शोथ, अंगों की शिथिलता, वायु एवं विष्ठा का रुकना, दाह तथा तन्द्रा यह सभी उदररोगों में पाये जानेवाले लक्षण[2] हैं।

शोधन-क्रिया एवं श्वासोच्छ्वास-क्रिया विकृत हो जाती है। यकृत् तथा प्लीहा दूषित अथवा बढ़ जाते हैं। क्लोम भी ठीक नहीं रहता। वृक्क रक्त में से पूर्ववत् मूत्र नहीं छानते, अतः वह रक्त में ही रहता जाता है एवं स्वेदन निकलकर त्वचा में ही सञ्चित होता जाता है। इन सबका फल होता है—"उदर-रोग"।

१—अजीर्ण आदि तीनों हेतुओं का मूल हेतु भी अग्निमान्द्य ही है।

२—और पूर्वरूप यह है—

तत्पूर्वरूपं बलवर्णकांक्षा वलीविनाशो जठरे हि राज्यः।

जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो बस्तौ रुजः पादगतश्च शोफः। सु॰ नि॰ अ॰ ७

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः ॥ ४ ॥
सम्भवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु । सु॰नि॰अ॰७

अर्थ–वात, पित्त, कफ, सन्निपात, प्लीहा, बद्ध, क्षत एवं उदक के कारण आठ प्रकारके उदर रोग होते हैं । उनके लक्षण पृथक् २ सुनिये ।

वातोदरस्य लक्षणानि ।

तत्र वातोदरे शोथः पाणि–पान्–नाभि–कुक्षिषु ॥ ५ ॥
कुक्षि–पार्श्वोदर-कटी-पृष्ठ-रुक् पर्वभेदनम् ।
शुष्ककासोऽङ्गमर्दोऽधो गुरुता मलसंग्रहः ॥ ६ ॥
श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्वृद्धि-ह्रासवत् ।
सतोद-भेदमुदरं तनु-कृष्ण-सिराततम् ॥ ७ ॥
आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च ।
वायुश्चात्र सरुक्शब्दो विचरेत्सर्वतो गतिः ॥८॥ वा॰ नि॰ अ॰ १२

अर्थ—वातोदर के लक्षण यह हैं—हाथ, पाँव, नाभि एवं आमाशय पर शोथ, आमाशय, पसवाड़ों, सम्पूर्ण पेट, कमर एवं पीठ में पीड़ा, पर्वों (सन्धियों) में पीड़ा, सूखी खाँसी, शरीरपीड़ा, कमर के निचले भाग में भारीपन, मल का रुक जाना, त्वचा-नेत्र-मूत्र आदि में कालापन एवं सुर्खी, प्रत्यक्ष कारणों के विना ही उदर का बढ़ना तथा घटना, उदर में व्यथा एवं फटने कीसी पीड़ा, उदर पर पतली २ एवं काली २ सिराओं का दिखाई पड़ना, पेट को उँगलियों से बजाने पर फुलाई हुई मशक के समान ध्वनि निकलना और पीड़ा एवं शब्द (कुलल २ या गड़ २) करते हुए वायु का पेट में इधर-उधर घूमना ।

पित्तोदरस्य लक्षणानि ।

पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट्कटुकाऽऽस्यता ।
भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित् ॥ ९ ॥
पीत-ताम्र-सिरानद्धं-सस्वेदं सोष्म दह्यते ।
धूमायते मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते ॥ १० ॥ वा॰ नि॰ अ॰ १२

अर्थ—पित्तोदर के लक्षण यह हैं-ज्वर, मूर्च्छा, दाह, प्यास, मुख में कड़ुवापन, भ्रम, अतिसार, त्वचा आदि में पीलापन, उदर पर हरापन, पेट पर पीली एवं लाल सिराओं का दिखाई पड़ना, पेट में पसीना तथा ऊष्मा (भाप) के साथ दाह होना, रोगी को धूआँ-सा निकलता ज्ञात होना, स्पर्श करने से उदर कोमल जान पड़ना, शीघ्र ही जलोदर हो जाना और उसमें अत्यन्त सन्ताप का अनुभव होना।

कफोदरस्य लक्षणानि।

श्लेष्मोदरेऽङ्गसदनं स्वाप-श्वयथु-गौरवम्।
निद्रोत्क्लेशोऽरुचिः श्वासः कासः शुक्लत्वगादिता ॥११॥
उदरं स्तिमितं स्निग्धं शुक्लराजीततं महत्।
चिराभिवृद्धं कठिनं शीतस्पर्शं गुरु स्थिरम् ॥१२॥ वा० नि० अ० १२

अर्थ—कफोदर के लक्षण यह हैं—अंगों में शिथिलता, निद्रा, शरीर में शोथ एवं भारीपन की अधिकता, पेट गिलगिला-सा चिकना, श्वेत शिराओं से व्याप्त एवं बहुत बड़ा हो जाना एवं उसका धीरे २ बढ़ना, कठिन हो जाना, स्पर्श करने से ठण्डा प्रतीत होना, भारी तथा चिरकाल (कई मास) तक अपने ही रूप में रहना अर्थात् पित्तोदर के समान शीघ्र जलोदर न होना।

सन्निपातोदरस्य लक्षणानि।

स्त्रियोऽन्नपानं नख-रोम-मूत्र-विडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च दुष्टाम्बु-दूषीविष-सेवनाद्वा ॥ १३ ॥
तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः कुर्युः सुघोरं जठरं त्रिलिङ्गम्।
तच्छीतवाते भृशदुर्दिने च विशेषतः कुप्यति दह्यते च ॥ १४ ॥
स चातुरो मुह्यति हि प्रसक्तं पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च।
दूष्योदरं कीर्तितमेतदेव— वा० नि० अ० १२

अर्थ—"दुराचारिणी" स्त्रियाँ नाखून, लोम, मूत्र, पुरीष एवं रज

मासिकधर्म के स्राव) से युक्त खाने-पीने के पदार्थ में दे देती हैं[1]। अथवा शत्रु कई प्रकार के गर विष (जो सद्योमारक नहीं होते) देते हैं, इन कारणों से, अथवा दूषित जल तथा दूषीविष (शीघ्र न मारकर धातुओं को दूषित करनेवाला) के सेवन से (शीघ्र ही रक्त एवं वातादि तीनों दोष कुपित होकर अपने उपर्युक्त लक्षणों से युक्त भीषण "उदररोग" को उत्पन्न कर देते हैं। शीत वायु चलने पर एवं बादल छाये रहने पर यह उदररोग विशेषरूप से कष्ट देता तथा तपने लगता है। इसका रोगी प्रायः बेहोश या बदहोश हो जाया करता है, पाण्डुरोग, कृशता एवं प्यास से पीड़ित हो जाता है। इस उदररोग का दूसरा नाम दूष्योदर भी है।

प्लीहोदरस्य लक्षणानि।

—प्लीहोदरं कीर्तयतो निबोध ॥१५॥

विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च ।
प्लीहाभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ प्लीहोत्थमेतज्जठरं वदन्ति ॥१६॥
तद्वामपार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र ।
मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ।
सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रवृद्धे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव ॥१७॥

सु० नि० अ० ७

१—यद्यपि यहाँ यह दुष्कर्म दुराचारिणी स्त्रियों का ही बतलाया है; किन्तु यह उस प्रसिद्ध कार्मण या कामण का ही एक नुस्खा है। जिस का प्रचार आज सम्पूर्ण मानव हिन्दू-समाज में धार्मिक संस्कारों के साथ २ प्रचलित है और इसे समाज की बूढ़ियां एवं बड़े-बूढ़े तथा गुरु या पुरोहित अपने अबोध बच्चों और बच्चियों के द्वारा बड़े चाव से सम्पन्न करवाते हैं। बहुत-से सिद्ध महात्मा कहे जाने वाले धूर्त आज भी इस की कमाई खाते हैं और विशेषता यह है कि यह सब होता है परस्पर प्रेम लगाने या बढ़ाने के नाम पर या सौभाग्यवती बनने के लिये। शोक! प्यारे विद्यार्थियो! इसे समझने के लिये अपने देश में विवाहादि के अवसर पर होने वाले सभी कृत्यों पर भली भाँति ध्यान दो और अपने बड़ों से पूंछो।

अर्थ—प्लीहोदर का वर्णन भी समझिये—विदाहकारी एवं अभिष्यन्दी पदार्थों के अधिक सेवन से बढ़े हुए रक्त तथा कफ अत्यन्त दूषित होकर प्लीहा को बढ़ा देते हैं। बस इसी को "प्लीहोदर" कहा जाता है। यह पेट में बाईं ओर बढ़ता है, इससे रोगी विशेष रूप से शिथिल हो जाता है। मन्द २ ज्वर रहता है, अग्नि मन्द हो जाती है, कफ-पित्त (निम्नलिखित) के लक्षण आ घेरते हैं, दुर्बलता एवं पाण्डुरोग हो जाता है। ठीक इसी प्रकार यदि दाहिनी ओर यकृत् बढ़ जाता है तो उसे "यकृद्दाल्युदर" कहते हैं[1]।

अथात्र दोषाणां सम्बन्धः।

उदावर्त-रुजा-ऽऽनाहैर्मोह-तृड्-दहन-ज्वरैः।
गौरवा-ऽरुचि-काठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् ॥१८॥ वा० नि० अ० १२

अर्थ—उपर्युक्त प्लीहोदर या यकृद्दाल्युदर में वायु आदि दोषों की विवेचना करनी चाहिये—उदावर्त्त, पीड़ा एवं आनाह से वायु; मोह, प्यास, दाह एवं ज्वर से पित्त; तथा गौरव, अरुचि एवं कठोरता से कफ का कोप जानना चाहिये।

बद्धगुदोदरस्य लक्षणानि।

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत्।
संचीयते तस्य मलः सदोषः शनैः शनैः संकरवच्च नाड्याम् ॥१९॥
निरुध्यते तस्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम्।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति तस्योदरं बद्धगुदं वदन्ति ॥ २० ॥

सु० नि० अ० ७

१—इस रोग में प्लीहा अथवा यकृत् इतने सूज जाते हैं कि आप पसलियों के नीचे पेट में हाथ से दबाकर स्पर्श कर सकते हैं, कभी २ इतने कोमल होते हैं कि स्पर्श से पता नहीं चलता तो दबाने से रोगी वेदना का अनुभव करता है। यह दोनों या एक जीर्ण ज्वर में भी बढ़ जाते हैं और पाण्डुरोग में भी। इनका शोथ ज्वर की जीर्णावस्था में भी होता है। यह कहना अनुचित न होगा कि बंगाल का प्रसिद्ध "कालाजार" यही है। इसमें "सततक" ज्वर होता है।

अर्थ—जिस मनुष्य का अन्त्र चिपचिपाहट या पिच्छिलतायुक्त आहारों से अथवा बात एवं पाषाण या पत्थर से उक्त वस्तु असावधानी से (उदर में चली जाती है) जैसे तैसे रुक जाता है और उसमें धीरे २ दोषयुक्त मल इकट्ठा होता जाता है जैसे नाली में संकर अर्थात् गूला। उसके मलाशय में पुरीष भी रुकने लगता है, यदि वह निकलता भी है तो बड़ी कठिनता से और थोड़ा थोड़ा। हृदय तथा नाभि के मध्य भाग में उदर बँधता जाता है। इससे इस उदररोग को "बद्धगुद" कहते हैं।

परिस्राव्युदरस्य लक्षणानि।

शल्यं[1] तथाऽन्नोपहितं यदन्त्रं भुक्तं भिनत्त्यागतमन्यथा वा।
तस्मात्स्रुतोऽन्त्रात्सलिलप्रकाशः स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः॥
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं निस्तुद्यते दाल्यति चातिमात्रम्।
एतत्परिस्राव्युदरं प्रदिष्टम्— सु० नि० अ० ७

अर्थ—किसी प्रकार अन्न के साथ काँटा उदर में चला जाता है, जब वह आमाशय से अन्त्र में जाता है तो उसमें चिरगामी छिद्र कर देता है अथवा अति भोजन कर जम्भाई लेने के कारण अन्त्र फट जाता है। इस फटी अँतड़ी में से चूआ हुआ पानी का सा स्राव बार २ गुदमार्ग से निकलता रहता है और नाभि के निचले भाग में उदर बढ़ता है[2]। पेट में अत्यन्त व्यथा एवं फटने की-सी पीड़ा होती है, इसे "परिस्रावी" उदररोग कहते हैं।

जलोदरस्य लक्षणानि।

—दकोदरं कीर्तयतो निबोध॥ २२॥
यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरक्तोऽप्यथवा निरूढः।

१—आगतमन्यथा वा—का अर्थ हमारे विचार में यह होना चाहिये कि बाहर से आनेवाले बाण, भाला अथवा तीक्ष्ण मुखवाले शस्त्रों के द्वारा अँतड़ी में छेद हो जाता है।

२—अँतड़ी में से चुआ हुआ जल ही इकट्ठा हो जाता है और यही उदरवृद्धि का हेतु है। इसके आगे चलकर बढ़ते २ जलोदर होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्वहानि ॥२३॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति ।
स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि समाततं पूर्णमिवाम्बुना च ।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥२४॥
सु० नि० अ० ७

अर्थ—उदकोदर या जलोदर का भी वर्णन सुनिये—जो मनुष्य स्नेह-पान, अनुवासन बस्ति, वमन, विरेचन अथवा निरूहण बस्ति का सेवन कर सदा ठण्डा जल पी लेता है, उसके जलवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं अथवा अन्नरस के स्नेह से लिप जाते हैं तो पूर्ववत् अर्थात् छिद्रान्त्रोदर के समान जल का सञ्चय होने लगता है और प्रसिद्ध जलोदर या "जलन्धर' नामक भीषण रोग हो जाता है। इसमें पेट चिकना एवं बहुत बड़ा हो जाता है। नाभि घूम जाती है अर्थात् उसमें गहराई नहीं रह जाती और पेट तन जाता है। पानी से भरी हुई मशक के समान पेट अधिक थल थल करता है अथवा कुछ थोड़ा, अँगुलियों से बजाने पर "डब डब" ध्वनि होती है, बस यही जलोदर है।

अथोदररोगस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम् ।
बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥२५॥

अर्थ—प्रायः सभी उदररोग प्रारम्भ से ही कष्टप्रद होते हैं और बलवान् रोगी का नवीन उदररोग जब तक उसमें जल न भर गया हो तब तक किसी प्रकार अच्छी चिकित्सा होने से अच्छा हो सकता है।

पक्षाद्बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा ।
प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम् ॥२६॥ च० चि० अ० १८

अर्थ—पन्द्रह दिन के अनन्तर "बद्धगुदोदर" तथा वे सभी उदर जिनमें जल भरगया हो तथा छिद्रान्त्रोदर तो प्रायः असाध्य होते हैं।

साध्यानामप्यवस्थाविशेषेणासाध्यत्वम् ।

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्न–तनु–त्वचम् ।

बल-शोणित-मांसाग्नि-परिक्षीणं च वर्जयेत् ॥२७॥ च० चि० अ० १८

अर्थ—जिस रोगी की आँखें सूज जायँ, लिंग टेढ़ा हो जाय (उसकी त्वचा में पानी भी भर जाता है) सम्पूर्ण शरीर की त्वचा गीली गीली सी एवं पतली हो जाय और बल, रक्त, मांस एवं अग्नि क्षीण हो जाय, उसको छोड़ दे अर्थात् असाध्य होने के कारण चिकित्सा न करे।

पार्श्वभङ्गान्नविद्वेष–शोथा–तीसार–पीडितम्।
विरिक्तं चाप्युदरिणं पूर्यमाणं विवर्जयेत् ॥२८॥ सु० सू० अ० ४४

अर्थ—पसलियों में पीड़ा, अरुचि, शोथ एवं अतिसार से पीड़ित तथा जिसका विरेचन द्वारा जल निकल जाने पर भी उदर भर रहा हो, उसे छोड़ देवे।

शोथरोगनिदानम्।[1]

शोथस्य सम्प्राप्तिः।

रक्त-पित्त-कफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिः सिरा।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्-मांस-संश्रयम् ॥ १ ॥
उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादतः।

अर्थ—(४-५ एवं ११-१२-१३-१४ वें श्लोकों द्वारा कहे हुए कारणों से) दूषित वायु दूषित रक्त, पित्त एवं कफ को बाहर की सिराओं (यह प्रायः त्वचा पर दिखाई पड़ती है) में पहुँचा कर और उसी के द्वारा रुक कर त्वचा तथा मांस में कठोर (अथवा कोमल) ऊँचाई उत्पन्न कर देता है। बस यह सन्निपात (वात पित्त कफ एवं रक्त का संयोग) से होनेवाली इस ऊँचाई को "शोथ" या , सूजन" कहते हैं।

सर्वं हेतुविशेषैस्तु रूपभेदान्नवात्मकम् ॥ २ ॥
दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि। वा० नि० अ० ११३

अर्थ—सभी शोथ हेतुओं के कारण उत्पन्न हुए लक्षणों के भेद से

---

[1]—यह सर्वशरीरव्यापी भी होता है और एकांगव्यापी भी।

नौ प्रकार के होते हैं। यथा—वात से, पित्त से, कफ से, सन्निपात से, अभिघात या चोट से और विष से।

शोथरोगस्य पूर्वरूपाणि।

तत्पूर्वरूपं दवथुः सिरायामोऽङ्गगौरवम् ॥३॥ वा० नि० अ० १

अर्थ—शोथ का पूर्वरूप यह है—भावी शोथ के स्थान में सन्ताप, सिराओं का जल जाना और शरीर में भारीपन।

शोथरोगस्य कारणानि।

शुद्ध्यामयाभुक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा।
दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥ ४ ॥
अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ॥५॥

अर्थ—वमन-विरेचनादि शोधन से, रोगों से एवं उपवास से कृश तथा दुर्बल मनुष्य द्वारा क्षारप्रधान, खट्टे, तीक्ष्ण, उष्ण एवं गरिष्ठ पदार्थों का सेवन अथवा किसी भी मनुष्य द्वारा अधिक दही, कच्ची मिट्टी, अधिक शाक, क्षीर मत्स्यादि विरोधी एवं दूषित अथवा विष मिले अन्नों का सेवन अथवा अर्श, शारीरिक चेष्टा न करना, शरीर को बाहर (स्नानादि से), भीतर (विरेचनादि से) शुद्ध न रखना, मर्म स्थानों पर दोषों का आक्रमण, प्रसवकाल में उचित उपचार का अभाव एवं वमन-विरेचनादि के समय पथ्यादि में असावधानी यह सब दोषज[1] शोथ के कारण हैं।

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमूष्माऽथ सिरातनुत्वम्।
सलोमहर्षश्च विवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ॥ ६ ॥

अर्थ—शोथ का सामान्य लक्षण यह है—सम्पूर्ण शरीर या उस अंग में भारीपन, शोथ एक स्थान में व्यवस्थित[2] नहीं होता, उँचाई

१—अभिघातज एवं विषज शोथ के कारण आगे ११-१२-१३-१४ वें श्लोकों द्वारा कहे जायँगे।

२—इस के विपरीत व्रणशोथ एक स्थान में व्यवस्थित होता है।

युक्त अर्थात् सूजन दिखाई पड़ने लगती है, भाप निकलना, सिराओं का तन जाना या पतली पड़ जाना, रोमांच होना तथा उस स्थान के वर्ण में परिवर्त्तन (दोषानुसार) हो जाना।

वातजशोथस्य लक्षणानि।

चलस्तनुत्वक् परुषोऽरुणोऽसितः सुषुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवा बली च श्वयथुः समीरणात् ॥७॥

अर्थ—वातज शोथ के लक्षण यह हैं–इधर-उधर हटने-बढ़ने वाला, पतली त्वचावाला, खरदरा, गहरा लाल, काला तथा शून्यता, झनझनाहट एवं पीड़ा से युक्त, कारण के बिना ही शान्त[1] होने वाला, दबाकर छोड़ने से उभरनेवाला एवं दिन में (रात्रि की अपेक्षा) बढ़नेवाला शोथ वातज शोथ होता है।

पित्तजशोथस्य लक्षणानि।

मृदुः सगन्धोऽसित-पीत-रागवान् भ्रम-ज्वर-स्वेद-तृषा-मदान्वितः।
य उष्यते स्पर्शरुगक्षिरागकृत् स पित्तशोथो भृश-दाह-पाकवान् ॥८॥

अर्थ—कोमल, विशिष्ट प्रकार की गन्ध से युक्त, काले तथा पीले वर्णवाला तथा भ्रम, ज्वर, पसीना, प्यास एवं मद से युक्त, दाह युक्त, जिसके स्पर्श करने से पीड़ा हो, आँखों में लाली आ जाय, और भीषण दाह एवं पाक से युक्त शोथ "पित्तशोथ" होता है।

कफजशोथस्य लक्षणानि।

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः प्रसेक-निद्रा-वमि-वह्निमान्द्यकृत्।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो न चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः ॥ ९ ॥

अर्थ—भारी, स्थायी, श्वेत, अरुचि से युक्त तथा मुखस्राव, नींद की अधिकता, वमन और अग्निमान्द्य करनेवाला, कष्टपूर्वक उत्पन्न एवं शान्त होनेवाला, दबाने से वातशोथ के समान दबकर न उभरनेवाला तथा दिन की अपेक्षा रात्रि में बलवान् होनेवाला शोथ "कफशोथ" होता है।

१—किन्तु थोड़े समय के अनन्तर फिर उत्पन्न हो जाता है।

द्वि-त्रिदोषजशोथस्य लक्षणानि

निदानाकृतिसंसर्गाच्छ्वयथुः स्याद् द्विदोषजः ।
सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रलक्षणः ॥१०॥ च० सू० अ० १८

अर्थ—निदान एवं लक्षणों के मिश्रण से द्विदोषज शोथ तथा सब दोषों के सब लक्षणों के मिश्रण से "सन्निपातज शोथ" समझना चाहिये ।

अथाभिघातजशोथस्य लक्षणानि ।

अभिघातेन शस्त्रादिच्छेद-भेद-क्षतादिभिः ।
हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लात-कपिकच्छुजैः ॥ ११ ॥
रसैः शूकैश्च संस्पर्शाच्छ्वयथुः स्याद्विसर्पवान् ।
भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः ॥१२॥ वा० नि० अ० १३

अर्थ—मुष्टि या मुक्का आदि के अभिघात से और तलवार, भाला आदि शस्त्रों द्वारा कटने से, फटने से एवं घाव आदि के हो जाने से अथवा शीत वायु (हिम की वायु जैसे हिमालय पर) लगने से तथा समुद्र की वायु लगने से (जैसे समुद्र के तीर पर अथवा जहाज पर यात्रा करते समय) अथवा भिलावे के फलों का रस और किवाँच या कौंच के शूक लगने से जो सूजन हो जाती है उसे "अभिघातज शोथ" कहते हैं । इसमें पंछायुक्त फुन्सियाँ निकल आती हैं, अत्यन्त जलन होती है, शोथ का स्थान लाल हो जाता है तथा प्रायः पित्तशोथ के सभी लक्षण पाये जाते हैं ।

विषजशोथस्य लक्षणानि ।

विषजः सविष-प्राणि-परिसर्पण-मूत्रणात् ।
दंष्ट्रा-दन्त-नखाघातादविषप्राणिनामपि ॥ १३ ॥
विण्-मूत्र-शुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसङ्करात् ।
विषवृक्षानिलस्पर्शाद्गरयोगावचूर्णनात् ॥ १४ ॥
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाह-रुजा-करः । वा० नि० अ० १३

अर्थ—विषैले प्राणियों के स्पर्श से अथवा व्र लगने से तथा निर्विष

प्राणियों के भी दाढ़, दाँत एवं नाखून लगने से और विषैले अथवा निर्विष प्राणियों के विष्ठा, मूत्र एवं शुक्र से दूषित एवं मैले वस्त्रों के पहनने से अथवा विषैले वृक्ष का वायु लगने अथवा विषैले चूर्णों के बूकने से अर्थात् शरीर पर पड़ने से जो सूजन होती है, उसे "विषजशोथ" कहा जाता है। यह कोमल, फैलनेवाला, नीचे की ओर जानेवाला, शीघ्र उत्पन्न एवं शान्त होने वाला, दाह एवं पीड़ा करने वाला होता है।

शोथस्य स्थानानि।

दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः ॥ १५ ॥
पक्वाशयस्था मध्ये तु वर्चःस्थानगतास्त्वधः।
कृत्स्नदेहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा ॥ १६ ॥ सु० चि० अ० २३

अर्थ—आमाशय में स्थित दोष ऊर्ध्वकाय (जत्रु के ऊपर) पर, पक्वाशय में स्थित दोष मध्यकाय (धड़) पर, मलाशय में स्थित दोष अधःकाय या कमर के निचले भाग पर तथा सम्पूर्ण शरीर पर शोथ उत्पन्न कर देते हैं।

शोथस्य साध्यासाध्यत्वम्।

यो मध्यदेशे श्वयथुः स कष्टः सर्वगश्च यः।
अर्धाङ्गे रिष्टभूतः स्याद्यश्चोर्ध्वं परिसर्पति ॥१७॥

अर्थ—जो शोथ मध्यकाय अथवा सम्पूर्ण शरीर पर होता है, वह कष्टसाध्य होता है; किन्तु जो आधे शरीर पर (अर्धनारी नटेश्वर की भाँति) होता है अथवा नीचे (पैरों) से ऊपर (मुख तक) फैलता है, उसे असाध्य जानना चाहिये।

श्वासः पिपासा छर्दिश्च दौर्बल्यं ज्वर एव च।
यस्य चान्ने रुचिर्नास्ति श्वयथुं तं विवर्जयेत् ॥ १८ ॥ सु० चि० अ० २३

अर्थ—जिस रोगी को श्वास, प्यास, वमन, दुर्बलता, ज्वर एवं अन्न में अरुचि हो जाय, उसे असाध्य जानकर छोड़ देना चाहिये।

अनन्योपद्रवकृतः शोथः पादसमुत्थितः।
पुरुषं हन्ति नारीं च मुखजो गुह्यजो द्वयम्।

अर्थ—ग्रहणी, अर्श, पाण्डुरोग आदि रोगों का उपद्रवभूत न होकर (जैसा कि प्रायः उक्त रोगों में हो जाया करता है) जो शोथ मनुष्य के पैरों पर उत्पन्न होकर सम्पूर्ण शरीर में हो जाता है अथवा स्त्री के मुख से उत्पन्न होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है अथवा पुरुष-स्त्री दोनों के गुह्यस्थान (लिंग, योनि एवं वस्ति) पर उत्पन्न होकर सम्पूर्ण शरीर में हो जाता है, वह असाध्य है ।

नवोऽनुपद्रवः शोथः साध्योऽसाध्यः पुरेरितः ॥१९॥ वा० नि० अ० १३

अर्थ—नवीन एवं उपद्रवों से रहित शोथ साध्य होता है और उपर्युक्त लक्षणों सहित असाध्य होता है ।

विवर्जयेत् कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं च ।
स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो यश्चापि बालस्थविराबलानाम् ॥२०॥

अर्थ – आमाशय तथा सम्पूर्ण उदर पर होने वाला अथवा गला और हृदय, बस्ति आदि मर्मस्थानों पर होने वाला मोटा एवं खरदरा शोथ असाध्य होता है अथवा जो बालक, बुढ़े एवं दुर्बलों को होता है, वह भी असाध्य होता है ।

वृद्धिनिदानम् ।

वृद्धिरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

क्रुद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुः शोथ-शूल-करश्चरन् ।
मुष्कौ वङ्क्षणतः प्राप्य फलकोषाभिवाहिनीः ॥ १ ॥
प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फलकोषयोः ।

अर्थ—अपने कारणों से वृद्ध या क्रुद्ध वायु अधोगामी होकर वंक्षण (कुल्हे) से मुष्कों या अण्डों या वृषणों की ओर आता हुआ अण्डों

१—यह अण्डकोष का रोग है । यह प्रायः उष्ण किन्तु आर्द्र देशों में अधिक होता है और शीत एवं रूक्ष देशों में कम । अण्डकोष एक पतली दीवार से दो भागों में विभक्त है । अतः एक कोष की वस्तु दूसरे कोष में नहीं जा सकती यही कारण है कि एक कोष में भी उक्त रोग होता है ।

तथा अण्डकोषों को धारण करने वाली धमनियों में पीड़ा, शोथ एवं शूल उत्पन्न कर अण्ड अथवा अण्डकोषों में "वृद्धि" नामक रोग उत्पन्न कर देता है।

दोषास्र-मेदो-मूत्रान्त्रैः स वृद्धिः सप्तधा गदः ॥ २ ॥

मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलम् । वा० नि० अ० ११

अर्थ—यह "वृद्धिरोग" सात प्रकार का होता है। यथा—वात, पित्त, कफ, रक्त, मेदा मूत्र एवं अन्त्र या उपान्त्र से। वास्तव में मूत्रवृद्धि तथा अन्त्रवृद्धि भी वायु से होती है; किन्तु कारण तथा चिकित्सा के भेद से पृथक् गिनी गई है।

वातजादिमूत्रजान्त्रवृद्धीनां क्रमेण लक्षणानि ।

वातपूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षो वातादहेतुरुक् ॥ ३ ॥

पक्वोदुम्बरसंकाशः पित्ताद्दाहोष्मपाकवान् ।

कफाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक् ॥ ४ ॥

कृष्णस्फोटावृतः पित्तवृद्धिलिङ्गश्च रक्तजः ।

कफवन्मेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपमः ॥ ५ ॥

अर्थ—वायु से भरी मशक के समान स्पर्शवाली, रूक्ष एवं अभिघातादि हेतुओं के बिना ही दुखनेवाली "वातजवृद्धि" होती है। पके गूलर के फल के समान पीली, दाह और पाक से युक्त एवं गर्भ "पित्तज वृद्धि" होती है। ठण्ढी, भारी, चिकनी, खुजली से युक्त, कड़ी एवं छोटी, पीड़ा से युक्त "कफजवृद्धि" होती है। काले २ फफोलों से युक्त तथा पित्तवृद्धि के लक्षणों वाली "रक्तजवृद्धि" होती है। कफजवृद्धि के लक्षणों से युक्त, कोमल तथा तालफल की आकृति से युक्त "मेदोवृद्धि" होती है।

मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु गच्छतः ।

अम्भोभिः पूर्णदृतिवत् क्षोभं याति सरुङ् मृदुः ॥ ६ ॥

मूत्रकृच्छ्रमधस्ताच्च चालयन् फलकोषयोः । वा० नि० अ० ११

अर्थ—वायु का वेग रोकने वाले पुरुष को "मूत्रवृद्धि" हो जाती है। यह वृद्धि चलते समय जल से भरी मशक के समान थलथल करके हिलती है तथा इसमें पीड़ा होती है और यह कोमल होती है, मूत्र कड़क के साथ होता है। इसमें वायु अण्डकोषों में घूमकर नीचे को जाता ज्ञात होता है[1]।

अथान्त्रवृद्धेर्लक्षणानि।

[2]वातकोपिभिराहारैः शीततोयावगाहनैः ॥ ७ ॥
धारणेरणभाराध्वविषमाङ्गप्रवर्तनैः।
क्षोभणैः क्षुभितोऽन्यैश्च क्षुद्रान्त्रावयवं यदा ॥ ८ ॥
पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत्।
कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभं श्वयथुं तदा ॥ ६ ॥
उपेक्ष्यमाणस्य च मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवतीं स वायुः।
प्रपीडितोऽन्तः स्वनवान् प्रयाति प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः ॥१०॥
अन्त्रवृद्धिरसाध्योऽयं वातवृद्धिसमाकृतिः। वा०नि०अ० १२

अर्थ—वायु को कुपित करने वाले आहारों के सेवन से, शीत जल में नहाने से, वेगों को रोकने अथवा बलपूर्वक चिल्लाने से, भार उठाने से, मार्ग चलने से, अंगों को टेढ़ा-मेढ़ा चलाने अथवा और भी बलवद्विग्रह तथा वृक्षादि पर से गिरने आदि से कुपित वायु अँतड़ी के छोटे अंग

१—चालयन् के स्थान में वाग्भट में वलयं पाठ है। वस्तुतः इसके स्थान में सुश्रुतानुसार "श्वयथु" होता तो अधिक सुन्दर होता।

२—यह एक कष्टसाध्य (औपरेशन साध्य) रोग है। इसका एक ही कष्ट कारक उपाय है कुण्डलबन्धनी (भै० र०) नामक पट्टी बाँधना। बृहदन्त्र के प्रारम्भिक भाग में एक श्रृङ्गाकार अवयव है। (न जाने ईश्वर ने इसे किस लिये बनाया है) इसे "उपान्त्र" कहा जाता है। इसकी लम्बाई ½ इञ्च से ८ इञ्च तक होती है। इस उपान्त्र की वृद्धि "अन्त्रवृद्धि" कही जाती है। यह अन्त्राधार पेशी की दुर्बलता अथवा उसके फट जाने से वंक्षण में आकर अड़ जाता है, बस वही रोग है।

अर्थात् उपान्त्र को विकृत कर एवं उसको अपने स्थान से नीचे ले जाकर वंक्षण की सन्धि में लम्बी-सी गांठ के समान कर देता है। यदि इसका उपाय न किया जाय तो कालान्तर में वायु अण्डकोषों में भी सूजन कर देता है। इसके पश्चात् आध्मान, पीड़ा तथा स्तब्धता भी हो जाती है। इस गांठ को (पेटी द्वारा) दबाने से वह वायु या वही ग्रन्थिरूप उपान्त्र गलल २ शब्द करता हुआ भीतर चला जाता है। जब पेटी खोल दी जाती तो फिर आध्मान के साथ पूर्ववत् दशा हो जाती है। यह वातवृद्धि के समान लक्षणों से युक्त अन्त्रवृद्धि असाध्य होती है।

नोट—इन श्लोकों को समझने के लिए सु० नि० अ० १२ देखिये। वा० भ० ने श्लोक बनाने में गड़बड़ कर दिया है।

गलगण्डनिदानम्।

गलगण्डरोगस्य निदानम्।

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले।
महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥१॥ सु० नि० अ० ११

अर्थ—गले पर अर्थात् हनुओं के नीचे मन्याओं पर जो बद्धमूल वृषण की गुटिका के समान गुटिका या गांठ युक्त बड़ा अथवा छोटा शोथ हो जाता है, उसे "गलगण्ड" या "गिल्लड" या "घेघा" कहना चाहिये।[1]

गलगण्डरोगस्य सम्प्राप्तिः।

वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टो मन्ये च संश्रित्य तथैव मेदः।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः॥ २ ॥
सु० नि० अ० ११

अर्थ—वायु, कफ एवं मेदा गले पर मन्याओं में जाकर जब दुष्ट हो जाते हैं, तब अपने २ लक्षणों से युक्त गांठयुक्त शोथ उत्पन्न कर देते हैं, उन्हें गलगण्ड कहते हैं।

वातिकगलगण्डस्य लक्षणानि।

तोदान्वितः कृष्णसिरावनद्धः श्यावोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु।

१—इस रोग में ग्रीवा की ग्रन्थियां बढ़ जाती हैं और यह रोग पर्वतों की तराई में अधिक होता है।

पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको यदृच्छया पाकमियात्कदाचित् ॥३॥
वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः । सु० नि० अ० ११

अर्थ—वायु का गलगण्ड व्यथायुक्त, काली २ शिराओं से व्याप्त, कुछ काला अथवा लाल होता है। खरदरेपन से युक्त, चिरकाल में बढ़नेवाला एवं न पकनेवाला होता है अथवा कभी २ पक भी जाता है। इससे रोगी का मुख फीका रहता एवं गला तथा तालु सूखता रहता है।

कफजगलगण्डस्य लक्षणानि ।

स्थिरः सवर्णो गुरुरुग्रकण्डूः शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु ॥४॥
चिराभिवृद्धिं भजते चिराद्वा प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित् ।
माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालु-गलप्रलेपः ५ सु० नि०अ० ११

अर्थ—कफ का गलगण्ड स्थायी, प्रकृत वर्ण से युक्त, भारी, भीषण खुजली से युक्त, ठण्डा एवं बड़ा होता है। चिरकाल में बढ़ता है अथवा कभी २ बड़े विलम्ब से पक भी जाता है। थोड़ी पीड़ा से युक्त होता तथा इसके रोगी का मुख मीठा, तालु एवं गला लिपा-सा होता है।

मेदोजगलगण्डस्य लक्षणानि ।

स्निग्धो गुरुः पाण्डुरनिष्टगन्धो मेदोभवः कण्डुयुतोऽल्परुक्च ।
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः ॥ ६ ॥
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तोर्गलेऽनुशब्दं कुरुते च तित्यम् ।
सु० नि० अ० ११

अर्थ—मेदा का गलगण्ड चिकना, भारी, श्वेत, दुर्गन्ध युक्त, खुजलीवाला एवं थोड़ी पीड़ा से युक्त होता है। लौवा या घीया के समान मूल में पतला एवं आगे से बड़ा तथा शरीर के घटने-बढ़ने के साथ ही घटने-बढ़नेवाला होता है। इस क रोगी का मुख चिकना होता है एवं उस के गले या कण्ठ से सर्वदा एक प्रकार का (सांय-सांय) शब्द या ध्वनि निकलती रहती है।

गलगण्डस्यासाध्यलक्षणानि ।

कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं संवत्सरातीतमरोचकार्तम् ॥ ७ ॥

क्षीणं च वैद्यो गलगण्डयुक्तं भिन्नस्वरं चापि विवर्जयेच्च ।

सु० नि० अ० ११

अर्थ—जो रोगी कठिनता से श्वास ले सकता हो, सम्पूर्ण शरीर कोमल हो गया हो, एक वर्ष का पुराना रोग हो, रोगी अरुचि से पीड़ित हो, दुर्बल हो गया हो, स्वरभेद से युक्त हो तो ऐसे रोगी को असाध्य[1] होने के कारण छोड़ देना चाहिये ।

गण्डमालारोगस्य लक्षणानि ।

[2]कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवङ्क्षणेषु ॥ ८ ॥
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः ।

सु० नि० अ० ११

अर्थ—मेदा तथा कफ के विकार से कांख, जत्रु, गला एवं कूल्हे में झरबेर (छोटी बेर), बेर (बड़ा बेर) अथवा आमले के सदृश बहुत से गण्डों या गिलटियों के निकलने को "गण्डमाला" या "कण्ठमाला" कहते हैं । इन गिलटियों का पाक धीरे २ (वर्षों में) तथा थोड़ा २ होता है ।

अथापचीरोगस्य लक्षणम् ।

ते ग्रन्थयः केचिदवाप्तपाकाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ॥९॥

१—यह असाध्यता कृच्छ्रोच्छ्वसन्तं एवं "क्षीणं" इन दो लक्षणों के अतिरिक्त मारक नहीं होती । केवल चिकित्सा-नैष्फल्य की सूचक है; क्यों कि बाल्यावस्था में उत्पन्न होकर वृद्धावस्था तक या यों कहिये कि आयु समाप्ति तक यह अच्छा नहीं होता है ।

२—इस का मूल पाठ सु०नि०अ० ११ में बहुत ही उत्तम ढङ्ग से लिखा है । न जाने क्यों उपर्युक्तपाठ में भी हेरफेर किया है । अस्तु, आप उसे अवश्य ध्यान से देखिये । उससे भी उत्तम पाठ भोज महाशय का है । यथा—वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम् । जंघयोः कण्डराः प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥ कुर्वन्ति ग्रन्थितांस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः । तान् दोषानूर्ध्वगो वक्षःकक्षमन्यागलाश्रितः ॥ नानाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा त्वपची मता । तां तु मालाकृतिं विद्यात्कण्ठहृद्धनुसन्धिषु । गण्डमालां विजानीयादपचीतुल्यलक्षणम् ।

कालानुबन्धं चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।
साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः' ॥

अर्थ—यह गिलटियाँ एक साथ कोई पक रही हैं, कोई पक कर बह रही हैं, कोई बहकर अच्छी हो रही हैं तो कोई उत्पन्न भी हो रही है, बस इसी प्रकार चिरकाल तक यही क्रम रहता है । इसी को "अपची" भी कहा जाता है । यह साध्य (कृच्छ्रसाध्य) होती हैं; किन्तु पीनस, पार्श्वशूल (फुफ्फुसशूल), कालज्वर एवं वमन से युक्त अपची असाध्य हो जाती है ।

ग्रन्थिरोगस्य निदानम् ।

वातादयो मांसमसृक् प्रदुष्टाः संदूष्य मेदश्च तथा सिराश्च ।
वृत्तोन्नतं विग्रथितं[२] च शोथं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥११॥

सु० नि० अ० ११

अर्थ—वायु आदि दोष दुष्ट होकर मांस, रक्त, मेदा एवं सिराओं को दूषित कर गोल, ऊँचे एवं कड़े शोथ (एक स्थान में फोड़े के समान) को उत्पन्न कर देते हैं । इसे गोल, उन्नत एवं ग्रथित होने के कारण "ग्रन्थि" कहा जाता है ।

वातजग्रन्थेर्लक्षणानि ।

आयम्यते वृश्च्यति तुद्यते च प्रत्यस्यते मथ्यति भिद्यते च ।
कृष्णो मृदुर्बस्तिरिवाततश्च भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥१२॥

सु० नि० अ० ११

अर्थ—वायु की ग्रन्थि खींचने की-सी, बिच्छू के काटने की-सी, सूई चुभाने की-सी, पीटने की-सी, मथने की-सी एवं फाड़ने की-सी विविध प्रकार की वेदनाओं से युक्त, काली, कोमल, वायु से पूर्ण, चमड़े या रबड़ की थैली के समान तनी हुई होती है । जब यह फूटती है तो इसमें से स्वच्छ गहरा लाल रक्त निकलता है ।

१—इन लक्षणों को देखकर पाश्चात्य चिकित्सक इसे यक्ष्मा ही मान लेते हैं । अस्तु ।

२—इसे बिना मुँह का फोड़ा भी कहा जाता है ।

पित्तजग्रन्थेर्लक्षणानि ।

दन्दह्यते धूप्यति चूश्च्यते च पापच्यते प्रज्वलतीव चापि ।
रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ताद्भिन्नः स्रवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥१३॥

सु० नि० अ० ११

अर्थ—पित्त की ग्रन्थि अत्यन्त दाह से युक्त होती है, उसमें धूआँ या वाष्प निकलती है (सम्भव है सूक्ष्मदर्शकयन्त्र से दिखाई पड़ता हो), बिच्छू के काटने की-सी पीड़ा से युक्त होती है, अत्यन्त पक जाती है एवं जलने की-सी पीड़ा से युक्त होती है। यह लाल अथवा कुछ पीली होती है। जब यह फूटती है तो अत्यन्त गर्म गहरा लाल रक्त निकलता है।

कफजग्रन्थेर्लक्षणानि ।

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डूः पाषाणवत् संहननोपपन्नः ।
चिराभिवृद्धिश्च कफप्रकोपाद्भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम् ॥ १४ ॥

सु० नि० अ० ११

अर्थ—कफ की ग्रन्थि ठण्ढी, शरीर के समान वर्णवाली, थोड़ी पीड़ा एवं भीषण कण्डू से युक्त, पत्थर के समान कठोरता युक्त, एवं चिरकाल (महीनों) में बढ़ने वाली होती है। यह जब फूटती है तो श्वेत तथा गाढ़ी पीब निकलती है।

मेदोजग्रन्थेर्लक्षणानि ।

शरीर-वृद्धि-क्षय-वृद्धि-हानिः स्निग्धो महान् कण्डुयुतोऽरुजश्च ।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्ने पिण्याक-सर्पिःप्रतिमं तु मेदः ॥१५॥

सु० नि० अ० ११

अर्थ—मेदादुष्टि जनित ग्रन्थि शरीर के घटने-बढ़ने के साथ-साथ घटने-बढ़नेवाली, चिकनी, अन्यान्य ग्रन्थियों की अपेक्षा बड़ी, खुजली एवं थोड़ी पीड़ा से युक्त होती है। जब यह फूटती है तो इसमें से तिल-कुट या तिलों के दरदरे चूर्ण एवं जमे हुए घी जैसी मेद निकलती है।

सिराजग्रन्थेर्लक्षणानि ।

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुस्तु सिराप्रतानम् ।

संकुच्य संपीड्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात्सरुजश्चलश्च ।
स चारुजश्चाप्यचलो महांश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥ १७ ॥
सु० नि० अ० ११

अर्थ—उन प्रसिद्ध (मुष्टिप्रहारादि या मुष्टियुद्ध) व्यायामों से कुपित वायु दुर्बल मनुष्य के सिराजाल को इकट्ठा कर, संकुचित कर या सिकोड़ कर तथा सुखा कर ऊँची एवं गोल ग्रन्थि को शीघ्र ही (१-२ सप्ताहों में) उत्पन्न कर देता है। इसे "सिराज" ग्रन्थि कहा जाता है। यदि यह पीड़ायुक्त एवं चल अर्थात् अपने स्थान से थोड़ा इधर-उधर हटनेवाली हो तो यह कृच्छ्रसाध्य होती है और यदि सर्वथा पीड़ारहित, अचल, बड़ी अथवा मर्मस्थानों में हो तो असाध्य (सद्योमारक नहीं) होती है।

अथार्बुदरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः संमूर्च्छिता मांसमसृक्प्रदूष्य ।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम् ॥ १८ ॥
कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ।

अर्थ—शरीर के किसी भाग में वातादि दोष कुपित होकर मांस एवं रक्त को दूषित करके गोल, स्थायी, थोड़ी पीड़ायुक्त, बड़ा, चौड़ी मूल-वाला, चिर (वर्षों में) से बढ़नेवाला, कदापि न पकनेवाला एवं अत्यन्त गहरे मूलवाला मांसोच्छ्रय (मांसपिण्ड) कर देते हैं; इन्हें शास्त्रवेत्ता विद्वान् "अर्बुद" या रसौती कहते हैं।

वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा वा ॥ १९ ॥
तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि तदा भवन्ति ।
सु० नि० अ० ११

अर्थ—(यह अर्बुद छः प्रकार का होता है)—वात से, पित्त से, कफ से, रक्त से, मांस से एवं मेदा से यह अर्बुद उत्पन्न होता है और इस के लक्षण सदैव या सर्वथा ग्रन्थि के समान रक्तज एवं मांसज अर्बुद के अतिरिक्त होते हैं।

रक्तार्बुदस्य लक्षणानि ।

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं सिराश्च संकुच्य संपीड्य ततस्त्वपाकम् ॥२०॥
सास्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं मांसाङ्कुरैराचितमाशु वृद्धम् ।
करोत्यजस्रं रुधिरप्रवृत्तिमसाध्यमेतद्रुधिरात्मकं तु ॥ २१ ॥
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात् पाण्डुर्भवेदर्बुदपीडितस्तु ।

सु० नि० अ० ११

अर्थ—अत्यन्त दुष्ट (वातादि) दोष रक्त को दूषित कर तथा सिराओं को सिकोड़ कर एवं इकट्ठी करके (पिंडी भूत करके) पाक रहित; किन्तु स्रावयुक्त, पिण्ड को उत्पन्न कर देता है। इस पर मांसांकुर निकल आते हैं और यह शीघ्र ही बढ़ भी जाता है तथा इस में से निरन्तर रक्त निकलता रहता है। यह "रक्तजअर्बुद" है और असाध्य होता है। रक्तक्षय से होने वाले उपद्रवों से पीड़ित होने के कारण इस अर्बुद का रोगी श्वेतवर्ण हो जाता है या पाण्डुरोगी।

मांसार्बुदस्य सम्प्राप्तिः ।

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे मांसं प्रदुष्टं जनयेद्धि शोथम् ॥ २२ ॥
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम् ।
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मांसपरायणस्य ॥ २३ ॥
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तम्,— सु० नि० अ० ११

अर्थ—मुष्टि या मुक्के के प्रहार द्वारा किसी अंग में चोट आ जाने से मांस दूषित होकर शोथ कर देता है। यह शोथ वेदनारहित, चिकना, शरीर के समान वर्णवाला, पाकरहित, पत्थर के समान कठोर एवं अपने ही स्थान में स्थायी होता है और अधिक मांस खाने से दूषित मांसवाले मनुष्य को भी यह अर्बुद हो जाता है। यह "मांसार्बुद" असाध्य कहा गया है।

अथार्बुदरोगस्य साध्यासाध्यविचारः ।

—साध्येष्वपीमानि तु वर्जयेच्च ।

सम्प्रस्नुतं मर्मणि यच्च जातं स्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम् ॥२४॥

सु० नि० अ० ११

अर्थ—साध्य (वात-पित्त-कफ एवं मेदा के) अर्बुदों में भी नीचे लिखे अर्बुदों को असाध्य जान कर त्याग देना चाहिये। यथा—जिस में से स्राव निकलता हो, जो मर्मस्थानों तथा स्रोतों में उत्पन्न हुआ हो अथवा अत्यन्त कठोर या स्थिर हो।

अध्यर्बुदरोगस्य लक्षणम्।

यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः।

यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥२५॥

सु० नि० अ० ११

अर्थ—जो एक अर्बुद पर दूसरा अर्बुद हो जाता है, उसे "अध्यर्बुद" जानना चाहिये और जो साथ-साथ अथवा आगे पीछे अर्बुदों का जोड़ा उत्पन्न हो जाता है उसे "द्विरर्बुद" कहते हैं। यह असाध्य होता है।

अथार्बुदस्यापाके कारणानि।

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्मेदोबहुत्वाच्च विशेषतस्तु।

दोषस्थिरत्वाद्ग्रथनाच्च तेषां सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु॥ २६ ॥

सु० नि० अ० ११

अर्थ—कफ की अधिकता से और विशेषतः मेद-बाहुल्य के कारण अथवा दोषों के स्थिर तथा ग्रथित होने के कारण अथवा प्राकृतिक समय के कारण सभी अर्बुद पाक को प्राप्त नहीं होते[1]।

श्लीपदनिदानम्।[2]

श्लीपदरोगस्य सम्प्राप्तिः।

यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।

१—अर्बुदों के न पकने का वास्तविक कारण निसर्ग या स्वभाव या प्राकृतिक नियम ही है। क्योंकि कफमेदोऽधिक अपची तथा स्थिर एवं ग्रथितदोषोंयुक्त ग्रन्थि का पाक हो ही जाता है।

२—यह रोग भी प्रायः उष्ण एवं आर्द्र देशों में ही अधिक होता है। पञ्जाब

तच्छ्लीपदं स्यात् कर-कर्ण-नेत्रशिश्नौष्ठ-नासास्वपि केचिदाहुः ॥१॥

अर्थ—जो अत्यन्त पीड़ा (या मन्द पीड़ा) से युक्त शोथ वंक्षण या कूल्हे में उत्पन्न होकर धीरे २ (महीनों में) रोगी के पैर में आ जाता है और जिसके साथ २ पांच-सात, दस-बीस दिनों बाद ज्वर आ जाया करता है उसे "श्लीपद" या "फीलपांव" या "हाथी पांव" कहा जाता है। कोई २ आचार्य हाथ, कान, नेत्र, लिंग या भगोष्ठों, ओठ एवं नाक में भी इस रोग का होना मानते हैं[1]।

वातजश्लीपदस्य लक्षणम्।

वातजं कृष्णरूक्षं च स्फुटितं तीव्रवेदनम्।
अनिमित्तरुजं तस्य बहुशो ज्वर एव च ॥ २ ॥
पित्तजं पीतसंकाशं दाह-ज्वरयुतं मृदु।
श्लैष्मिकं स्निग्धवर्णं च श्वेतं पाण्डु गुरु स्थिरम् ॥ ३ ॥

अर्थ—वायु का श्लीपद काला और रूक्ष होता है, उस स्थान की त्वचा में चीघें (चीरें) पड़ जाती हैं तथा भीषण वेदना होती है। विना कारण पीड़ा होती रहती है एवं बार २ ज्वर हो जाता है। पित्त का श्लीपद पीला-सा होता है, दाह एवं ज्वरसे युक्त तथा कोमल होता है। कफ का श्लीपद चिकना, श्वेत या पीलापन लिये श्वेत, भारी एवं उपर्युक्त श्लीपदों की अपेक्षा स्थायी अथवा कड़ा होता है।

अथैषामसाध्यत्वम्।

वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते।
अब्दात्मकं महत्तच्च वर्जनीयं विशेषतः ॥ ४ ॥

अर्थ—सांप की बाम्बी या बिरयी के शिखरों के समान कण्टकों

जैसे देशों में ढूढ़ने पर भी एक रोगी मिलना कठिन है। शरीर भर की धातुएं उक्त स्थानों में धीरे धीरे इकट्ठी होती हैं।

1—इन स्थानों के अतिरिक्त आधुनिक शल्यचिकित्सक (डाक्टर) भी अण्डकोष, स्तन एवं भगोष्ठों पर भी मानते हैं।

या अंकुरों से व्याप्त, एक वर्ष पुराना एवं बहुत बड़ा श्लीपद सर्वथा असाध्य होता है (सद्योमारक नहीं है) ।

श्लीपदेषु कफस्य प्राधान्यम् ।

त्रीण्यप्येतानि जानीयात् श्लीपदानि कफोच्छ्रयात् ।
गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति कफं विना ॥५॥ सु०नि०अ०१२

अर्थ—उपर्युक्त तीनों श्लीपद कफकी अधिकता से होते हैं । क्योंकि भारीपन तथा मोटापन कफ के बिना कदापि नहीं हो सकता ।

श्लीपदरोगस्योत्पत्तौ देशविशेषः ।

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः ।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥ ६ ॥ सु०नि०अ०१२

अर्थ—जिन देशों में पुराना जल संचित रहता है अथवा जहां सब ऋतुएं ठण्ढी रहती हैं, उन्हीं देशोंमें विशेषरूप से श्लीपद रोग होता है ।

श्लीपदरोगस्य पुनरप्यसाध्यलक्षणम् ।

यच्छ्लेष्मलाहारविहारजातं पुंसः प्रकृत्याऽपि कफात्मकस्य ।
सास्रावमत्युन्नतसर्वलिङ्गं सकण्डुरं श्लेष्मयुतं विवर्ज्यम् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो कफकारक आहार-विहारों से उत्पन्न हुआ हो तथा कफ की प्रकृतिवाले पुरुष को हो अथवा स्रावयुक्त, बहुत बड़ा, तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त, खुलजी से युक्त अथवा केवल कफ से ही उत्पन्न हुआ हो, वह असाध्य होने के कारण त्याज्य होता है ।

विद्रधिनिदानम्[1] ।

त्वग्-रक्त-मांस-मेदांसि संदूष्यास्थिसमाश्रिताः ।
दोषाः शोथं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम् ॥ १ ॥

१—यह बड़ा भयानक फोड़ा है । गहरा होने के कारण महीनों तक लेपादि क्रिया सफल नहीं होती; किन्तु भीतर से पक जाता है । अतएव चीरा देना पड़ता है और इससे लाभ भी शीघ्र होता है ।

महामूलं रुजावन्तं वृत्तं वाऽप्यथवाऽऽयतम् ।
स विद्रधिरिति ख्यातो—

अर्थ—अस्थि में अत्यन्त कुपित वातादि दोष त्वचा, रक्त, मांस एवं मेदा को अत्यन्त दूषित कर धीरे २ भीषण शोथ (एक देशीय व्रणशोथ के समान) को उत्पन्न कर देते हैं। यह शोथ गहरी जलन (अस्थिपर्यन्त) वाली, अत्यन्त पीड़ायुक्त, गोल अथवा लम्बी होती है। यह "विद्रधि" नाम से प्रसिद्ध है।

—विज्ञेयः षड्विधश्च सः ॥ २ ॥
पृथग्दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा ।
षण्णामपि हि तेषां तु लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥३॥ सु० नि० अ० ६

अर्थ—यह "विद्रधि" छः प्रकार की होती है। यथा—वात से, पित्त से, कफ से क्षत से तथा रक्त[1] से इन छओं के लक्षण आगे कहे जायँगे।

वातजविद्रधेर्लक्षणानि ।

कृष्णोऽरुणो वा विषमो भृशमत्यर्थवेदनः ।
चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसंभवः ॥४॥ सु० नि० अ० ९

अर्थ—काली अथवा कालापन लिये लाल, कहीं से ऊंची, तो कहीं से नीची, अत्यन्त वेदना से युक्त तथा विचित्र ढंग से उठने एवं पकने वाली वातज "विद्रधि" होती है।

पित्तजविद्रधेर्लक्षणानि ।

पक्वोदुम्बरसंकाशः श्यावो वा ज्वरदाहवान् ।

१—महर्षि भोज आदि रक्त शब्द का अर्थ रक्त धातु के अतिरिक्त "रज" भी कहते हैं और प्रसूता स्त्री अथवा अप्रसूता के गर्भाशय में रक्त अथवा रज के रुक जाने से विद्रधि का होना मानते हैं और उसका नाम "मकल्ल विद्रधि" बतलाते है। महर्षि सुश्रुत ने दोनों को एक ही "रक्त-विद्रधि" मान लिया है। अस्तु
(म० को०)

क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसंभवः ॥५॥ सु० नि० अ० ९

अर्थ—पके गूलरफल की सी पीली, लाल अथवा काली, ज्वर एवं दाह से युक्त तथा शीघ्र उठने एवं पकनेवाली पित्तज "विद्रधि" होती है।

कफजविद्रधेर्लक्षणानि।

शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्निग्धोऽल्पवेदनः।

चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः कफसंभवः ॥६॥सु० नि० अ० ९

अर्थ—सिकोहे के समान उभारदार अथवा गहेदार, श्वेत, ठण्ढी (स्पर्श से ज्ञात हो सकता है या रोगी से पूछने से पता लग सकता है), चिकनी, थोड़ी वेदना से युक्त तथा चिरकाल (१-२ सप्ताह) से उठने एवं (४-५ सप्ताह में) पकनेवाली कफज "विद्रधि" होती है।

पाकानन्तरं सञ्जातास्रावस्य लक्षणम्।

तनु-पीत-सिताश्चैषामास्रावाः क्रमशः स्मृताः। सु० नि० अ० ९

अर्थ—पकने पर उपर्युक्त विद्रधियों के स्राव इस प्रकार के होते हैं। यथा—वात-विद्रधि का स्राव पतला या थोड़ा, पित्त-विद्रधि का पीला एवं कफ-विद्रधि का श्वेत होता है।

सान्निपातिकविद्रधेर्लक्षणानि।

नाना-वर्ण-रुजा-स्रावो घाटालो विषमो महान् ॥ ७ ॥

विषमं पच्यते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः। सु० नि० अ० ९

अर्थ—नाना प्रकार के (दोषानुसार) वर्णों, पीड़ाओं एवं स्रावों से युक्त, घाटीदार अर्थात् अत्यन्त ऊँची, विषम—कहीं से ऊंची, तो कहीं से नीची, अत्यन्त बड़ी (चौड़ाई में) तथा विषम ढंग से पकनेवाली अर्थात् कहीं से पक जाती है तो कहीं से कच्ची रहती है। कहीं गहरे पकती है तो कहीं ऊपर-ऊपर से। यह सन्निपातज "विद्रधि" होती है।

अथाभिघातजविद्रधेर्लक्षणानि।

तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यकारिणः ॥ ८ ॥

क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत्।

ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः ॥ ६ ॥
आगन्तुर्विद्रधिर्ह्येष पित्तविद्रधिलक्षणः । सु० नि० अ० ६

अर्थ—लकड़ी-पत्थर आदि के द्वारा चोट लगने अथवा घाव हो जाने पर भी अपथ्य-सेवी मनुष्य के उस (चोट खाये हुए) स्थानकी उष्मा या गर्मी वायु की सहायता से फैलकर रक्तयुक्त पित्त को (जो आहत स्थान पर एकत्रित होता है) दूषित कर देता है। उस रोगी को ज्वर, प्यास एवं दाह उत्पन्न हो जाती है। वह आगन्तुक या क्षतजनित "विद्रधि" कही जाती है। इसमें पित्त के लक्षण पाए जाते हैं।

रक्तजविद्रधेर्लक्षणानि।

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्र-दाह-रुजाकरः ॥१०॥
पित्तविद्रधिलिङ्गस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते। सु० नि० अ० ६

अर्थ—काले फफोलों से व्याप्त, काली, भीषण दाह एवं पीड़ा करनेवाली तथा पित्तविद्रधि के लक्षणों से युक्त रक्तज "विद्रधि" होती है।

अन्तर्विद्रधि—[1]

पृथक् संभूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम् ॥११॥
वल्मीकवत् समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम्।
गुदे वस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा ॥ १२ ॥
वृक्कयोः प्लीह्नि यकृति हृदि वा क्लोम्नि वाऽप्यथ।
तेषामुक्तानि लिङ्गानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥ १३ ॥

अर्थ—वातादि दोष कुपित होकर अकेले २ अथवा सब मिलकर गुल्म जैसे (पहिले) तथा (कुछ कालबाद) बांबी के समान (शिखराकृति) एवं कठोर "अंतर्विद्रधि" को निम्नलिखित स्थानों में कर देते हैं। वे स्थान यह हैं—गुद (वलियाँ) वस्ति या मूत्राशय का मुख, नाभि, कुक्षि (आमाशय एवं गर्भाशय), वंक्षण (कुल्हे), वृक्क (गुरदे), प्लीहा, यकृत्,

1—यह फोड़ा भीतरी अवयवों में होता है।

हृदय तथा क्लोम। इन विद्रधियों के लक्षण (स्रावादि) बाहर की विद्रधियों के ही लक्षणों के समान होते हैं।

अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गं शृणु विशेषतः।
गुदे वातनिरोधश्च बस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ॥ १४ ॥
नाभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम्।
कटी-पृष्ठ-ग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे तु विद्रधौ ॥ १५ ॥
वृक्कयोः पार्श्वसंकोचः प्लीह्न्युच्छ्वासावरोधनम्।
सर्वाङ्गप्रग्रहस्तीव्रो हृदि कासश्च जायते।
श्वासो यकृति हिक्का च क्लोम्नि पेपीयते पयः ॥१६॥ सु० नि० अ० ९

अर्थ—स्थान के भेद से इनके विशिष्ट लक्षणों को सुनिये—गुद विद्रधि से अधोवायु का निरोध, वस्ति में विद्रधि होने से कड़क के साथ थोड़ा मूत्र, नाभि में होने से हिक्का एवं उदर का गुड़गुड़ाना, कुक्षि में होने से वायु का कोप, वंक्षण में होने से कमर एवं पीठ में भीषण जकड़न, वृक्क में होने से पार्श्वों की सिकुड़न, प्लीहा में होने से सांस लेने में कष्ट, हृदय में होने से सम्पूर्ण शरीर का बुरी तरह जकड़ या अकड़ जाना एवं खांसी, यकृत् में होने से श्वास एवं हिक्का तथा क्लोम में होने से अधिक पानी पीना। यह लक्षण होते हैं।

विद्रधीनां स्रावमार्गाः, साध्यासाध्यत्वं च।

नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः।
अधःस्रुतेषु जीवेत्तु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति ॥ १७ ॥
[विद्रधिर्नाभिसञ्जातः स्रवत्यूर्ध्वमधोऽपि च।]
हृन्-नाभि-बस्ति-वर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः।
जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥१८॥ सु० नि० अ० ९

अर्थ—नाभि से ऊपर (गुदा तथा वस्ति के अतिरिक्त सब) होनेवाली विद्रधि जब पकती है, तो उसका मवाद मुख-मार्ग से तथा नाभि के नीचेवाली विद्रधियों का मवाद नीचे अर्थात् गुदमार्ग एवं मूत्रमार्ग से

निकलता है। अधःस्रावी विद्रधियों में कदाचित् रोगी बच जाता है; किन्तु ऊर्ध्व स्राविर्यों में नहीं बचता। हृदय, नाभि एवं वस्ति के अन्यान्य स्थानों की विद्रधि यदि बाहर की ओर फूटती है तो किसी प्रकार रोगी मृत्यु से बच जाता है; किन्तु हृदय, नाभि तथा वस्ति की विद्रधि भले ही बाहर की ओर फूटे, तो भी रोगी मर ही जाता है।

साध्या विद्रधयः पञ्च विवर्ज्यः सान्निपातिकः।
आम-पक्व-विदग्धत्वं तेषां शोथवदादिशेत् ॥ १९ ॥ वा० नि० अ० ११

अर्थ—बाह्य अथवा अन्तर्विद्रधियों में से पाँच साध्य तथा सन्निपातज असाध्य होती है। इनकी पकापक तथा पच्यमानावस्था व्रणशोथ के ही समान होती है।

आध्मातं बद्धनिष्यन्दं छर्दि-हिक्का-तृषा-ऽन्वितम्।
रुजा-श्वास-समायुक्तं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥ २० ॥ सु० सू० अ० ३३

अर्थ—फूला हुआ, जिसका स्राव रुक गया हो, कै, हिचकी तथा प्यास से युक्त और पीड़ा एवं श्वास से युक्त "विद्रधि" रोगी को मार डालती है।

व्रणशोथनिदानम्[1]

व्रणशोथस्य लक्षणम्।

एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम्।
षड्विधिः स्यात् पृथक्-सर्व-रक्ता-ऽऽगन्तु-निमित्त-जः ॥१॥
शोथाः षडेते विज्ञेयाः प्रागुक्तैः शोथलक्षणैः।
विशेषः कथ्यते चैषां पक्वापक्वादिनिश्चये ॥ २ ॥

अर्थ—एक स्थान में जो शोथ[2] (जिसे फोड़ा कहा जाता है) हो

१—इस प्रकरण में सुश्रुत के आमपक्वैषणीयाध्याय का अनुवाद करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु बहुत-सी बातें माधवजी ने छोड़ दी हैं। अतएव यह प्रकरण पढ़ते समय सुश्रुत का उक्त अध्याय अवश्यमेव देख लेना चाहिये।

२—व्रणाय शोथः व्रणशोथः इति चतुर्थी तत्पुरुषः।

जाता है, व्रण (घाव) का पूर्वरूप होता है। वह वात, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्त एवं आगन्तुक (मुक्का पाषाण आदि का अभिघात) कारणों से उत्पन्न होने के कारण छः प्रकार का होता है। इन छओं के लक्षण वे होते है, जो पहिले शोथ के लक्षण (शोथाधिकार में) कहे जा चुके हैं; किन्तु इनकी पकता अपकता तथा पच्यमानता का निश्चय करने के लिये विशिष्ट लक्षण (इस प्रकरण में) कहे जाते हैं।

व्रणशोथस्य वातादिभेदेन विशेषलक्षणानि।

विषमं पच्यते वातात् पित्तोत्थश्चाचिराच्चिरम्।
कफजः पित्तवच्छोथो रक्तागन्तुसमुद्भवः ॥ ३ ॥

अर्थ—वायु का व्रणशोथ विलक्षण ढंग (कहीं से पका कहीं से कच्चा) से, पित्त व्रणशोथ शीघ्र, कफ का देर में तथा-रक्तज एवं आगन्तुक व्रण-शोथ पित्तजशोथ के समान अर्थात् शीघ्र ही पकता है।

अथामव्रणशोथस्य लक्षणानि।

मन्दोष्मताऽल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता।
मन्दवेदनता चैतच्छोथानामामलक्षणम् ॥ ४ ॥

अर्थ—यदि व्रणशोथ में दाह अत्यन्त थोड़ा हो, सूजन भी थोड़ी ही हो, कड़ापन हो उस स्थान की त्वचा शरीर के ही वर्ण वाली हो अर्थात् उसके वर्ण में कुछ परिवर्तन न हुआ हो तथा वेदना भी थोड़ी ही हो तो समझना चाहिये कि अभी व्रणशोथ[1] (फोड़ा) कच्चा है।

पच्यमानशोथस्य लक्षणानि।

दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते।

यद्यपि व्रण होने के लिये इस प्रकार का शोथ होना आवश्यक है; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इससे व्रण अवश्य ही हो। यह फोडा नाम से प्रसिद्ध जो शोथ होता है, वह त्वचा एवं मांस में ही होता है

१—इस अवस्था में विम्लापनादि क्रिया करने से फोड़ा बैठ जा सकता है। किन्तु यदि यह खाने एवं लगाने की ओषधियों से दोषों की अधिकता के कारण शान्त न किया जा सके तो पच्यमानावस्था आरम्भ हो जाती है।

पिपीलिकागणेनेव दश्यते छिद्यते तथा ॥ ५ ॥
भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते ।
पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते ॥ ६ ॥
सोषाचोषो विवर्णः स्यादङ्गुल्येवावघट्यते ।
आसने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्धवत् ॥ ७ ॥
न गच्छेदाततः शोथो भवेदाध्मातबस्तिवत् ।
ज्वरस्तृष्णाऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थ—जब रोगी व्रणशोथ में अग्निद्वारा जलने, क्षारद्वारा पकने, हजारों लाखों चीटियों द्वारा एक साथ काटने, शस्त्रद्वारा छेदने तथा फाड़ने, दण्डेद्वारा पीटने, हाँथों से मसलने एवं सुइयों से बींधने आदि अनेक प्रकार की पीड़ाओं का अनुभव करता है, भीतरी दाह एवं चीस या टीस पड़ती है, अंगुलियों के दबाने की सी पीड़ा होती है, बिच्छु के डसे मनुष्य के समान न बैठने, न लेटने तथा न खड़े रहने में ही रोगी को सुख मिलता है, शोथ फूली हुइ बस्ति के समान तथा रोगी को ज्वर, प्यास एवं भोजन में अरुचि होती है। तो जानना चाहिये कि फोड़ा पक रहा है।

परिपक्वव्रणशोथस्य लक्षणानि ।

वेदनोपशमः शोथोऽलोहितोऽल्पो न चोन्नतः ।
प्रादुर्भावो वलीनां च तोदः कण्डूर्मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥
उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम् ।
बस्ताविवाम्बुसंचारः स्याच्छोथेऽङ्गुलिपीडिते ॥ १० ॥
पूयस्य पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडिते ।
भक्ताकाङ्क्षा भवेच्चैतच्छोथानां पक्वलक्षणम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जब पच्यमान व्रणशोथ की सभी वेदनाएँ कुछ शान्त हो जायँ, शोथ पर लाली न रह जाय और वह दब जाय, उँचाई भी घट जाय, सिकुड़न (झुर्रियाँ) पड़ जाय, सुई चुभाने की वेदना तथा बार २ खुजली

चलने लगे, ज्वर, तृष्णा आदि उपद्रव (जो कि पच्यमान में कहे गये हैं) शान्त हो जायँ और त्वचा स्वयं फट जाय अर्थात् मवाद बहने लग जाय[1] और अँगुली से दबाने पर फोड़े के भीतर पीव का सञ्चार ऐसे होता है; जैसे मशक में पानी का तथा एक ओर दबाने से पीव दूसरी ओर जाकर टकराती है और इस दशा में रोगी को पीड़ा का अनुभव होता[2] है तथा जब रोगी को भोजन करने की इच्छा होने लगती है तो समझना चाहिये कि अब फोड़ा पक गया है।

पाककाले दोषाणां सम्बन्धः।

नर्तेऽनिलाद्रुङ् न विना च पित्तं पाकः कफं चापि विना न पूयः।
तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले पचन्ति शोथांस्त्रय एव दोषाः॥ १२॥

सु० सू० अ० १७

अर्थ—वायु के विना किसी भी प्रकार की वेदना नहीं हो सकती, पित्त के विना पाक नहीं हो सकता एवं कफ के विना पूय या पीव नहीं बन सकती, अतएव पकने के समय फोड़ों को तीनों दोष पकाते हैं।[3]

निःशेषानिःसृतस्य पूयस्य दोषः।

कक्षं समासाद्य यथैव वह्निर्वाय्वीरितः संदहति प्रसह्य।
तथैव पूयो ह्यविनिःसृतो हि मांसं सिराः स्नायु च खादतीह॥१३॥

सु० सू० अ० १७

अर्थ—जैसे वायु से प्रेरित होकर अग्नि घास को जोरों से जला देती है, बस ठीक इसी प्रकार फोड़ा का पीव भी यदि न निकाला जाय तो

१—यह लक्षण वहाँ के फोड़ों में होता है जहां की त्वचा पतली एवं कोमल होती है; क्योंकि उसको चीरने की आवश्यकता नहीं पड़ती वह स्वयं फट जाती है।

२—यह लक्षण वहीं के फोड़ों में पाया जाता है जहां की त्वचा मोटी एवं कठोर होती है वह स्वयं नहीं फटती; अपितु चीरा लगाना पड़ता है।

३—कुछ महर्षियों का विचार इससे भिन्न है। उनका कहना है कि—कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य। पचत्यतः शोणितमेषपाको अतः परेषां विदुषां द्वितीयः॥ पित्त रक्त को पका देता है बस वही "पूय" बन जाता है।

मांस-सिरा एवं स्नायु को खा जाता है, अर्थात् नष्ट कर देता है।[1]

व्रणस्यामपक्वादिज्ञानाज्ञाने गुणदोषौ।

आमं विदह्यमानं च सम्यक् पक्वं च यो भिषक्।
जानीयात् स भवेद् वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः ॥ १४ ॥
यश्छिनत्त्याममज्ञानाद् यो वा पक्वमुपेक्षते।
श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥१५॥ सु० सू० अ० १७

अर्थ—जो चिकित्सक कच्चे, चकरदे एवं पके फोड़े को ठीक२ समझता है, वही "वैद्य" कहलाने का अधिकारी है। शेष चिकित्सक चोर हैं, और जो चिकित्सक कच्चे फोड़े को चीर डालता है अथवा जो पके फोड़े की उपेक्षा करता है अर्थात् उसमें चीरा नहीं लगाता वे दोनों चाण्डाल के समान हैं; क्योंकि वे ठीक चिकित्सा नहीं जानते।[2]

शारीरव्रणनिदानम्।[3]

व्रणस्य भेदाः।

द्विधा व्रणः स विज्ञेयः शारीरागन्तुभेदतः।
दोषैराद्यस्तयोरन्यः शस्त्रादिक्षतसंभवः ॥ १ ॥

अर्थ—व्रण या घाव दो प्रकार का होता है १-शारीर २-आगन्तुक। इन दोनों में पहिला वातादि दोषों से एवं दूसरा शस्त्र, सींग तथा दांत आदि लगने से होता है।

१—इस कथन का तात्पर्य यह है कि यदि फोड़ा स्वयं फूटकर बह जाय तब तो ठीक और यदि न फूटे तो चीरा लगाना चाहिये तथा शोधन क्रिया भली प्रकार करनी चाहिये। यदि थोड़ा भी प्रमाद हुआ तो नासूर (नाड़ी व्रण) हो सकता है।

२—यह चिकित्सकों के लिये चेतावनी है, उन्हें चाहिये कि इन श्लोकों को सब रोगों की चिकित्सा करते समय स्मरण रखें।

३—शारीरिक दोषों (वातादि) द्वारा व्रणशोथ होकर जब घाव के रूप में परिणत हो जाता है तब उसके लक्षणों का विनिश्चय करने के लिए यह प्रकरण लिखा गया है।

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावो महारुजः ।
तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः ॥ २ ॥
तृष्णा-मोह-ज्वर-क्लेद-दाह-दुष्ट्यवदारणैः ।
व्रणं पित्तकृतं विद्याद् गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः ॥ ३ ॥
बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः ।
पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरपाकी कफव्रणः ॥ ४ ॥
रक्तो रक्तस्रुती रक्तात् द्वि-त्रि-जः स्यात्तदन्वयैः ।
च० चि० अ० १३

अर्थ—स्तब्ध अर्थात् हिलने-डुलने से व्रण में पीड़ा हो, उँगली से दबाने पर कठोर ज्ञात हो, स्राव थोड़ा निकलता हो, पीड़ा अधिक हो, व्यथा हो, कभी २ व्रण में फड़कन हो एवं व्रण का वर्ण कुछ काला हो तो समझना चाहिये कि "वातव्रण" है। प्यास, मोह, ज्वर, पन्छा, दाह, सड़न एवं अवदारण (व्रण का फटना) से युक्त व्रण हो तथा उसमें से दुर्गन्धयुक्त स्राव निकलता हो तो समझना चाहिये कि "पित्तज-व्रण" है। चिचिपाहट अधिक हो, पन्छा थोड़ा हो एवं पकने में अधिक समय लगे तो समझना चाहिये "कफजव्रण" है। व्रण लाल हो तथा उसमें से रक्त अथवा रक्तवर्ण का स्राव निकले तो "रक्तजव्रण" समझना चाहिये। दो अथवा तीन दोषों के उपर्युक्त लक्षण मिलने से "द्विदोषज" अथवा "त्रिदोषज व्रण" समझना चाहिये।

व्रणानां साध्यासाध्यत्वम् ।

त्वङ् मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः ॥ ५ ॥
धीमतोऽभिनवः काले सुखे साध्यः सुखं व्रणः ।
गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः ॥ ६ ॥
सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः । च० चि० अ० १३

अर्थ—केवल[1] त्वचा और मांस में होनेवाला, सुखकरदेश (अर्थात्

---

[1] विद्रधिका व्रण अस्थिपर्यन्त गहरा होता है। अतः यह लक्षण केवल त्वचा में

शरीर का वह देश जहाँ पर व्रण शीघ्र भर जाय तथा भूमि देश जैसे मरुदेश तथा राजपूताना का बीकानेर राज्य) में पच्चीस वर्ष से न्यून आयु वाले पुरुष का, उपद्रवों से रहित, बुद्धिमान् (पथ्यादि रखनेवाला) मनुष्य का, नवीन एवं सुखकर काल में (जैसे शीतऋतु में) हुआ व्रण सुखसाध्य होता है। उपर्युक्त लक्षणों में यदि न्यूनता हो तो व्रण कष्टसाध्य होता है। यदि सुखसाध्य के सभी लक्षण न पाये जायँ तथा बहुत-से उपद्रव भी हों तो व्रण "असाध्य" समझना चाहिये।

दुष्टव्रणस्य लक्षणम्।

पूतिः पूयातिदुष्टासृक्स्राव्युत्सङ्गी चिरस्थितिः ॥ ७ ॥

दुष्टो व्रणोऽतिगन्धादिः शुद्धलिङ्गविपर्ययः। च० चि० अ० १३

अर्थ—जिस व्रण में से दुर्गन्ध आती हो, पीव एवं अत्यन्त दूषित रक्त निकला करता हो, प्रकोटर या खोह से युक्त हो, चिरकाल तक (चिकित्सा करने पर भी) रहने वाला, विचित्र गन्धों से युक्त एवं निम्नलिखित शुद्धव्रण के लक्षणों से रहित "दुष्टव्रण" होता है।

शुद्धव्रणस्य लक्षणानि।

जिह्वातलाभोऽतिमृदुः श्लक्ष्णः स्निग्धोऽल्पवेदनः ॥ ८ ॥

सुव्यवस्थो निरास्रावः शुद्धो व्रण इति स्मृतः। च० चि० अ० १३

अर्थ—जीभ के समान वर्ण एवं अत्यन्त छोटे २ अंकुरों से युक्त, अत्यन्त कोमल, साफ, चिकना, थोड़ी वेदना से युक्त, कोटर आदि से रहित एवं दूषित स्राव से रहित "शुद्धव्रण" होता है।

रुह्यमाणव्रणस्य लक्षणानि।

कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ॥ ९ ॥

स्थिराश्च पिडकावन्तो रोहतीति तमादिशेत्। सु० सू० अ० २३

अर्थ—जिस व्रण का अन्तभाग या सीमा कबूतर के समान वर्ण (पाण्डु धूसर) से युक्त हो तथा क्लेदरहित, थोड़ा हिलने डुलने पर भी

होने वाली साधारण फुन्सियाँ और अधिक मांस में होनेवाले फोड़ों में ही लागू समझना चाहिये।

न फटनेवाला और छोटी २ पिड़का या अंकुरों से युक्त हो, उसे समझना चाहिये कि भर रहा है।

सम्यगूरूढस्य लक्षणानि ।

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम् ॥ १० ॥

त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् । सु० सू० अ० २३

अर्थ—व्रण का स्थान भली प्रकार भर गया हो, उसमें गाँठ, शोथ एवं किसी प्रकार की पीड़ा न हो, त्वचा के समान वर्ण हो और उसमें थोड़ी भी गहराई न हो तो समझना चाहिये कि व्रण ठीक २ भरा है।[1]

व्रणानां कृच्छ्रसाध्यत्वम् ।

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ॥ ११ ॥

व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः ।

वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः स्रवेत् ॥ १२ ॥

आगन्तुजो व्रणः सिद्ध्येन्न सिद्ध्येद्दोषसंभवः । सु० सू० अ० २३

अर्थ—[2]कोढ़ियों के, विषपीड़ितों के, शोथरोगियों के एवं मधुमेह के रोगियों के व्रण अथवा जिनके व्रणों में व्रण (फोड़े होकर) हो जाते हैं, उनके व्रण कठिनता से अच्छे होते हैं और जिस व्रण में से वसा, मेदा, मज्जा एवं मस्तुलुंग[3] (शिर के भीतर रहनेवाला मस्तिष्क द्रव्य जिसे मज्जा कहा जाता है) वह रहा हो वह व्रण यदि आगन्तुक है तो अच्छा हो सकता है, किन्तु यदि दोषज या शारीरिक है तो अच्छा नहीं होता।

१—इसके विपरीत रूढ़ भी "असम्यक् रूढ़" समझना चाहिये (भला विचारिये तो ऐसा क्यों ?)

२—तथा यक्ष्मा, मधुमेह एवं व्रणों से शक्तिहीन हो जाने के कारण ऐसा होता है ।

३—इन पांचों रोगियों के व्रणपूरक धातूपधातुओं के क्रमशः कुष्ठ से दूषित, विष से अर्द्धमृत, शुष्क एवं मूत्र के साथ बहने तथा दोषों की प्रबलता के कारण ऐसा होता है ।

व्रणानां गन्धविशेषेणासाध्यत्वम् ।

मद्यागुर्वाज्य-सुमनः पद्म-चन्दन-चम्पकैः ॥ १३ ॥
सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः ।

अर्थ—जिन रोगियों के व्रणों में से मद्य, अगरु, घी, चमेली, कमल, चन्दन एवं चम्पा-पुष्प के समान अथवा और भी किसी प्रकार की उत्तम गन्ध आ रही हो तो समझ लेना चाहिये कि वह रोगी मर जायगा ।

व्रणानामसाध्यलक्षणानि ।

ये च मर्मस्वसंभूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ॥ १४ ॥
दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिः शीताश्च ये व्रणाः ।
दह्यन्ते बहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ॥ १५ ॥
प्राण-मांस-क्षय-श्वास-कासा-ऽरोचक-पीडिताः ।
प्रवृद्ध-पूय-रुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ॥ १६ ॥
क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः ।
वर्जयेदपि तान् वैद्यः संरक्षन्नात्मनो यशः॥१७॥ सु० उ० अ० १९

अर्थ—जो व्रण मर्मस्थानों पर उत्पन्न न होकर भी भीषण वेदनाओं से युक्त हो अथवा जो भीतर से अत्यन्त दाहयुक्त एवं बाहर से ठण्डे हों अथवा जो बाहर से दाहयुक्त एवं भीतर से ठण्डे प्रतीत हों अथवा जो बल-मांस की हानि, श्वास, कास एवं अरुचि से युक्त हों तथा जिनमें से अत्यधिक पीव एवं रक्त निकलता हो अथवा जो मर्मस्थानों में हों, अथवा जो व्रण अच्छी से अच्छी चिकित्सा करने पर भी अच्छे न हुए हों; चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि अपनी कीर्त्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये ऐसे व्रणों की चिकित्सा न करे ।

सद्योव्रणनिदानम् ।[1]

अथागन्तुव्रणानां लक्षणानि ।

नानाधारमुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः ।

1—सद्यः अर्थात् सहसा या शीघ्र या तत्काल होनेवाला व्रण या घाव ।

भवन्ति नानाकृतयो व्रणास्तांस्तान्निबोध मे ॥ १ ॥
छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च ।
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥२॥ सु० चि० अ० २

अर्थ—भिन्न प्रकार की धार (जैसे तलवार की) तथा मुख वाले (जैई सुई, वाण, भाला आदि का) शस्त्रों के भिन्न २ स्थानों पर लगने से भिन्न२ प्रकार के व्रण या घाव हो जाते हैं; उनका विवरण मुझसे सुनो। वे व्रण नामों से छः प्रकार के होते हैं यथा—१-छिन्न, २-भिन्न, ३-विद्ध, ४-क्षत, ५-पिच्चित और ६-घृष्ट। इनके भिन्न २ लक्षण कहता हूँ।

छिन्नव्रणस्य लक्षणम्।

तिर्यक् छिन्न ऋजुर्वाऽपि यो व्रणस्त्वायतो भवेत् ।
गात्रस्य पातनं तद्धि छिन्नमित्यभिधीयते ॥३॥ सु० चि० अ० २

अर्थ—तिरछी अथवा सीधी काट के कारण जो व्रण विस्तृत होकर अङ्ग (अंगुली- बाजू आदि) को शरीर से पृथक् वा अलग कर देता है, उसे "छिन्नव्रण" कहा जाता है।

भिन्नव्रणस्य लक्षणम्।

शक्ति-दन्तेषु-खड्गाग्र-विषाणैराशयो हतः ।
यत् किंचित् प्रस्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ॥४॥ सु० चि० अ० २

अर्थ—बर्छी, दाँत (जैसे हाथी तथा सूअर का लम्बा तीखा दाँत), बाण, तलवार की नोंक एवं सींग (जैसे बैल की) के लगने से आशय (वस्ति मलाशय आदि) फट जाय और उसमें से कुछ (मूत्र-मल आदि) बाहर निकलने लग जाय, तो वह "भिन्न व्रण" कहा जाता है।

अथावयवविशेषाणां कोष्ठसंज्ञत्वम्।

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।
हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥

अर्थ—आम का स्थान "आमाशय" अग्नि का स्थान "अग्न्याशय", पक्व का स्थान "पक्वाशय", मूत्र का स्थान "मूत्राशय", रक्त का स्थान

"रक्ताशय", (यकृत्-प्लीहा) हृदय, उण्डुक तथा फुप्फुस यह सब "कोष्ठ" नाम से प्रसिद्ध हैं[1]।

तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते।
मूत्रमार्ग-गुदा-ऽऽस्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति ॥ ६ ॥
मूर्च्छा श्वासस्तृषाऽऽध्मानमभक्तच्छन्द एव च।
विण्-मूत्र-वात-सङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ॥ ७ ॥
लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च।
हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि—

अर्थ—इन कोष्ठों में कहीं से भी भेदन होने के कारण रक्त भर जाने से निम्न लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं—ज्वर, दाह; मूत्र मार्ग, गुद, मुख तथा नाक के रास्ते रक्त निकलता है, मूर्च्छा, श्वास, प्यास, अफरा, अरुचि, विष्ठा, मूत्र तथा वायु (अपान और उद्गार) का निरोध हो जाता है। पसीना आने लगता है, आँखें लाल हो जाती हैं। मुख में से तपाकर बुझाए हुए लोह की सी गन्ध आने लगती है तथा शरीर से दुर्गन्ध आती है: हृदय और पसलियों में शूल होता है[2]।

—विशेषं चात्र मे शृणु ॥ ८ ॥
आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयत्यपि।
आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ॥ ९ ॥
पक्वाशयगते चापि रुजा गौरवमेव च।

१—यह सब अंग जिसमें रहते हैं, उसे "मध्यकाय" या धड़ कहा जाता है। इसके फटते ही अंतड़ी और अवयव बाहर निकल आते हैं, इसे भी "भिन्न" ही कहना चाहिये।

२—इन लक्षणों से आप भिन्न २ कोष्ठों या अवयवों के भेदन का अनुमान कर सकते हैं, ध्यान से देखिये।

अधःकाये विशेषेण शीतता च भवेदिह ॥१०॥ सु० चि० अ० २

अर्थ—उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त निम्नलिखित स्थानों में भेद न होने से निम्नलिखित विशिष्ट लक्षण भी पाये जाते हैं—आमाशय में रक्त इकट्ठा होता है, तो रक्त की कै होती है। भयानक अफरा तथा अत्यन्त भीषण शूल होता है। यदि पक्काशय में रक्त इकट्ठा होता है, तो उसमें पीड़ा एवं भारीपन हो जाता है और आधा[1] शरीर (वस्ति से नीचे पैरों तक) विशेष रूप से शीतल हो जाता है।

विद्धव्रणस्य लक्षणम्।

सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयं विना।
उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्द विद्धमिति निर्दिशेत् ॥११॥ सु०चि०अ०२

अर्थ—आशयों के अतिरिक्त अङ्गों में जब कोई सूक्ष्म मुखवाला शल्य (जैसे सुई, काँटा या तीर) चुभकर टूट (थोड़ा बहुत शरीर में ही रह जाता है) जाता अथवा सर्वथा निकल जाता है, तो उस व्रण को "विद्ध" या "विंधना" कहना चाहिये।

क्षतव्रणस्य लक्षणम्।

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम्।
विषमं व्रणमङ्गे यत् तत्क्षतं त्वभिधीयते ॥ १२ ॥ सु० चि० अ० २

अर्थ—जिसमें न तो छिन्न के ही और न तो भिन्न के ही पूर्ण लक्षण हों; किन्तु दोनों के ही कुछ २ लक्षण मिलते हों, इस प्रकारका जो शरीर पर टेढ़ा-मेढ़ा व्रण हो जाता है, उसे "क्षत" कहा जाता[2] है।

१—शीतता चाप्यधोनाभेः स्वेभ्यो रक्तस्य चागमः सु० चि० अ० २ में यही पाठ है और यही उत्तम भी है।

२—अंग कटकर गिर भी नहीं जाता और कोई आशय भी नहीं फटता; किन्तु कटना कहा ही जाता है और उसमें से रक्त आदि निकलने के कारण फटना भी कहा जा सकता है; किन्तु व्रण का लक्षण न होने के कारण इसे "क्षत" कहते हैं, यह वही व्रण है जो चाकू छुरी आदि लगने से हो जाता है।

पिच्चितव्रणस्य लक्षणम् ।

प्रहारपीडनाभ्यां तु यदङ्गं पृथुतां गतम् ।

सास्थि तत् पिच्चितं विद्यात् मज्ज-रक्त-परिप्लुतम् ॥१३॥ सु० चि० अ० २

अर्थ—भारी पत्थर आदि के नीचे आ जाने से या वेलनी (कलवाढ़ी) में पिच जाने से जो अङ्ग हड्डी सहित चिपटा हो जाता है या पिचक जाता है और मज्जा तथा रक्त से लथपथ हो जाता है उसे "पिच्चित" कहा जाता है।

घृष्टव्रणस्य लक्षणम् ।

घर्षणादभिघाताद्वा यदङ्गं विगतत्वचम् ।

उषा-स्रावान्वितं तच्च घृष्टमित्यभिधीयते ॥ १४ ॥ सु० चि० अ० २

अर्थ—खरोंच लगने से अथवा रगड़ लगने से जब केवल त्वचामात्र छिल जाती है, उस स्थान में दाह होता है एवं पानी-सा (लसीका) निकल आता है, तो उसे "घृष्ट" कहते हैं।

सशल्यव्रणस्य लक्षणम् ।

श्यावं सशोथं पिडकाचितं च मुहुर्मुहुः शोणितवाहिनं च ।

मृदूद्गतं बुद्बुदतुल्यमांसं व्रणं सशल्यं सरुजं वदन्ति ॥१५॥

सु० सू० अ० २६

अर्थ—[1]किसी व्रण में जब भीतर शल्य रह जाता है तो निम्नलक्षण पाए जाते हैं—व्रण का स्थान काला, शोथयुक्त, छोटी २ फुन्सियों से व्याप्त होता है, उसमें से वार २ (अङ्ग हिलाने पर) रक्त निकला करता है, उस स्थान का मांस कोमल एवं बुद्बुद (बुलबुला) के समान ऊँचा हो जाता है तथा उसमें पीड़ा होती रहती है।

कोष्ठभेदस्य लक्षणम् ।

त्वचोऽतीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा ।

१—अन्तःस्थ शल्य की अपनी विशेषताओं के अनुसार थोड़े-बहुत लक्षण पाए जाते हैं, इन सब लक्षणों का होना आवश्यक नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिये कि आशयों के अतिरिक्त स्थानों में शल्ययुक्त व्रण के यह लक्षण हैं।

कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥१६॥ सु० चि० अ० २

अर्थ—जो शल्य त्वचाओं को पार कर सामने आनेवाली शिरा, स्नायु आदि को फाड़ कर अथवा इधर-उधर हट कर या उनके मध्य में से होकर कोष्ठ (आमाशयादि) में जाकर भीतर ही रह जाता है, वह उक्त (श्लो० ६-१० में कहे हुए) उपद्रवों को करता है।

अथासाध्यकोष्ठभेदस्य लक्षणम्।

तत्रान्तर्लोहितं पाण्डु-शीत-पाद-करा-ऽऽननम्।
शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत् ॥१७॥ सु० चि० अ० २

अर्थ—जिस रोगी के कोष्ठ में रक्त भर गया हो, पाँव, हाथ एवं मुख श्वेत तथा शीत हो गये हों, साँस ठण्डा आ रहा हो, आँखे लाल हो गई हों एवं पेट फूल गया हो, तो उसे असाध्य समझ कर छोड़ देना चाहिये।

मांस-शिरा-स्नाय्वस्थि-सन्धि-मर्मसु-जातानां क्षतानां सामान्यलक्षणानि।

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो विचेष्टनं ग्लानिरथोष्णता च।
स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववातस्तीव्रा रुजा वातकृताश्च तास्ताः॥१८॥
मांसोदकाभं रुधिरं च गच्छेत् सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव।
दशार्धसंख्येष्वथ विक्षतेषु सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम्॥१९॥
सु० उ० अ० २५

अर्थ—भ्रम, प्रलाप, फुदककर गिर पड़ना, बदहोश हो जाना, हाथ-पाँव पटकना, सुस्त हो जाना, गर्मी का अनुभव होना, हिलने-डुलने में असमर्थ हो जाना, मूर्च्छित हो जाना, डकार आना एवं वायु के आक्षेपकादि रोगों का प्रादुर्भाव हो जाना, क्षत-स्थान में से मांस के धोवन-जैसा रक्त निकलना और सब इन्द्रियों के ज्ञान का विनाश हो जाना, यह सब (सम्पूर्ण अथवा थोड़े-बहुत) लक्षण पञ्चविध मर्मों पर घाव हो जाने से उत्पन्न हो जाते हैं।

मर्मरहितानां शिरादीनां विद्धलक्षणानि।

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं रक्तं स्रवेत् तत् क्षतजश्च वायुः।

करोति रोगान् विविधान् यथोक्तान् सिरासु विद्धास्वथवा क्षतासु॥२०॥

अर्थ—सिराओं के (धमनियों के भी) विद्ध अथवा क्षत होने पर उन में से वीरबहूटी (यह कृमि बरसात के दिनों में खेतों में पाया जाता है इस की पीठ लालवर्ण की मखमल के समान रोमयुक्त होती है) के समान लाल रंग का रक्त अधिक मात्रा में निलकता है, इस रक्त के निकलने (अधिक मात्रा में) से कुपित वायु अनेक प्रकार के वातरोगों को उत्पन्न कर देता है।

कौब्ज्यं शरीरावयवावसादः क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजाश्च।
चिराद् व्रणो रोहति यस्य चापि तं स्नायुविद्धं पुरुषं व्यवस्येत्॥२१॥

अर्थ—कुबड़ापन, शरीर के भीतरी अङ्गों का अवसाद (चेष्टाहीन होना), गमनादि कार्यो में असमर्थता एवं भीषण पीड़ाएँ हों और जिसका व्रण (घाव) देर से भरे उस मनुष्य को "स्नायुविद्ध" जानना चाहिये।

शोषाभिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च बलक्षयः सर्वत एव शोथः।
क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु स्यात् सर्वकर्मोपरमश्च लिङ्गम्॥ २२ ॥

अर्थ—चेष्टावान्[1] एवं चेष्टाहीन सन्धियों में घाव होने से यह लक्षण होते हैं। यथा—शोथ का बढ़ना, भीषण पीड़ाएँ, बल का ह्रास, सन्धि के सब ओर सूजन एवं सन्धि की सब चेष्टाओं (संकोचन, प्रसारण, समावर्त्तन या घुमाना) का विनाश।

घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु सर्वास्ववस्थासु च नैति शान्तिम्।
भिषग्विपश्चिद् विदितार्थसूत्रस्तमस्थिविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥२३॥
सु० सू० अ० २६

अर्थ—जिस रोगी को रात-दिन भीषण पीड़ाएँ हों, किसी भी अवस्था (खड़े-बैठे) में सुख न मिले, ऐसे रोगीको बुद्धिमान् एवं शास्त्रवेत्ता चिकित्सक "अस्थिविद्ध" जाने।

१—शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तश्च सन्धयः।
शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञातव्याः स्थिरा बुधैः॥
सु० शा० अ० ५

अथैषां मर्मविद्धानां लक्षणातिदेशः ।

यथास्वमेतानि विभावयेच्च लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु ।

सु० सू० अ० २६

अर्थ—भिन्न प्रकार के (चारों प्रकार के) मर्मस्थानों पर आने से इन उपर्युक्त लक्षणों को भ्रम-प्रलाप आदि लक्षणों के साथ २ भली प्रकार जानने का प्रयत्न करना चाहिये ।

मांसक्षतस्य लक्षणम् ।

पाण्डुर्विवर्णः स्पृशितं न वेत्ति यो मांसमर्मण्यभिपीडितः स्यात् ।२४।

सु० सू० अ० २६

अर्थ—मांस मर्म पर आघात पहुँचने से रोगी का वर्ण पीलापन लिये श्वेत एवं कान्तिहीन हो जाता है तथा उसे स्पर्श का बोध नहीं होता ।

सर्वेषां व्रणानां सामान्योपद्रवाः

विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः ।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥ २५ ॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः ।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः॥२६॥ सु० सू० अ० २५

अर्थ—व्रण विशेषज्ञों ने विसर्प, पक्षाघात, सिरास्तम्भ, अपतानक, मोह, उन्माद, व्रण में अनेक प्रकार की पीड़ाएँ, ज्वर, प्यास, हनुग्रह, कास, वमि, अतिसार, हिचकी, श्वास एवं कम्पन, यह सोलह व्रण के उपद्रव माने हैं ।

भग्ननिदानम्[1] ।

भग्नस्य भेदाः ।

भग्नं समासाद्द्विविधं हुताश[2] काण्डे च सन्धौ च हि तत्र सन्धौ ।

१—अस्थियों के टूटने, फूटने एवं सरकने आदि का विनिश्चय ।

२—"हुताश" सम्बोधन विचारणीय है, क्योंकि यह सातों श्लोक सु० नि० अ० १५ के गद्य का पद्यानुवाद मात्र है; शब्द वही है, क्रम वही और भाव भी वही है ।

उत्पिष्ट–विश्लिष्ट–विवर्तितं च तिर्यग्गतं क्षिप्तमधश्च षट् च ॥१॥

अर्थ—(भगवान् आत्रेय कहते हैं) हे अग्निवेश ? संक्षेप से भग्न दो प्रकार का होता है । १—काण्ड अर्थात् हड्डी में, २—सन्धि अर्थात् हड्डियों के जोड़ में । इन दोनों में सन्धिभग्न छः प्रकार का होता है १—उत्पिष्ट अर्थात् सन्धिस्थान या उसमें रहनेवाले "श्लेषक" कफ का पिस जाना, २—विश्लिष्ट अर्थात् सन्धि का कुछ खुल जाना, ३—विवर्तित अर्थात् सन्धि का घूम जाना, इसे "मोच" कहते हैं, ४—तिर्यग्गत अर्थात् टेढ़ा हो जाना, ५—क्षिप्त अर्थात् सन्धि का अधिक हट जाना, और ६—अधः क्षिप्त सन्धि की निचली हड्डी का एक ओर खिसक जाना ।

सन्धिभग्नलक्षणानि ।

प्रसारणा-ऽऽकुञ्चन-वर्तनोग्रा रुक् स्पर्शविद्वेषणमेतदुक्तम् ।
सामान्यतः सन्धिगतस्य लिङ्गम्—

अर्थ—सन्धिगत[२] छओं प्रकार के भग्न का लक्षण यह है—पसारते, सिकोड़ते एवं घुमाते समय उस स्थान में अत्यन्त वेदना होती है और रोगी उस स्थान को छूने भी नहीं देना चाहता

अथोत्पिष्टादीनां लक्षणानि ।

उत्पिष्टसन्धेः श्वयथुः समन्तात् ॥२॥
विशेषतो रात्रिभवा रुजा च, विश्लिष्टजे तौ च रुजा च नित्यम् ॥
विवर्तिते पार्श्वरुजश्च तीव्राः, तिर्यग्गते तीव्ररुजा भवन्ति ॥३॥
क्षिप्तेऽतिशूलं विषमत्वमस्थ्नोः क्षिप्ते त्वधो रुग् विघटश्च सन्धेः ॥

अर्थ—उत्पिष्टलक्षण-सन्धि के सब ओर सूजन तथा रात्रि में (दिन की अपेक्षा) अधिक पीड़ा, विश्लिष्टलक्षण-उपर्युक्त दोनों लक्षणों के

१—विवर्तितभग्न मोच है, यह विवाद की बात है । मोच भग्न के अन्तर्गत नहीं है; क्योंकि इसमें अस्थियों में किसी प्रकार की च्युति या विकार नहीं होता ।

२—सन्धिभंग या सन्धिमुक्त में अस्थि पर किसी प्रकार की विकृति नहीं होती; किन्तु काण्डभग्न में अस्थि का टूटना, फूटना, छिलका उतरना आदि विकृतियाँ हो जाती हैं ।

अतिरिक्त सार्वकालिक वेदना, विवर्तितलक्षण-सन्धिपार्श्व में तीव्र पीड़ा, तिर्यग्गतलक्षण-भीषण वेदना, क्षिप्तलक्षण अत्यन्त शूल तथा अस्थियों में विषमता, अधः क्षिप्तलक्षण पीड़ा एवं सन्धि का टूट जाना।

काण्डेभग्नस्य भेदाः लक्षणानि च।

काण्डे त्वतःकर्कटका-ऽश्वकर्ण-विचूर्णितं पिच्चितमस्थिछल्लिका ॥४॥
काण्डेषु भग्नं ह्यतिपातितं च मज्जागतं च स्फुटितं च वक्रम्।
छिन्नं द्विधा द्वादशधाऽपि काण्डे स्रस्ताङ्गता शोथरुजातिवृद्धिः ॥५॥
संपीड्यमाने भवतीह शब्दः स्पर्शासहं स्पन्दन-तोद शूलाः।
सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभो भग्नस्य काण्डे खलु चिह्नमेतत् ॥६॥

अर्थ—अब काण्डभग्न का विवरण लिखते हैं १ कर्कटक इधर-उधर से चोट लगने के कारण बीच में केकड़े (प्रसिद्ध प्राणिविशेष) की पीठ के समान गाँठ-सी उठ आना। २ अश्वकर्ण-घोड़े के कान के समान अस्थिखण्ड का खड़ा हो जाना। ३-विचूर्णित हड्डी का चूर चूर हो जाना। ४-पिच्चित हड्डी का पिचक जाना। ५-अस्थिछल्लिका हड्डी का छिलका उतर जाना। ६-काण्डभग्न टूटे अङ्ग का लटक जाना। ७-अतिपातित कटकर अङ्ग का गिर जाना। ८-मज्जागत अस्थि के साथ ही उसके भीतर भी मज्जाधरा झिल्ली का भी फट जाना। ९-स्फुटित फूट जाना (वंशनलिका के समान) १०-वक्र टूटे बिना ही टेढ़ा हो जाना। ११-१२-दो प्रकार का छिन्न थोड़ा एवं बहुत (सर्वथा नहीं) कट जाना। इस प्रकार बारह प्रकार का काण्डभग्न होता है, इसके सामान्य लक्षण यह हैं अङ्ग हिलाने में असमर्थता, शोथ तथा पीड़ा की अत्यन्त अधिकता, दबाने पर शब्द (किड़किड़ ऐसा), छू देने पर भी कष्ट का अनुभव, कुछ कम्प, व्यथा शूल और किसी अवस्था में आराम न मिलना।

काण्डे भग्नस्य नामानुसारिलक्षणम्।

भग्नं तु काण्डे बहुधा प्रयाति समासतो नामभिरेव तुल्यम् ॥ ७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त भग्नविशेषों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के काण्डभग्न हो सकते हैं; किन्तु उपर्युक्त भग्नों के लक्षण उनके नामों के अनुसार होते हैं।

काण्डे भग्नस्य कष्टसाध्यत्वम् ।

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च ।

उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ ८ ॥ सु० नि० अ० ३

अर्थ—अत्यन्त थोड़ा खानेवाले (अग्निमान्द्यादि से पीड़ित) आत्मबल से रहित, वातप्रकृतिवाले तथा उपद्रवों (क्षत-क्षीण, कुष्ठ श्वास आदि) से पीड़ित रोगी का भग्न कृच्छ्रसाध्य होता है ।

काण्डे भग्नस्यासाध्यत्वम् ।

भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम् ।

जघनं प्रतिपिष्टं च वर्जयेद्‌ हि विचक्षणः ॥ ९ ॥

अर्थ—कपालास्थि फट गई हो, कमर की सन्धि खुल अथवा पृथक् हो गई हो तथा जघन की अस्थि पिस गई हो, तो उसे बुद्धिमान् चिकित्सक छोड़ देवे, व्यर्थ प्रयत्न न करे ।

असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यत् ।

भग्नं स्तनान्तरे पृष्ठे शंखे मूर्ध्नि च वर्जयेत् ॥ १० ॥ सु०नि०अ०१५

अर्थ—कपालास्थि का जोड़ खुल गया हो, माथे की अस्थि चूर २ हो गई हो, उरःस्थल टूट गया हो, पीठ (पृष्ठवंश), शंख (पुटपुटी), शिर की अस्थियाँ टूट गई हों तो असाध्य[1] समझना चाहिये ।

सर्वेषां भग्नानामनवधानादसाध्यत्वम् ।

सम्यक् सन्धितमप्यस्थि दुर्निक्षेपनिबन्धनात् ।

संक्षोभाद्‌ वाऽपि यद्‌ गच्छेद्‌ विक्रियां तच्च वर्जयेत् ॥ ११ ॥

सू० उ० अ० १५

अर्थ—भली प्रकार जुड़ी हुई हड्डी भी यदि उचित स्थान पर न टिकाने के कारण, ठीक २ बन्धन क्रिया न होने के कारण अथवा अभि-

---

१—हमारे विचार में यहाँ "असाध्य" का अर्थ "मारक" नहीं समझना चाहिये, क्योंकि ऐसा नहीं होता । हाँ इनके भीतर अवयवों पर आघात होने पर मृत्यु अवश्य हो जाती है । जैसे शिर में भेजे, पृष्ठवंश में सुषुम्णा, काण्ड पर एवं उरःस्थल में हृदय तथा फुफ्फुसों पर आघात होने पर मृत्यु हो जाती है ।

घात आदि से हिल जाने के कारण बिगड़ जाय अर्थात् टेढ़ी-मेढ़ी हो जाय तो उसे छोड़ देवे अर्थात् वह सीधी नहीं हो सकती (फिर टूटने पर सीधी हो भी सकती है) ।

अथास्थिविशेषेण भग्नविशेषः ।

तरुणास्थीनि नम्यन्ते भिद्यन्ते नलकानि च ।
कपालानि विभज्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च ॥१२॥ सु०नि०अ० १५

अर्थ—तरुण अर्थात् कोमल (जैसे कान-नाक आदिकी) अस्थियाँ नम जाती हैं (टूटती नहीं, जैसे पहलवानों के कान), नलक अर्थात् लम्बी तथा खोखली अस्थियाँ (जो हाथ-पाँव में हैं) फूट जाती हैं, कपालास्थियाँ फट जाती हैं एवं रुचक अर्थात् दाँत टूट जाते हैं ।

नाडीव्रणनिदानम्[1] ।

नाडीव्रणस्य सम्प्राप्तिः ।

यः शोथमाममतिपक्वमुपेक्षतेऽज्ञो यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः ।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः ॥१॥
सु० नि० अ० १०

अर्थ—जो मूर्ख (उचित चिकित्सा न करानेवाला) तथा असाधुवृत्त (मिथ्याहार करनेवाला) रोगी कच्चे-पक्के एवं अधिक पूययुक्त व्रण की उपेक्षा करता है, उसके व्रण का पीब पहिले कहे हुए (त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि, कोष्ठ एवं मर्म) स्थानों को विदीर्ण कर भीतर की ओर प्रविष्ट हो जाता है (ऊपर से व्रण बन्द हो जाता है, किन्तु भीतर दोष संचित रहता है) ।

नाडीशब्दस्य निरुक्तिः ।

तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिष्यते तु नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी।

१—जिन व्रणों का शोधन-रोपण विधिपूर्वक नहीं हुआ और जो गहरे हो गये हैं, वे "नाडीव्रण" या "नासूर" हो जाते हैं । ये व्रण कई दिनों या महीनों तक बन्द रहकर पुनः फूटते हैं और मवाद निकल जाने पर बन्द होकर पुनरपि पूर्ववत् फूटते हैं । यह परम्परा तब तक चलती है जब तक कि उचित चिकित्सा नहीं होती ।

दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च संमूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या॥२

सु० नि० अ० १०

अर्थ—पूय के अतिकाल पर्यन्त निकलने के कारण इसे "गति" कहा जाता है अथवा नाली के समान बहने के कारण "नाडी" कह सकते हैं। यह पाँच प्रकार की होती है—वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज एवं शल्य लगने के कारण।

वातजनाड्या लक्षणम्।

तत्रानिलात् परुष-सूक्ष्म-मुखी सशूला

फेनानुबिद्धमधिकं स्रवति क्षपासु। सु० नि० अ० ९

अर्थ—वातज नाडीव्रण का मुख खरदरा एवं सूक्ष्म होता है, उसमें शूल होता है, एवं रात्रि में झागयुक्त तथा अधिक स्राव निकलता है।

पित्तजनाड्या लक्षणम्।

पित्तात् तृषा-ज्वर-करी परिदाहयुक्ता

पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु चापि॥ ३॥ सु० नि० अ० ९

अर्थ—पित्तज नाडी व्रण से प्यास एवं ज्वर हो जाया करता है, व्रण के आस-पास दाह होता है तथा दिन में पीला एवं गर्म स्राव अधिक निकलता है।

कफजनाड्या लक्षणम्।

ज्ञेया कफाद्‌ बहु-घनार्जुन-पिच्छिला-स्रा

स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनीप्रवृद्धा। सु० नि० अ० ९

अर्थ—कफज नासूर में से बहुत गाढ़ा, सफेद एवं लसीला स्राव निकलता है, व्रण कठोर होता है, खुजली एवं पीड़ा से युक्त होता है। ये सब लक्षण रात्रि में कुछ बढ़ जाया करते हैं।

त्रिदोषजनाड्या लक्षणम्।

दाह-ज्वर-श्वसन-मूर्च्छन-वक्त्रशोषाः

यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि॥ ४॥

तामादिशेत् पवन-पित्त-कफप्रकोपाद्
घोरामसुक्षयकरीमिव कालरात्रिम् । सु० नि० अ० १

अर्थ—जिसमें दाह, ज्वर, श्वास, मूर्च्छा, मुखशोष एवं पूर्वोक्त तीनों दोषों के सभी लक्षण हों, उसे सन्निपातज नाडीव्रण समझना चाहिये। यह प्राणनाशिनी कालरात्रि के समान बड़ा ही भीषण होता है।

शल्यजनाड्या लक्षणानि ।

नष्टं कथंचिदनुमार्गमुदीरितेषु स्थानेषु शल्यमचिरेण गतिं करोति॥
सा फेनिलं मथितमुष्णमसृग्विमिश्रं
स्रावं करोति सहसा सरुजा च नित्यम् । सु० नि० अ० १

अर्थ—शल्य किसी प्रकार पूर्वोक्त त्वचामांसादि स्थानों में घुसकर शीघ्र ही "नाडीव्रण" कर देता है, इसमें से एकाएक झागयुक्त, मथा हुआ-सा गर्म, एवं रक्तमिश्रित स्राव निकलता है तथा इसमें सर्वदा पीड़ा होती रहती है।

नाडीव्रणस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्येत् शेषाश्चतस्रः खलु यत्नसाध्याः ॥६॥
सु० नि० अ० १

अर्थ—सन्निपातज नाड़ीव्रण कभी अच्छा नहीं होता; किन्तु अवशिष्ट चारों नाड़ीव्रण यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से अच्छे हो जाते हैं।

भगन्दरनिदानम्[1] ।

भगन्दरस्य पूर्वरूपाणि ।

गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकाऽऽर्तिकृत् ।

1—गुद के आस-पास के नाड़ीव्रण को "भगन्दर" कहा जाता है। इससे वस्ति एवं शुक्राशय तक में छिद्र हो जाते हैं। उक्त भगन्दरों के अतिरिक्त तीन भगन्दर और भी होते हैं, यथा १ ऋजु, २ परिक्षेपी, ३ अर्शोज (अर्श से होनेवाला), मस्सों के काटने अथवा उनमें फोड़ा होने से भी हो जाता है। अधिकतर इसी के रोगी होते हैं।

भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः स च पञ्चविधो मतः ॥ १ ॥

अर्थ—गुदद्वार के आस-पास दो अंगुल के घेरे में अत्यन्त वेदना-युक्त फुंसी निकल आती है जब वह (पककर) फूट जाती है तो उसे "भगन्दर" कहते हैं और वह पाँच प्रकार का होता है।

शतपोनकाख्यभगन्दरस्य लक्षणम्।

कषायरूक्षैस्त्वतिकोपितोऽनिलस्त्वपानदेशे पिडिकां करोति याम्।
उपेक्षणात् पाकमुपैति दारुणं रुजा च भिन्नाऽरुणफेनवाहिनी ॥ २ ॥
तत्रागमो मूत्र-पुरीष-रेतसां व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेत्।

अर्थ—कसैले तथा रूक्ष पदार्थों के अत्यन्त सेवन से कुपित वायु गुद के आस-पास फुड़िया उत्पन्न कर देता है। उचित चिकित्सा न करने से वह बुरी तरह पक जाती है और उसमें पीड़ा होती है और जब फूट जाती है तो उसमें से लाल एवं झागयुक्त स्राव निकलता रहता है। आगे चलकर मूत्र, पुरीष एवं शुक्र धातु भी उसमें से होकर निकलने लगता है और उस व्रण में अनेक छोटे २ छिद्र हो जाते हैं अतः इसे "शतपोनक" कहा जाता है।

अथोष्ट्रशिरोधराख्यभगन्दरस्य लक्षणानि।

प्रकोपणैः पित्तमतिप्रकोपितं करोति रक्तां पिडकां गुदाश्रिताम् ॥३॥
तदाऽऽशुपाकाहिमपूतिवाहिनीं भगन्दरं तूष्ट्रशिरोधरं वदेत् ॥ ४ ॥

अर्थ—पित्तकारक पदार्थों के सेवन से अत्यन्त कुपित पित्त गुद के आस-पास रक्तवर्ण की फुंसी कर देता है, जब वह शीघ्र ही पककर फट

सा भगन्दर कफ के कारण होता है, इसे "परिस्रावी" भगन्दर कहा जाता है।

शम्बूकावर्ताख्यभगन्दरस्य लक्षणानि।

बहु-वर्ण-रुजा-स्रावा पिडका गोस्तनोपमा।

शम्बूकावर्तवन्नाडी शम्बूकावर्तको मतः ॥ ६ ॥

अर्थ—अनेक प्रकार के वर्णों, पीड़ाओं (शूल, दाह, कण्डू) एवं स्रावों से युक्त, गौ के स्तन-जैसा तथा घोंघा (छोटा शंख) के-से आवर्त्तवाला भगन्दर "शम्बूकावर्त्त" कहलाता है। यह सन्निपातज होता है।

अथोन्मार्गिभगन्दरस्य लक्षणानि।

क्षताद् गतिः पायुगता विवर्धते ह्युपेक्षणात् स्युः क्रिमयो विदार्य ते।

प्रकुर्वते मार्गमनेकधा मुखैर्व्रणैस्तदुन्मार्गि भगन्दरं वदेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—किसी प्रकार गुद के आस पास क्षत (घाव) हो जाने के कारण नासूर हो जाता है। उपेक्षा करने से वह बढ़ने लगता है और उसमें क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं। वे क्रिमि उसे फाड़कर अनेक प्रकार के मुखोंवाले व्रण कर देते हैं। इसे "उन्मार्गी" भगन्दर कहा जाता है।

भगन्दरस्य साध्यासाध्यलक्षणानि।

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः।

तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च विशेषतः ॥ ८ ॥ सु० नि० अ० ४

अर्थ—सभी भगन्दर बड़ी कठिनता से अच्छे होते हैं, किन्तु सन्निपातज एवं क्षतज भगन्दर तो सर्वथा असाध्य ही होते हैं।

भगन्दरस्यासाध्यलक्षणानि।

वात-मूत्र-पुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च।

भगन्दरात् स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जब भगन्दर में से होकर अधोवायु, मूत्र, पुरीष एवं शुक्र निकलने लगते हैं अथवा उसमें क्रिमि पड़ जाते हैं, तो रोगी मर जाता है।

उपदंशनिदानम् ।[1]

अथोपदंशस्य कारणानि ।

हस्ताभिघातान्नख-दन्त-पातादधावनादू-रत्यतिसेवनाद्वा ।
योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधापचारैः ॥ १ ॥

अर्थ—हाथ के अभिघात (कर-मैथुनादि से) से, नख तथा दाँत (मुख-मैथुनादि से) लगने से, न धोने (मैथुन के पश्चात् या यों ही) से, अधिक मैथुन करने से, दूषित (रजस्वला या प्रदरादि रोगों से पीड़ित) योनि में मैथुन करने से अथवा अन्यान्य अनेक प्रकार के (गुद-मैथुन, चतुष्पदी गमन एवं गन्दे जल के स्पर्श आदि) अपचारों से लिंग पर (पहिले मणि पर उसके कोमल होने के कारण) पाँच प्रकार के "उपदंश" नामक व्रण हो जाते हैं। (इस रोग में पहिले फुंसी होती है। कुछ दिन बाद वह फूट जाती है तो व्रण हो जाता है।)

वातिकोपदंशस्य लक्षणानि ।

सतोदभेदैः स्फुरणैः सकृष्णैः स्फोटैर्व्यवस्येत् पवनोपदंशम् ।
पीतैर्बहुक्लेदयुतैः सदाहैः पित्तेन रक्तात् पिशितावभासैः ॥ २ ॥
स्फोटैः सकृष्णैः रुधिरं स्रवन्तं रक्तात्मकं पित्तसमानलिङ्गम् ।
सकण्डुरैः शोथयुतैर्महद्भिः शुक्लैर्घनैः स्रावयुतैः कफेन ॥ ३ ॥

१—उपस्थे लिंगे योनौ वा दंशः उपदंशः (यद्यपि यह अपाणिनीय है; परन्तु सम्भव है कि नामकरणकर्त्ता का यही अभिप्राय हो, अस्तु) इस प्रकार उक्त स्थान के विषैले व्रण को उपदंश कहा जाता है तथा "योनिप्रदोषात्" इस हेतु वचन से संक्रामक भी मान लिया जाता है; परञ्च तो भी प्रसिद्ध "फिरंगरोग" (आतशक) से वह भिन्न ही है। १—आज से सदियों पूर्व माननीय भावमिश्र ने इसे पृथक् लिखा है। २—यह पारंपरीण भी नहीं है। ३—इससे गठिया एवं कुष्ठ होने की सम्भावना नहीं। ४—साधारण लेपादि से अच्छा हो जाता है। ५—इसका व्रण कोमल होता है। ६—मैथुन से तीसरे चौथे दिन दिखाई पड़ता है। ७—इसमें शलाकाकृति अणु पाया जाता है। फिरंग इससे विपरीत होता है। परिशिष्ट देखिये।

अर्थ—यदि फुंसियाँ तथा घाव सुई के चुभने की एवं फटने की-सी पीड़ा से युक्त हों, उसमें फरफराहट का अनुभव हो तथा उसमें कुछ कालापन हो तो वातज उपदंश समझना चाहिये। यदि फुंसियाँ या घाव पीले, अत्यन्त सड़न से युक्त तथा दाहयुक्त हों तो पित्तज उपदंश समझना चाहिये। यदि वे लाल मांस के समान वर्णवाले, कुछ काले, रक्त बहानेवाले एवं पित्तज उपदंश के लक्षणों से युक्त हों तो रक्तज उपदंश समझना चाहिये। यदि वे कण्डू तथा शोथ से युक्त, विशाल, श्वेत, कठोर अथवा गाढ़े स्राव को बहानेवाले हों तो कफज उपदंश समझना चाहिये।

सान्निपातिकोपदंशस्य लक्षणानि।

नानाविध-स्राव-रुजोपपन्नमसाध्यमाहुस्त्रिमलोपदंशम्।

अर्थ—यदि वे अनेक प्रकार (उपर्युक्त) से स्राव को बहानेवाले तथा पीड़ाओं से युक्त हों तो सन्निपातज उपदंश समझना चाहिये। यह असाध्य होता है।

अथासाध्योपदंशस्य लक्षणानि।

विशीर्णमांसं क्रिमिभिः प्रजग्धं मुष्कावशेषं परिवर्जयेच्च ॥ ४ ॥

अर्थ—यदि उपदंश के कारण लिंग का मांस सड़ कर फट गया हो, क्रिमियों द्वारा खाया जा चुका हो, केवल अण्डकोष शेष रह गया हो तो उसे असाध्य होने के कारण छोड़ देना चाहिये।

पुनरुपदंशस्यासाध्यलक्षणानि।

सञ्जातमात्रे न करोति मूढः क्रिया नरो यो विषये प्रसक्तः।
कालेन शोथ-क्रिमि-दाह-पाकैर्विशीर्णशिश्नो म्रियते स तेन ॥ ५ ॥

अर्थ—जो मूर्ख मनुष्य उपदंश की प्रारम्भिक अवस्था में उचित चिकित्सा नहीं करवाता और मैथुन करता जाता है वह कुछ काल के पश्चात् क्रमशः शोथ, क्रिमि, दाह एवं पाक के कारण लिंग के सड़ कर कटजाने से मर जाता है।

लिङ्गवर्त्याख्यरोगस्य लक्षणानि।

अङ्कुरैरिव संघातैरुपर्युपरि संस्थितैः।

क्रमेण जायते वर्तिस्ताम्रचूडशिखोपमा ॥ ६ ॥
कोषस्याभ्यन्तरे सन्धौ सर्वसन्धिगताऽपि वा ।
(सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा ।)
लिङ्गवर्तिरभिख्याता लिङ्गार्श इति चापरे ॥ ७ ॥

अर्थ—लिंग-मणि के आवरण के भीतर मणि और लिंग दण्डिकाओं की सन्धि में अथवा दण्डिकाओं की सम्पूर्ण सन्धि में बत्ती के आकार का उभा हो जाता है वह धीरे २ क्रमशः ऊपर ऊपर उत्पन्न होनेवाले अंकुरों द्वारा ऊँचा होता जाता है, उसकी आकृति मुरगे की शिखा के समान हो जाती है। उसमें कुछ २ पीड़ा होती रहती है तथा चिपचिपाहट होती है। यह सन्निपातज होने के कारण कष्टसाध्य होता है। यह "लिंगवर्ति" नाम से विख्यात है; किन्तु कुछ विद्वान् इसे "लिंगार्श" भी कहते हैं।

शूकदोषनिदानम् ।[1]

शूकरोगस्योत्पत्तिक्रमः ।

अक्रमाच्छेफसो वृद्धिं योऽभिवाञ्छति मूढधीः ।
व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शूकजाः ॥ १ ॥

अर्थ—जो मूर्ख मनुष्य (दुष्ट मित्रों के बहकावे में आकर) शास्त्र-विहित उपायों के विपरीत निन्दित उपायों द्वारा लिंग को बड़ा करना

१—मानव प्राणि के मन में दो कारणों से लिंगवृद्धि की इच्छा होती है। १—जोड़ा न मिलने से, २—बुरी संगति से उत्पन्न बुरी भावनाओं से। पहिला तो बहुत आवश्यक है। देखिये वात्स्यायन कामसूत्र। दूसरा अनावश्यक एवं बुरा है। किसी प्रकार के लिंगवृद्धिकर उपायको संस्कृत भाषा में "शूक" कहा जाता है अथवा एक प्रकार के जलजन्तु (सम्भवतः जिन्हें जुलाहा कहा जाता है, जो कि बरसातमें पानी पर सैकड़ों की संख्या में तैरते या दौड़ते दिखाई पड़ते हैं) को "शूक" कहा जाता है, इनका पूर्वकाल में प्रयोग किया जाता होगा। उत्तम उपाय तो हानिकारक नहीं होते; किन्तु दूषित उपायों से उक्त रोग हो जाते हैं।

चाहता है, उसके लिंग पर अठारह प्रकार के निम्नलिखित रोग हो जाते हैं।

सर्षपिकाया लक्षणम्।

गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुष्टप्रहेतुका।
पिडका श्लेष्मवाताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका तु सा ॥ २ ॥

अर्थ—लिंग वृद्धिकर उपायों के अनुचित उपयोग से कुपित कफ तथा वायु के कारण श्वेत सरसों के बीज-जैसी फुन्सी निकल आती है, उसे "सर्षपिका" कहते हैं।

अथाष्ठीलिकाया लक्षणम्।

कठिना विषमैर्भुग्नैर्वायुनाऽष्ठीलिका भवेत्।
शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रन्थितं नाम तत् कफात् ॥४॥ सु० नि० अ० १४

अर्थ—विषम एवं कुटिल शूकों के लगने से कुपित वायु द्वारा कठोर फुन्सी हो जाती है, उसे "अष्ठीलिका" कहते हैं और जो उक्त कारण से कुपित कफकोप से गाँठ-सी हो जाती है, उसे "ग्रथित" कहते हैं।

कुम्भिकाया लक्षणम्।

कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा।
तुल्यजां त्वलजीं विद्याद् यथाप्रोक्तां विचक्षणः ॥४॥ सु०नि०अ०१४

अर्थ—उक्त कारण से कुपित रक्तपित्त से जामुन की गुठली की-सी भीषण सूजन हो जाती है, तो उसे "कुम्भिका" कहा जाता है और पूर्वोक्त "अलजी" (प्रमेहपिडका) केसमान जो होती है उसे "अलजी" कहते हैं।

मृदितस्य लक्षणम्।

मृदितं पीडितं यच्च संरब्धं वातकोपतः।
पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिडका भवेत् ॥ ५ ॥ सु०नि० अ० १४

अर्थ—हाथों (हस्त-मैथुन आदि से) से मर्दन एवं पीडन करने से जो शोथ हो जाता है, उसे "मृदित" कहते हैं। यह वायु से होता है और यदि अधिक पीड़न से फुन्सी हो जाती है तो उसे "संमूढपीडिका" कहते हैं।

अथाधिमन्थस्य लक्षणानि ।

दीर्घा बह्व्यश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः ।
सोऽधिमन्थः कफासृग्भ्यां वेदना–रोमहर्ष–कृत् ॥६॥ सु० उ० अ० १४

अर्थ—उक्त कारण से कुपित कफ-रक्त से जो बहुत-सी लम्बी २ फुन्सियाँ हो जाती हैं और बीच में से फट जाती हैं, उस रोग को "अधिमन्थ" कहा जाता है; उसमें वेदना एवं रोमहर्ष होता है ।

पुष्करिकाया लक्षणानि ।

पिडका पिडकाव्याप्ता पित्त–शोणित–सम्भवा ।
पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिका तु सा ॥७॥ सु० नि० अ० २

अर्थ—पित्त-रक्त से होनेवाली बहुत-सी फुन्सियोंसे घिरी हुई कमल की कर्णिका के समान एक फुन्सी हो जाती है, उसे "पुष्करिका" कहते हैं ।

स्पर्शहान्याख्यशूकरोगस्य लक्षणानि ।

स्पर्शहानिं तु जनयेच्छोणितं शूकदूषितम् । सु० नि० अ० १४

अर्थ—शूक से दूषित रक्त स्पर्शज्ञान को नष्ट कर देता है, उसे "स्पर्शहानि" कहते हैं ।

अथोत्तमाया लक्षणानि ।

मुद्गमाषोपमा रक्ता रक्तपित्तोद्भवा तु या ॥८॥
व्याधिरेषोत्तमा नाम शूकजीर्णनिमित्तजा । सु० नि० अ० १४

अर्थ—रक्तपित्त से होने वाली मूंग अथवा उर्द से समान लालवर्ण वाली जो फुन्सी हो जाती है, उसे "उत्तमा" कहा जाता है । यह बार २ शूक का प्रयोग करने से होती है ।

शतपोनकस्य लक्षणानि ।

छिद्रैरणुमुखैर्लिङ्गं चितं यस्य समन्ततः ॥९॥
वातशोणितजो व्याधिः स ज्ञेयः शतपोनकः । सु० नि अ० १४

अर्थ—वातरक्त के कोप से लिंग पर सब ओर छोटे २ मुख वाले छिद्र हो जाते हैं, उसे "शतपोनक" कहा जाता है ।

त्वक्पाकस्य लक्षणानि ।

वातपित्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वर-दाह-कृत् ॥१०॥ सु० नि० अ० १४

अर्थ—वात-पित्त के कारण लिंग की त्वचा पक जाती है ज्वर एवं दाह होने लगता है । इसे "त्वक्पाक" कहते हैं ।

शोणितार्बुदस्य लक्षणानि ।

कृष्णैः स्फोटैः सरक्ताभिः पिडकाभिर्निपीडितम् ।
यस्य वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तत् शोणितार्बुदम् ॥११॥ सु० नि० अ० १४

अर्थ—जिस रोग में काले २ फफोलों तथा लाल २ फुन्सियों से लिंग भर जाता है, और उन स्थानों में भयानक पीड़ा होती है उसे "शोणितार्बुद" कहा जाता है । (यह रक्त से होता है) ।

मांसार्बुदस्य लक्षणानि ।

मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससम्भवम् । सु० नि० अ० १४

अर्थ—उक्त कारण से दूषित मांस की विकृति के कारण मांस में "अर्बुद" या रसौली हो जाती है।

मांसपाकस्य लक्षणानि ।

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः ॥१२॥
विद्यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक् । सु० नि० अ० १४

अर्थ—जिस रोग में लिंग का मांस कट या सड़ जाता है और सभी प्रकार की (शूल-दाह-कण्डू) पीड़ाएँ होती हैं, उसे सन्निपातज "मांसपाक" जानना चाहिये ।

विद्रध्याख्यशूकरोगस्य लक्षणानि ।

विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमिति निर्दिशेत् ॥१३॥ सु० नि० अ० १४

अर्थ—सन्निपात से पूर्वोक्त विद्रधि के समान लिंग पर "विद्रधि" भी हो जाता है । (यद्यपि उसकी सम्प्राप्ति नहीं घट सकती; क्योंकि लिंग में अस्थि नहीं है, किंतु तत्सदृश होने के कारण यह नाम दिया गया है) ।

तिलकालकस्य लक्षणानि ।

कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि वा ।
पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥ १४ ॥
कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः ।
सन्निपातसमुत्थांस्तु तान् विद्यात् तिलकालकान् ॥ १५ ॥

अर्थ—काले, विचित्र एवं विषैले शूकों का जब लिंग पर लेपादि के रूप में प्रयोग किया जाता है, तो वे लिंग को सर्वथा पका देते हैं, उस मनुष्य के लिंग का मांस काला होकर फटने एवं सड़ने लगता है, इस रोग को "तिलकालक" कहते हैं, यह सन्निपातज है ।

अथैष्वसाध्यरोगाणां नामानि ।

तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः ।
विद्रधिश्च न सिध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥ १६ ॥ सु०नि०अ०१४

अर्थ—इन उपर्युक्त रोगों में मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि एवं तिलकालक नामक रोग अच्छे नहीं होते ।

कुष्ठनिदानम् ।[1]

कुष्ठोत्पत्तौ हेतवः ।

विरोधीन्यन्नपानानि द्रव-स्निग्ध-गुरूणि च ।
भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥ १ ॥
व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वा निषेविणाम् ।
घर्म-श्रम-भयाऽऽर्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् ॥ २ ॥
अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम् ।

१—यह एक निन्दास्पद रोग है । यह आर्द्र तथा नम जल-वायुवाले देशों में अधिक होता है । जैसे उड़ीसा तथा बंगाल में । इसके अन्य कारणों के साथ ही उन क्रिमियों को नहीं भूलना चाहिये; जिनको महर्षियों ने "कुष्ठैककर्माणः" कहा है ।

नवान्न–दधि–मत्स्यातिलवणाम्ल–निषेविणाम् ॥ ३ ॥
माष–मूलक–पिष्टान्न–तिल–क्षीर–गुडाशिनाम् ।
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा ॥ ४ ॥
विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् ।
वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च ॥ ५ ॥
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ।
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च ॥ ६ ॥

अर्थ—विरोधी (रस, गुण, विपाक एवं वीर्य विरुद्ध) खानपान तथा अतिद्रव, स्निग्ध एवं गुरु (स्वाभगुरु, मात्रागुरु एवं संस्कारगुरु) पदार्थों के अधिक सेवन से, आती हुई वमन तथा अन्यान्य मूत्र-पूरीषादि के वेग को रोकने से, भरपेट खाकर व्यायाम तथा सूर्य या अग्नि के ताप का सेवन करने, घाम (धूप), परिश्रम (दौड़ना आदि) एवं भय से पसीना २ होकर सहसा शीतल जल पीने या उसमें नहाने से, पूर्वभुक्त आहार के न पचने पर और भी अधिक खा लेने से, पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, नस्य, निरूहण तथा अनुवासन) करते समय अपथ्य करने से, नवीन धान्यों (गेहूं आदि) के बने भोजन, दही, मछली का मांस, अधिक नमक एवं खटाई का अति सेवन करने से, उर्द, मूली, पीठी के पदार्थ (बड़े-भल्ले आदि) तिल दुग्ध एवं गुड़ के अधिक सेवन से, आहार न पचने पर ही मैथुन करने से, दिन में (ग्रीष्मकाल के अतिरिक्त काल में) सोने से, ब्राह्मण या प्राणीमात्र तथा अपने बड़े लोगों का अपमान करने से अथवा बुरे कामों के करने से वायु आदि तीनों दोष कुपित होकर त्वचा, रक्त, मांस एवं लसीका या शरीर के जलीय भाग को दूषित कर देते हैं। बस यह सातों द्रव्यों की सम्मिलित विकृति (प्रारम्भिक अवस्था में, आगे चलकर तो मेदा आदि धातु भी दूषित हो जाते हैं) सबका कारण होती है। इसी से सात महाकुष्ठ[1] तथा

१—इन कारणों के अतिरिक्त वंशज दोष, आतशक तथा स्पर्श-दोष भी कुष्ठ का कारण होता है।

ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ मिलाकर अठारह प्रकार के कुष्ठ उत्पन्न हो जाते हैं।

महाकुष्ठानां सप्तधात्वम्।

कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथग् द्वन्द्वैः समागतैः।
सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः ॥ ७ ॥ वा० नि० अ० १४

अर्थ—वात, पित्त, कफ, वातपित्त, वातकफ, पित्तकफ तथा सन्निपात से सात प्रकार के कुष्ठ होते हैं। यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, तथापि उपर्युक्त सात भेद केवल उन २ दोष तथा दोषों की अधिकता के कारण ही माने जाते हैं।

कुष्ठानां पूर्वरूपाणि।

अति–श्लक्ष्ण–खर–स्पर्श–स्वेदास्वेद–विवर्णतः।
दाहः कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोदः कोठोन्नतिभ्रमः ॥ ८ ॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः।
रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽतिकोपनम् ॥ ९ ॥
रोमहर्षोऽसृजः कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम्। वा० नि० अ० १४

अर्थ—त्वचा का स्पर्श अत्यन्त चिकना अथवा खरदरा हो जाना, पसीना अधिक निकलना अथवा सर्वथा बंद हो जाना, शरीर का वर्ण बदल जाना (कालापन या सुर्खी आ जाना), दाह, खुजली, त्वचा शून्य हो जाना, सुई के चुभने की पीड़ा, चकत्ते (चप्फड़) निकलना, चक्कर आना, यदि शरीर पर कोई फोड़े-फुन्सी या अन्य प्रकार से घाव हो जाय तो उसमें अत्यन्त पीड़ा होना, शीघ्र फोड़ा आदि निकलना तथा उसका चिरकाल तक अच्छा न होना अथवा अच्छा होने पर भी उसके स्थान में रूखापन रहना तथा थोड़े अपथ्य से भी पुनः उत्पन्न हो जाना, रोमाञ्च होना एवं रक्त काला हो जाना, यह सब कुष्ठ का पूर्वरूप है।

सप्तमहाकुष्ठानां लक्षणानि।

कृष्णारुणकपालाभं यद् रूक्षं परुषं तनु ॥१०॥
कापालं तोदबहुलं तत् कुष्ठं विषमं स्मृतम्।

अर्थ—मृत्पात्र के टुकड़े (ठीकरे) के समान (गोलाई-रहित) काला, लाल, रूखा, खरदरा, पतला (ऊँचाई-रहित) तथा अत्यन्त व्यथायुक्त जो (कुष्ठ का व्रण) होता है, उसे "कापालकुष्ठ" कहा जाता है, यह कष्टसाध्य होता है।

रुग्-दाह-राग-कण्डूभिः परीतं रोमपिञ्जरम् ॥११॥
उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत्।

अर्थ—पीड़ा, दाह, सुर्खी एवं कण्डू से युक्त, पीले रोमों (रोम तो प्रायः झड़ ही जाते हैं, बचे-खुचे पीले हो जाते हैं) से युक्त, गूलर फल के समान लाल जो व्रण होता है उसे "औदुम्बर" कुष्ठ कहते हैं।

श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् ॥१२॥
कृच्छ्रमन्योन्यसंयुक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते।

अर्थ—सुफेद अथवा लाल, स्थिर (शीघ्र न फैलनेवाला या चिर-काल तक रहनेवाला), गीला २ सा या चिपचिपाहटवाला, चिकना, ऊँचा (मोटाई युक्त, गोल तथा जो पृथक् २ उत्पन्न होकर आपस में मिल जाय, ऐसा जो व्रण होता है, उसे "मण्डल" कुष्ठ कहते हैं।

कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तः श्यावं सवेदनम् ॥१३॥
यदृष्यजिह्वसंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते।

अर्थ—खरदरा, सब ओर से लाल, मध्य में काला, वेदनायुक्त एवं भालू (रीछ) की जीभ जैसा (उसकी जीभ उपर्युक्त लक्षणों वाली ही होती है) जो व्रण होता है उसे "ऋष्यजिह्व" कहते हैं।

सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् ॥१४॥
सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते।

अर्थ—कुछ श्वेत (गुलाबी); इधर-उधर से लाल, ठीक लाल कमल की पँखड़ी का-सा; मोटाई युक्त एवं ललाई युक्त जो व्रण होता है, उसे "पुण्डरीक" कहते हैं।

श्वेतं ताम्रं तनु च यद् रजो घृष्टं विमुञ्चति ॥१५॥

प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम् ।

अर्थ—श्वेत अथवा लाल, पतला, घिसने पर जिसपर से भूसी-सी झड़े, *प्रायः* वक्षःस्थल (छाती पर) पर होने वाला तथा लौवा या घीया के फूल के समान वर्णवाला (श्वेत) कुष्ठ "सिध्म[1]" कहलाता है।

यत् काकणन्तिकावर्णं सपाकं तीव्रवेदनम् ॥ १६ ॥
त्रिदोषलिङ्गं तत् कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति । च० चि० अ० ७

अर्थ—घुंघची या गुञ्जा या रत्ती के समान वर्णवाला (अत्यन्त लाल), पाकयुक्त एवं भीषण पीड़ा-सहित कुष्ठ "काकण" कहलाता है, यह त्रिदोषज होता है और कभी अच्छा नहीं होता।

अथैकादशक्षुद्रकुष्ठानां लक्षणानि ।

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम् ॥ १७ ॥
तदेककुष्ठं,—

अर्थ—पसीने से रहित तथा बहुत स्थान घेरे हुए मछली की त्वचा के समान (उफना २ सा) जो व्रण होता है, उसे "एककुष्ठ" कहा जाता है।

—चर्माख्यं बहुलं हस्तिचर्मवत् ।

अर्थ—हाथी के चमड़े की-सी (काली-खरदरी) एवं मोटी जो त्वचा हो जाती है उसे "चर्मकुष्ठ[2]" कहते हैं।

श्यावं किण-खरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम् ॥ १८ ॥

अर्थ—काला-सा, व्रण का स्थान खरदरा एवं रूखा (खुश्क) जो कुष्ठ होता है उसे "किटिभ" कहते हैं।

वैपादिकं पाणि-पाद-स्फुटनं तीव्रवेदनम् ।

अर्थ—हाथ की हथेली तथा पैरों के तलवों का फटना एवं अत्यन्त

१—यह जब अत्यन्त साधारण होता है, तब इसे "सेहुवाँ" या "छिम" कहते हैं।

२—इसे "भैंसियादाद" भी कहा जाता है।

पीड़ा होना "वैपादिक[1]" कुष्ठ कहलाता है ।

कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् ॥ १९ ॥

अर्थ—खुजली युक्त एवं लाल गण्डों (गढ़ों बिना मुँह के फोड़ों) से व्याप्त जो कुष्ठ होता है, उसे "अलसक" कहते हैं ।

सकण्डू-राग-पिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ।

अर्थ—खुजली, लाल तथा छोटी २ पिडकाओं से युक्त उफना हुआ-सा प्रायः गोल जो कुष्ठ होता है, उसे "दद्रू[2]" या "दाद" कहते हैं ।

रक्तं सशूलं कण्डूमत् सस्फोटं यद् गलत्यपि ।
तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ॥ २० ॥

अर्थ—लाल, शूल तथा कण्डू से युक्त फफोलोंवाला, उनके फूटने पर गलनेवाला तथा जिसमें छूने से भी वेदना होती हो उसे "चर्मदल" या "चम्मल" कहते हैं ।

सूक्ष्मा बह्वयः पीडकाः स्राववत्यः पामेत्युक्ताः कण्डुमत्यः सदाहाः ।
सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेता ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च ॥२१॥

अर्थ—छोटी २ बहुत सी, पन्छा बहानेवाली, कण्डूयुक्त, एवं खुजाने के पश्चात् दाह से पीड़ित जो फुन्सियाँ निकल आती हैं, उन्हें "पामा" या "पाँव" या "खुजली" कहते हैं । यह जब भयानकरूप से निकलती है तो उसे "कच्छू" कहा जाता है; इसमें फुन्सियाँ बड़ी २ तथा श्वेत मुखवाली निकलती हैं । उनमें बड़ी ही दाह होती है और इसका प्रभाव हाथों तथा चूतड़ों पर अधिक होता है । इसे पामा से पृथक् नहीं समझना चाहिये[3] ।

१—"बिवाई" इससे पृथक् होती है । क्षुद्ररोगों में देखिये ।

२—इन रोगों में जो कण्डू होती है, वह सर्वदा नहीं होती । ज्यों २ खुजाया जाता है, त्यों २ खुजली बढ़ती है, रोगी को बड़े ही आनन्द का अनुभव होता है । कुछ काल तक खुजाते २ रोगी थककर हट जाता है तो उसमें भीषण दाह होने लगता है ।

३—यह रोग शीत काल तथा वसन्त में प्रायः संक्रामकरूप में फैलता है ।

स्फोटाः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ।

अर्थ—लाल एवं काले से, पतली त्वचावाले (अग्नि से जले के समान) जो फफोले उठ आते हैं, उन्हें "विस्फोट" कहा जाता है ।

रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद् बहुव्रणम् ॥ २२ ॥

अर्थ—लाल, काला, दाह एवं पीड़ा से युक्त तथा बहुत-से व्रणोंवाला जो कुष्ठ होता है, उसे "शतारु" कहते हैं ।

सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका । च० चि० अ० ७

अर्थ—कण्डूयुक्त, काली एवं बहुत पन्छा बहानेवाली फुन्सी को "विचर्चिका" कहा जाता है ।

वातजादिकुष्ठानां लक्षणानि ।

खरं श्यावारुणं रूक्षं वातकुष्ठं सवेदनम् ॥ २३ ॥

पित्तात् प्रकथितं दाह-राग-स्रावान्वितं मतम् ।

कफात् क्लेदि घनं स्निग्धं सकण्डू-शैत्य-गौरवम् ॥ २४ ॥

द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं कुष्ठं त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।

अर्थ—उपर्युक्त सब कुष्ठों में जो कुष्ठ खरदरे, काले, लाल, रूखे एवं वेदनायुक्त होते हैं, वे "वातज" कुष्ठ कहे जाते हैं । जो सड़न, दाह, सुर्खी एवं पन्छा बहाने वाले होते हैं, वे "पित्तज" कहे जाते हैं । जो गीले २, मोटे, चिकने तथा कण्डू, शीतता एवं भारीपन से युक्त-होते हैं वे "कफज" कहे जाते हैं और दो २ दोषों के लक्षणों से युक्त "द्विदोषज" तथा तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त "त्रिदोषज" कहे जाते हैं ।

रसादिसप्तधातुगतकुष्ठानां लक्षणानि ।

त्वक्स्थे वैवर्ण्यमङ्गेषु कुष्ठे रौक्ष्यं च जायते ॥ २५ ॥

त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम् ।

अर्थ—जब कुष्ठ का प्रभाव केवल त्वचा पर होता है तो निम्न लक्षण पाये जाते हैं । यथा—शरीर के वर्ण में परिवर्तन, रूखापन, त्वचा में शून्यता, रोमाञ्च एवं पसीना अधिक निकलना ।

कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते ॥ २६ ॥
बाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः ।

अर्थ—जब रक्त पर प्रभाव पड़ता है तो यह लक्षण होते हैं । यथा-कण्डू, पीव निकलना, कुष्ठ की अधिकता, मुखशोथ, शरीर में खरदरापन तथा फुन्सियों का निकलना ।

तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते ॥ २७ ॥

अर्थ—जब मांस पर प्रभाव पड़ता है तो सुई के चुभने की सी पीड़ा, फफोला उठना एवं व्रण चिरकाल तक रहनेवाला होता है ।

कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां संभेदः क्षतसर्पणम् ।
मेदःस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च ॥ २८ ॥

अर्थ—मेदा धातु पर प्रभाव पड़ने से हाथ पैरों की उँगलियाँ गिर जाती हैं, अंगों की गति में रुकावट, व्रणों का फटना, घाव का फैलना एवं पूर्वोक्त कुष्ठ के लक्षण भी हो जाते हैं ।

नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षतेषु क्रिमिसंभवः ।
स्वरोपघातश्च भवेदस्थि-मज्ज-समाश्रिते ॥ २९ ॥

अर्थ—जब अस्थि एवं मज्जा धातु में कुष्ठ होता है तो नाक बैठ जाती है (नाक की तरुणास्थि गलकर गिर जाती है अथवा नाक की बिचली दीवार गल जाने से नाक बैठ जाती है), आँखों में सुरखी आ जाती है, घावों में कृमि पड़ जाते एवं स्वर बिगड़ जाता है ।

दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद् दुष्ट-शोणित-शुक्रयोः ।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥३०॥ सु० नि० अ० ५

अर्थ—यदि स्त्री-पुरुष दोनों या एक का कुष्ठ की अधिकता के कारण शोणित (गर्भोपयोगी रक्त या डिम्ब) तथा शुक्र दूषित[1] हो जाता है तो उनकी जो सन्तान होती है, उसे भी कुष्ठ हो जाता है ।

१—यह दुष्टि शोणित-शुक्र की उत्पादक-शक्ति को नष्ट नहीं करती और इससे होने वाली सन्तान कभी २ जन्म से ही कुष्ठ ग्रस्त होती है अथवा कुछ काल के पश्चात् उसे कुष्ठ हो जाता है ।

कुष्ठस्य साध्यादिभेदाः ।

साध्यं त्वग्-रक्त-मांस-स्थं वातश्लेष्माधिकं च यत् ।
मेदसि द्वन्द्वजं याप्यं वर्ज्यं मज्जा-ऽस्थिसंश्रितम् ।। ३१ ।।

अर्थ—त्वचा, रक्त एवं मांस में स्थित कुष्ठ तथा वात-कफप्रधान कुष्ठ साध्य होता है । मेदा में स्थित तथा द्वंद्वज कुष्ठ याप्य होता है । मज्जा एवं अस्थि का कुष्ठ असाध्य होता है ।

क्रिमि-तृड्-दाह-मन्दाग्नि-संयुक्तं यत् त्रिदोषजम् ।
प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम् ।। ३२ ।।
पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह मानवम् । सु॰ सू॰ अ॰ ३३

अर्थ—क्रिमि, प्यास, दाह, अग्निमान्द्य से युक्त अथवा त्रिदोषज अथवा जो सम्पूर्ण शरीर पर फूट निकला हो तथा जिसमें से पन्छा निकलता हो, रोगी की आँखे लाल होगई हों, स्वर बैठ गया हो, पञ्चकर्म (वमन विरेचनादि) करने पर भी कुछ लाभ न हुआ हो तो कुष्ठ रोगी को मार डालता है ।

कुष्ठेषु दोषाणां सम्बन्धः ।

वातेन कुष्ठं कापालं पित्तेनौदुम्बरं कफात् ।। ३३ ।।
मण्डलाख्यं विचर्ची च ऋष्याख्यं वातपित्तजम् ।
चर्मैककुष्ठं किटिभं सिध्मालसविपादिकाः ।। ३४ ।।
वातश्लेष्मोद्भवाः श्लेष्मपित्ताद् दद्रुशतारुषी ।
पुण्डरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा ।। ३५ ।।
सर्वैः स्यात् काकणं—

अर्थ—"कापाल" वायु से, "औदुम्बर" पित्त से, "मण्डल" एवं "विचर्चिक" कफ से, "ऋष्यजिह्व" वातपित्त से, "चर्म" "एक कुष्ठ" "किटिभ" "सिध्म" "अलसक" एवं "विपादिका" वातकफ से; दद्रु, शतारु, पुण्डरीक, विस्फोट, पामा और कच्छु एवं चर्मदल कफपित्त से तथा काकण कुष्ठ सन्निपात से होता है ।

—पूर्वत्रिकं दद्रु सकाकणम् ।
पुण्डरीकर्ष्यजिह्वे च महाकुष्ठानि सप्त तु ॥ ३६ ॥

अर्थ—पहिले तीन अर्थात् कापाल, औदुम्बर एवं मण्डल, दद्रु, काकण, पुण्डरीक तथा ऋष्यजिह्व यह सात महाकुष्ठ कहे जाते हैं।

किलासकुष्ठस्य लक्षणम् ।
श्वित्र या श्वेत कुष्ठ या फुलबहरी ।

कुष्ठैकसंभवं श्वित्रं किलासं वारुणं भवेत् ।
निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥ ३७ ॥
वाताद्रूक्षारुणं पित्तात् ताम्रं कमलपत्रवत् ।
सदाहं रोमविध्वंसि कफात् श्वेतं घनं गुरु ॥ ३८ ॥
सकण्डूरं क्रमाद्र रक्तमांसमेदःसु चादिशेत् ।
वर्णेनैवेदृगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥ ३९ ॥ वा० नि० अ० १४

अर्थ—श्वित्र कुष्ठ दो प्रकार का होता है १ श्वेत, २ कुछ लाल। इसके कारण वही हैं जो कुष्ठ के। इनमें कुष्ठ के समान किसी प्रकार का स्राव नहीं निकलता। यह तीनों दोषों से उत्पन्न होता है और रक्त, मांस एवं मेदा नामक तीनों[1] धातुओं में इसकी स्थिति होती है। वायु से होनेवाला श्वित्र रूक्ष एवं कुछ लाल, पित्त से कमलपत्र के समान लाल, दाहयुक्त एवं रोम—नाशक (रोम उखड़ जाते हैं) तथा कफ से श्वेत, मोटा, भारीपन से युक्त एवं कण्डूयुक्त होता है, यह तीनों श्वित्र क्रमशः रक्त, माँस एवं मेदा में होते हैं। श्वित्र और किलास में केवल वर्ण का ही भेद है, श्वित्र से किलास कष्टसाध्य होता है।

अथास्य साध्यासाध्यत्वम् ।

अशुक्लरोमाऽबहुलमसंश्लिष्टमथो नवम् ।

१—यद्यपि उक्त तीनों ही धातुओं में रस का आश्रय माना है, किन्तु शुक्र—शोणित पर भी इसका प्रभाव होता है। क्योंकि श्वित्र रोग माता-पिता की सन्तान में भी होता देखा गया है।

अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥ ४० ॥

अर्थ—श्वित्र स्थान के रोम सुफेद न हो गये हों, मोटा न हो, श्वित्र दाग आपस में मिल न गये हों, नया हो तथा अग्नि के कारण उत्पन्न न हुआ हो, तो श्वित्र साध्य होता है। इसके विपरीत असाध्य।

गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम्।
वर्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता ॥ ४१ ॥ वा० नि० अ० ५

अर्थ—लिंग, योनि, हाथ की हथेली एवं ओठों पर जो किलास या श्वित्र होता है, वह नया ही क्यों न हो तो भी असाध्य होता है।

संक्रामकरोगाणामुपसंख्यानम्।

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शाद् निःश्वासात् सहभोजनात्।
एकाशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥ ४२ ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ ४३ ॥ सु० नि० अ० ५

अर्थ—मैथुन करने से, शरीर का स्पर्श करने से, साँस द्वारा वायु का भीतर प्रवेश होने से, एक थाली में भोजन करने से, एक बिस्तर पर सोने तथा एक आसन पर बैठने से; वस्त्र, माला तथा लेप, उबटन आदि के सेवन से, कुष्ठ, ज्वर, शोष (यक्ष्मा), नेत्राभिष्यन्द तथा और भी प्रतिश्याय, विसूची, सुजाक, आतशक आदि संक्रामक रोग एक से दूसरे मनुष्य पर संक्रमण कर लेते हैं।

शीतपित्तोदर्दकोठनिदानम्।

[१]शीतपित्तरोगस्य सम्प्राप्तिः।

शीतमारुतसंस्पर्शात् प्रदुष्टौ कफमारुतौ।

१—यह प्रायः अल्पकालस्थायी रोग है। इसका मुख्य लक्षण है कि सहसा धप्पड़ निकल आते हैं और घण्टा दो घण्टा में मिट जाते हैं। जब इसका दौरा होने लगता है तो इसे "कोठ" कहा जाता है। दौरे का अन्तर एक घण्टा से वर्षों तक भी होता है। पञ्जाब में इस रोग को "रक्तपित्ती" या "पित्ती" कहते हैं।

पित्तेन सह संभूय बहिरन्तर्विसर्पतः ॥ १ ॥

अर्थ—शीत वायु लगने से कफ तथा वायु दुष्ट होकर एवं पित्त के साथ मिल कर त्वचा और रक्त में विकृति उत्पन्न कर देते हैं।

शीतपित्तस्य पूर्वरूपाणि ।

पिपासा-ऽरुचि-हृल्लास-देहसादाऽङ्गगौरवम् ।
रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम् ॥ २ ॥

अर्थ—उपर्युक्त सम्प्राप्ति के अनन्तर प्यास, अरुचि, जी मिचलाना, शरीर में अवसन्नता, अंगों में भारीपन एवं आँखों में सुर्खी यह पूर्वरूप हो जाते हैं।

अथोदर्दरोगस्य लक्षणानि ।

वरटीदष्टसंस्थानः शोथः संजायते बहिः ।
सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दि-ज्वर-विदाहवान् ॥ ३ ॥
उदर्दमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे ।
वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्वरूप के अनन्तर त्वचा पर बर्रे (भिण्ड) के दंशस्थान के समान शोथ[1] हो जाता है, इस शोथ में कण्डू एवं सुई के चुभने की-सी पीड़ा होती है; वमन,[2] ज्वर एवं दाह होता है। बस इसे "उदर्द" जानना चाहिये। कुछ आचार्य इसे "शीतपित्त" भी कहते हैं। एक ही रोग के दो नाम रखने का हेतु यह है कि शीतपित्त में वायु की प्रबलता एवं उदर्द में कफ की प्रबलता होती है।

अथोदर्दरोगस्य लक्षणान्तरम् ।

सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः ।

१—इसे "धप्पड़" या "चकत्ता" कहा जाता है। वह शरीर पर २-४ से लेकर सैकड़ों तक होते हैं। कभी—कभी सम्पूर्ण शरीर में एक जैसा व्याप्त हो जाता है।

२—यह लक्षण भी है और उपशय भी।

शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः ॥ ५ ॥

अर्थ—बीच से निम्न, लाल, कण्डूयुक्त जो मण्डल या चकत्ते निकल आते हैं, उन्हें "उदर्द" कहा जाता है। यह कफज रोग है, इसका वेग प्रायः शीतकाल में होता है।

कोठरोगस्य लक्षणानि।

असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः।
मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च।
उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते ॥ ६ ॥

अर्थ—अनुचित वमन के कारण बढ़े हुए पित्त कफ से तथा वमन के रोकने से जो शरीर पर कण्डूयुक्त लाल २ बहुत-से चकत्ते निकल आते हैं (और शान्त हो जाते हैं), उन्हें "कोठ" कहा जाता है; किन्तु यदि इसका बार—बार दौरा होता है, तो इसीको "उत्कोठ" कहा जाता है।

अम्लपित्तनिदानम्।[1]

अथाम्लपित्तस्य सहेतुकं स्वरूपम्।

विरुद्ध–दुष्टाम्बु–विदाहि–पित्तप्रकोपि–पानान्न–भुजो विदग्धम्।
पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा यत् तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः ॥ १ ॥

अर्थ—पहिले ही अपने कारणों से सञ्चित और पुनः विरोधी (वीर्यविरुद्ध), दूषित (गले-सड़े), अम्ल, विदाहकारी एवं पित्त को विकृत करनेवाले अन्नपान के सेवन करने से जो पित्त विदग्ध अर्थात् खट्टा हो जाता है उससे होनेवाले रोग को "अम्लपित्त" कहते हैं।

अथाम्लपित्तस्य लक्षणानि।

अविपाक–क्लमोत्क्लेश–तिक्ताम्लोद्गार–गौरवैः।
हृत्–कण्ठदाहा–ऽरुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद्भिषक् ॥ २ ॥

१—पाचक पित्त विदग्ध होकर अधिक मात्रा में भुक्त-भोजन में मिल जाता है, अतः वह खट्टा हो जाता है, बस यही "अम्लपित्त" है।

अर्थ—अन्न का न पचना, सुस्ती, जी मिचलाना, कडुवे एवं खट्टे डकार आना, शरीर में भारीपन, हृदय तथा गले में दाह एवं अरुचि इन लक्षणों से युक्त "अम्लपित्त" नामक रोग कहना चाहिये।

अम्लपित्त तीन प्रकार का होता है। १—अधोगामी, २—ऊर्ध्वगामी, ३—उभयगामी।

अथाधोगताम्लपित्तस्य लक्षणानि।

तृड्-दाह-मूर्च्छा-भ्रम-मोहकारि प्रयात्यधो वा विविधप्रकारम्।
हृल्लास-कोठानलसाद-हर्ष-स्वेदाङ्गपीतत्वकरं कदाचित् ॥ ३ ॥

अर्थ—प्यास दाह, मूर्च्छा, भ्रम एवं मोह (अर्द्धमूर्च्छा) को करनेवाला तथा भिन्न भिन्न प्रकार से गुदमार्ग द्वारा (अतिसार के समान) निकलनेवाला अम्लपित्त "अधोगामी अम्लपित्त" कहलाता है। इससे कभी २ निम्नलिखित लक्षण हो जाते हैं—जी मिचलाना, कोठ (शीतपित्त देखिये), अग्निमान्द्य, रोमहर्ष, पसीना एवं अंगों में पीलापन।

अथोर्ध्वगामिनोऽम्लपित्तस्य लक्षणानि।

वान्तं हरित्-पीतक-नील-कृष्णमारक्तरक्ताभमतीव चाम्लम्।
मांसोदकाभं त्वतिपिच्छिलाच्छं श्लेष्मानुजातं विविधं रसेन ॥४॥
भुक्ते विदग्धे त्वथवाऽप्यभुक्ते करोति तिक्ताम्लवमिं कदाचित्।
उद्गारमेवंविधमेव कण्ठ-हृत्-कुक्षि-दाहं शिरसो रुजं च ॥५॥
कर-चरण-दाहमौष्ण्यं महतीमरुचिं ज्वरं च कफपित्तम्।
जनयति कण्डू-मण्डल-पिडकाशतनिचितगात्र-रोगचयम् ॥६॥

अर्थ—हरी, पीली, नीली, काली, अत्यन्त लाल अथवा कुछ लाल, अत्यन्त खट्टी, मांस के धोवन की सी, अत्यन्त लसदार, स्वच्छ, कफमिश्रित तथा अनेक प्रकार के रस से युक्त वमन होती है। कभी २ आहार के पाककाल में अथवा पच जाने पर कडुई और खट्टी कै होती है और इसी प्रकार का उद्गार (डकार) भी आता है। कण्ठ, हृदय तथा पेट में दाह होता है। शिर में पीड़ा होती है। इससे हाथ पैरों में दाह, शरीर या उरःस्थल में गर्मी या जलन, भीषण अरुचि, ज्वर, कफ-

पित्त (इसका लक्षण नीचे लिखा है) नामक रोग, कण्डू, धप्पड़, फुन्सियों से शरीर का व्याप्त हो जाना, यह लक्षण "ऊर्ध्वगामी" अम्लपित्त के हैं।

अथाम्लपित्तरोगस्य साध्यासाध्यत्वम्।

रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो यत्नात् संसाध्यते नवः।
चिरोत्थितो भवेद्याप्यः कृच्छ्रसाध्यः स कस्यचित् ॥७॥

अर्थ—यह "अम्लपित्त" नामक रोग प्रारम्भिक अवस्था में यत्न-पूर्वक चिकित्सा करने से अच्छा हो सकता है और पुराना याप्य हो जाता है। किसी-किसी रोगी का कष्ट साध्य भी हो जाता है।

अथात्र वातश्लेष्मणोः सम्बन्धः।

सानिलं सानिलकफं सकफं तच्च लक्षयेत्।
दोषलिङ्गेन मतिमान् भिषङ्मोहकरं हि तत् ॥ ८ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिये कि इस रोग में वायु, वात-कफ तथा कफ का सम्बन्ध निम्नलिखित लक्षणों द्वारा भली प्रकार समझ लेवे। क्योंकि यह रोग चिकित्सक को धोखे[1] में डाल देता है।

कम्प-प्रलाप-मूर्च्छा-चिमिचिमि-गात्रावसाद-शूलानि।
तमसो दर्शन-विभ्रम-विमोह-हर्षाण्यनिलकोपात् ॥ ९ ॥

अर्थ—वायु की अधिकता से निम्न लक्षण हो जाते हैं—कम्प, प्रलाप, मूर्च्छा शरीर में चुनचुनाहट एवं अवसन्नता, शूल, आँखों के आगे अँधेरा आना, चक्कर, बदहोशी एवं रोमाञ्च।

कफनिष्ठीवन–गौरव–जडताऽरुचि–शीत–साद–वमि–लेपाः।
दहन–बल-साद-कण्डू-निद्राचिह्नं कफानुगते ॥ १० ॥

अर्थ—कफ की अधिकता से निम्न लक्षण होते हैं-कफ का थूकना, शरीर में भारीपन एवं जकड़न, अरुचि, शीत लगना, अवसन्नता, कै, मुख या शरीर भर में चिपचिपाहट, अग्नि तथा बल की हानि, खुजली तथा नींद की अधिकता।

१—अधोगामी में "पित्तातिसार" तथा ऊर्ध्वगामी में "छर्दि" रोग का भ्रम हो सकता है।

उभयमिदमेव चिह्नं मारुत-कफ-संभवे भवत्यम्ले ।

अर्थ—वायु एवं कफ से होने वाले अम्लपित्तमें उपर्युक्त दोनों लक्षण पाये जाते हैं।

तिक्ताम्ल-कटुकोद्‌गार-हृत्-कुक्षि-कण्ठ-दाहकृत् ॥ ११ ॥
भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिरालस्यं च शिरोरुजा ।
प्रसेको मुखमाधुर्यं श्लेष्मपित्तस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

अर्थ—"कफपित्त" नामक रोग का लक्षण यह है—कडुवे, खट्टे एवं चरपरे डकार, हृदय, पेट तथा गलेमें दाह, भ्रम, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, आलस्य, शिर में पीड़ा, मुख से पानी जाना और मुख में मीठापन।

विसर्पनिदानम्[1]

विसर्परोगस्य हेतवो भेदाश्च ।

लवणाम्ल-कट्‌वुष्णादि-संसेवा-दोषकोपतः ।
विसर्पः सप्तधा ज्ञेयः सर्वतः परिसर्पणात् ॥ १ ॥
पृथक्त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः ।
वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः ॥ २ ॥
चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ।
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थाख्यः कफवातजः ॥ ३ ॥
यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः । च० चि० अ० ११

अर्थ—नमकीन, खट्टे, चरपरे तथा उष्णवीर्य द्रव्यों के अति सेवन से कुपित वातादि दोषों से सात प्रकार का "विसर्प" नामक रोग हो जाता है। यह सब फैलने के कारण ही "विसर्प" कहलाता है। तीनों दोषों से तीन, सन्निपात से एक तथा द्विदोषज तीन इस प्रकार सात

१—विसर्प तथा कुष्ठ के दोष एवं दूष्यों में कोई अन्तर न होने पर भी दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। लक्षणों पर ध्यान दीजिये। विसर्प शीघ्र ही शान्त हो जाता है अथवा मार डालता है और कुष्ठ दीर्घकालानुबन्धी होता है।

तरह का होता है—वातिक, पैत्तिक, कफज तथा सन्निपातज, इस प्रकार चार तथा द्वन्द्वज तीन यथा वातपित्त से "आग्नेय" कफवात से "ग्रन्थि" नामक एवं पित्तकफ से "कर्दमक" नामक भीषण विसर्प होता है। इन सबका विवरण आगे दिया जायगा।

विसर्पाणां समुत्पत्तौ दूष्य-दोष-सम्बन्धस्तल्लक्षणानि च।

रक्तं लसीका त्वङ्-मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ॥ ४ ॥

विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः।

अर्थ—रक्त, लसीका, त्वचा एवं मांस यह चार दूष्य तथा वात, पित्त तथा कफ यह तीन दोष इस प्रकार सब मिलाकर सात धातु विसर्पों की उत्पत्ति के कारण होते हैं।

तत्र वातात् स वीसर्पो वातज्वरसमव्यथः ॥ ५ ॥

शोथ-स्फुरण-निस्तोद-भेदाऽऽयासार्ति-हर्षमान्।

पित्ताद् द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ॥६॥ च० चि० अ० १२

कफात् कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक्।

सन्निपातसमुत्थश्च सर्वलिङ्गसमन्वितः ॥ ७ ॥ वा० नि० अ० १३

अर्थ—वायु से जो विसर्प होता है उसके सब लक्षण वातज्वर के ही समान होते हैं किन्तु नीचे लिखे लक्षण अधिक होते हैं—शोथ, फड़कन, सूई के चुभने की-सी पीड़ा, फटने की-सी पीड़ा, थकावट, पीड़ा एवं रोमहर्ष। पित्त से जो विसर्प होता है उसमें पित्तज्वर के लक्षणों के अतिरिक्त विसर्प अत्यन्त लाल एवं शीघ्र फैलनेवाला होता है। कफज विसर्प में कफज्वर के लक्षणों के साथ २ विसर्प में खुजली एवं स्निग्धता होती है। सन्निपातज विसर्प उपर्युक्त तीनों दोषोंके लक्षणों से युक्त होता है।

अथाग्निविसर्पस्य लक्षणानि।

वातपित्ताज्ज्वर-च्छर्दि-मूर्च्छाऽतीसार-तृड्-भ्रमैः।

ग्रन्थिभेदाग्निसदनतमकारोचकैर्युतः ॥ ८ ॥

करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत् ।
यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत् स सः ॥ ९ ॥
शान्ताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाऽऽशु च चीयते ।
अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद् द्रुतं स च ॥ १० ॥
मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः ।
व्यथतेऽङ्गं हरेत् संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ॥ ११ ॥
हिक्कां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना ।
कचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमि-शय्याऽऽसनादिषु ॥ १२ ॥
चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनो-देह-प्रमोहवान् ।
दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते ॥ १३ ॥

वा० नि० अ० १३

अर्थ—वातपित्त से जो विसर्प होता है उसमें वमन, मूर्च्छा, अतिसार, प्यास, भ्रम, ग्रन्थिभेद[1] (सन्धियों में फटने की सी पीड़ा), अग्निमान्द्य, आँखों के आगे अँधेरा एवं अरुचि होती है। यह विसर्प सम्पूर्ण शरीर को जलते हुए अंगारों के समान दाहयुक्त कर देता है। जिस भाग में फैलता है वह कोयले के समान काला, नीला अथवा लाल हो जाता और वहाँ अग्नि से जले हुए के समान फफोले उठ आते हैं। यह विसर्प शीघ्रगामी होने के कारण किसी न किसी मर्म पर शीघ्र ही पहुँच जाता है। इस कारण वायु अत्यन्त प्रबल हो जाता है। अंगों में पीड़ा होती है। संज्ञा एवं नींद नष्ट हो जाती है। श्वास और हिचकी बढ़ जाती है। वह बेचारा रोगी मनुष्य ऐसी अवस्था में पहुंच कर किसी प्रकार भूमि, शय्या एवं आसन आदी में सुख लाभ नहीं करता। दुखी होकर हाथ पाँव पटकता है, मानसिक एवं शारीरिक ज्ञान से रहित हो जाता है जिसे प्राप्त होकर कोई भी नहीं जागता ऐसी नींद को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् मर जाता है। इसे "अग्निविसर्प" कहते हैं।

---

[1]—ग्रन्थकर्ता ने वाग्भट के कथनानुसार 'ग्रन्थिभेद' लिखा है, परन्तु इसकी जगह 'सन्धिभेद' अधिक उपयुक्त है। चरक देखिये।

ग्रन्थिविसर्पस्य लक्षणानि ।

कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुधा कफम् ।
रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्-सिरा-स्नायु-मांसगम् ॥१४॥
दूषयित्वा तु दीर्घाणु-वृत्त-स्थूल-खरात्मनाम् ।
ग्रन्थीनां कुरुते मालां सरक्तां तीव्र-रुग्-ज्वराम् ॥१५॥
श्वास-कासाऽतिसाराऽऽस्यशोष-हिक्का-वमि-भ्रमैः ।
मोहवैवर्ण्य-मूर्च्छाऽङ्गभङ्गाग्निसदनैर्युताम् ॥१६॥
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफ-मारुत-कोपजः । वा० नि० अ० १३

अर्थ—वायु कफ से रुक जाता है तत्पश्चात् कफ को फाड़ देता है अथवा अधिक रक्तवाले पुरुष की त्वचा, सिरा, स्नायु एवं मांस में गये हुए रक्त को दूषित कर लम्बी, छोटी अथवा गोल, मोटी एवं खर्दरी बहुत सी गांठें उत्पन्न कर देता है । यह गाँठ कुछ लाल होती हैं । इनसे भीषण पीड़ा, ज्वर, श्वास, कास, अतिसार, मुखशोष, हिचकी, कै, भ्रम, मोह, विवर्णता, मूर्च्छा, अंगों में टूटने की सी पीड़ा एवं अग्निमान्द्य हो जाता है । यह कफवात के कोप से होने वाला "ग्रन्थिविसर्प" कहलाता है ।

कर्दमविसर्पस्य लक्षणानि ।

कफपित्ताज्ज्वरः स्तम्भो निद्रा तन्द्रा शिरोरुजा ॥१७॥
अङ्गावसादविक्षेपौ प्रलापाऽरोचकभ्रमाः ।
मूर्च्छाग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रियगौरवम् ॥ १८ ॥
आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति ।
प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशं न चातिरुक् ॥ १९ ॥
पिडकैरवकीर्णोऽतिपीत-लोहित-पाण्डुरैः ।
स्निग्धोऽसितो मेचकाभो मलिनः शोथवान् गुरुः ॥२०॥
गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते ।

पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्ट-स्नायु-सिरा-गणः ॥ २१ ॥
शवगन्धी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम् । वा० नि० अ० १३

अर्थ—कफपित्त के कारण जो विसर्प होता है उससे ज्वर, शरीर की जकड़न, नींद, उँघाई, शिर में पीड़ा, अंगों में अवसन्नता एवं उन्हें इधर-उधर पटकना, प्रलाप, अरुचि, भ्रम, मूर्च्छा, अग्निमान्द्य, हड्डियों में फटने की सी पीड़ा, प्यास, इन्द्रियों में भारीपन अर्थात् विषय ग्रहण में दुर्बलता, आम पड़ना अर्थात् आमातिसार एवं मुख नासा आदि स्रोतों में चिपचिपाहट होती है और यह विसर्प कहीं भी उत्पन्न होकर प्रायः आमाशय की ओर (अर्थात् नाभि तथा स्तनों के मध्य भाग में) फैलता है। इसमें अधिक पीड़ा नहीं होती तथा अत्यन्त पीली, लाल एवं श्वेत फुन्सियाँ निकल आती हैं। यह विसर्प चिकना, कुछ काला, मैला, शोथयुक्त भारी, गहरे पाक से युक्त एवं अधिक ऊष्मा से युक्त होता है। स्पर्श करते ही फुन्सियाँ फूट जाती हैं, उनमें से पन्छा निकलता रहता है। मांस गलने के कारण उस स्थान में कीचड़ सा हो जाता है और स्नायु तथा शिराएँ स्पष्ट दिखाई पड़ने लगती हैं। उसमें से मुरदे की सी गन्ध आती है। इस विसर्प को "कर्दम" (कीचड़ सा होने के कारण) कहते हैं।

क्षतविसर्पस्य लक्षणानि।

बाह्यहेतोः क्षतात् क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् ॥२२॥
वीसर्पं मारुतः कुर्यात् कुलत्थसदृशैश्चितम्।
स्फोटैः शोथ-ज्वर-रुजा-दाहाढ्यं श्यावशोणितम् ॥२३॥

अर्थ—बाहरी कारणों से (अर्थात् विषदग्ध शस्त्र अथवा विषैले दाँत तथा नाखून लगने से) जो घाव होता है उससे कुपित वायु रक्त-युक्त पित्त को प्रेरित कर "विसर्प" कर देता है। उस स्थान में कुलथी के बीजों के-से फफोले निकल आते हैं और साथ ही शोथ, ज्वर, पीड़ा, दाह एवं रक्त काला हो जाता है। इसे "क्षतज" कहते हैं।

ज्वरातिसारो वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः।

अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः ॥२४॥ सु० नि० अ० १०

अर्थ—विसर्पों में निम्नलिखित उपद्रव भी हो जाते हैं—ज्वर, अतिसार, कै, त्वचा और मांस का फटना, सुस्ती, अरुचि एवं अनपच।

विसर्पस्य साध्यासाध्यलक्षणानि।

सिध्यन्ति वात-कफ-पित्त-कृता विसर्पाः
सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति।
पित्तात्मकोऽञ्जनवपुश्च भवेदसाध्यः
कृच्छ्राश्च मर्मसु भवन्ति हि सर्व एव ॥२५॥

अर्थ—वातज, कफज एवं पित्तज विसर्प अच्छे हो जाते हैं, किन्तु सन्निपातज तथा क्षतज विसर्प कभी अच्छे नहीं होते। और वह पित्तज विसर्प भी जिसके कारण शरीर काला हो जाय असाध्य होता है तथा मर्मस्थानों के सभी विसर्प कष्टसाध्य होते हैं।

विस्फोटनिदानम्।[1]

विस्फोटरोगस्य हेतवः।

कट्वम्ल-तीक्ष्णोष्ण-विदाहि-रूक्ष-क्षारैरजीर्णाध्यशनातपैश्च।
तथर्तुदोषेण विपर्ययेण कुप्यन्ति दोषाः पवनादयस्तु ॥१॥
त्वचमाश्रित्य ते रक्त-मांसाऽस्थीनि प्रदूष्य च।
घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान् ॥२॥

अर्थ—चरपरे, खट्टे, उष्णवीर्य, विदाहकारी, रूक्ष एवं खारे पदार्थों के अधिक सेवन से, अनपच से, भोजन के न पचने पर भी दुबारा भोजन करने से तथा धूप लगने से, ऋतुकाल की विकृति से एवं ऋतु-काल के सर्वथा परिवर्तन से वायु आदि दोष कुपित हो जाते हैं। वे दोष

१—इस रोग का आक्रमण युवा एवं वृद्धों की अपेक्षा बच्चों पर अधिक होता है। अन्य ऋतुओं की अपेक्षा वसन्त में अधिक होता है। यह संक्रामक भी होता है। कभी कभी जनपदोद्ध्वंस के रूप फैलता है वर्त्तमान हिन्दूसमाज औषधि की अपेक्षा पूजा आदि पर अधिक श्रद्धा रखता है, अस्तु।

त्वचा में आश्रित होकर रक्त, मांस एवं अस्थियों को दूषित करके भीषण विस्फोटों (सुफेद फुन्सियों) को उत्पन्न कर देते हैं। इनके दिखाई पड़ने के पहिले (३—४ दिन पहिले से) ज्वर आ जाता है। इस रोग को "विस्फोट" या बड़ी माता, कहते हैं।

विस्फोटकानां लक्षणानि।

अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्तजाः।
क्वचित् सर्वत्र वा देहे विस्फोटा इति ते स्मृताः॥ ३॥

अर्थ-शरीर पर कहीं कहीं (प्रायः माथेपर बालों की सीमा के नीचे अवश्य होते हैं) या सब जगह (तिल रखने योग्य स्थान भी नहीं बच जाता है) जो अग्निदग्ध के समान फफोले (बड़ी बड़ी फुन्सियाँ) निकल आते हैं, उन्हें "विस्फोट" कहा जाता है। इसका पूर्वरूप ज्वर होता है और यह रक्तपित्त के कोप से होते हैं।

शिरोरुक् शूलभूयिष्ठं ज्वरस्तृट् पर्वभेदनम्।
सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम्॥ ४॥

अर्थ—शिर में पीड़ा, शरीर में भीषण शूल, ज्वर, प्यास, सन्धियों में फटने की सी पीड़ा एवं शरीर में कुछ कालापन, यह वातज विस्फोट के लक्षण हैं।

ज्वर-दाह-रुजा-स्राव-पाक-तृष्णाभिरन्वितम्।
पीत-लोहित-वर्णं च पित्तविस्फोटलक्षणम्॥ ५॥

अर्थ—ज्वर, दाह, पीड़ा, विस्फोटों में से स्राव निकलना तथा उनका पकना, प्यास एवं शरीर या फफोलों का वर्ण पीला या लाल होना, यह पित्तज विस्फोट का लक्षण है।

छर्द्यरोचकजाड्यानि कण्डू-काठिन्य-पाण्डुताः।
अवेदनश्चिरात् पाकः स विस्फोटः कफात्मकः॥ ६॥

अर्थ—कै, अरुचि, सुस्ती, विस्फोटों में खुजली, कठोरता, सुफेदी, थोड़ी पीड़ा तथा विलम्ब (२१ दिन) से पाक यह कफज विस्फोट का लक्षण है।

वातपित्तकृतो यस्तु कुरुते तीव्रवेदनाम् ।
कण्डू-स्तैमित्य-गुरुभिर्जानीयात्कफवातिकम् ॥ ७ ॥
कण्डूर्दाहो ज्वरश्छर्दिरेतैस्तु कफपैत्तिकः ।

अर्थ—वातपित्तज (द्वन्द्वज) विस्फोटों में भीषण पीड़ा, कफवातज विस्फोटों में खुजली, गीलापन तथा भारीपन और कफपित्तज विस्फोटों में खुजली, दाह, ज्वर, तथा कै, यह लक्षण होते हैं ।

सान्निपातिकविस्फोटकस्य लक्षणानि ।

मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते च कठिनोऽल्पप्रपाकवान् ॥ ८ ॥
दाह-राग-तृषा-मोह-च्छर्दि-मूर्च्छा-रुजा-ज्वराः ।
प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्यः स्यात् त्रिदोषजः ॥ ९ ॥

अर्थ—जो विस्फोट बीच से निम्न तथा सब ओर से ऊँचे अर्थात् गड्ढेदार एवं कठोर होते हैं, थोड़े पाक से युक्त, दाह, वर्ण (काला, लाल या पीला एवं श्वेत) से युक्त, मोह, कै, मूर्च्छा, पीड़ा, ज्वर, प्रलाप, कम्प एवं तन्द्रा से युक्त होते हैं, वे त्रिदोषज अतएव असाध्य होते हैं ।

रक्तजविस्फोटकस्य लक्षणानि ।

रक्ता रक्तसमुत्थाना गुञ्जा-विद्रुमसन्निभाः ।
वेदितव्यास्तु रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना ॥ १० ॥
न ते सिद्धिं समायान्ति सिद्धैर्योगशतैरपि ।

अर्थ—रक्तज विस्फोट लाल तथा घुँघची (गुञ्जा, रत्ती) तथा मूंगे के सदृश आकृतिवाले होते हैं, यह रक्त पित्त की विकृति से होते हैं और सैकड़ों सिद्धयोगों से भी अच्छे नहीं हो सकते ।

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ।
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ॥ ११ ॥

अर्थ—एक दोषज विस्फोट साध्य, द्विदोषज कष्टसाध्य तथा त्रिदोषज और उपद्रवों से युक्त असाध्य होता है ।

हिक्का श्वासोऽरुचिस्तृष्णा अङ्गसादो हृदि व्यथा ।

विसर्पज्वरहृल्लासा विस्फोटानामुपद्रवाः ॥ १२ ॥

अर्थ—यह विस्फोटों के उपद्रव हैं।

मसूरिकानिदानम् ।[1]

मसूरिकारोगस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः ।

कट्वम्ल-लवण-क्षार-विरुद्धाध्यशनाशनैः ।
दुष्ट-निष्पाव-शाकाद्यैः प्रदुष्ट-पवनोदकैः ॥ १ ॥
क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषाः समुद्धताः ।
जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गताः ॥ २ ॥
मसूराकृतिसंस्थानाः पिडकाः स्युर्मसूरिकाः ।

अर्थ—कटु, अम्ल, लवण, खारे, विरोधी द्रव्यों के सेवन से, अध्यशन करने से, सड़े हुए मटर या शाक खाने से, जल-वायु में विकृति हो जाने से, प्रान्त पर क्रूर ग्रह की दृष्टि पड़ने से, वायु आदि दोष कुपित हो जाते हैं तथा शरीर में रक्त से मिलकर मसुरी के समान आकृतिवाली फुन्सि-यों को उत्पन्न कर देते हैं, उनको "मसूरिका" कहते है।

मसूरिकायाः पूर्वरूपाणि ।

तासां पूर्वं ज्वरः कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिर्भ्रमः ॥ ३ ॥
त्वचि शोथः सवैवर्ण्यो नेत्ररागश्च जायते ।

अर्थ—इसका पूर्वरूप यह है—ज्वर, खुजली, शरीर में टूटने की सी पीड़ा, बेचैनी, चक्र, त्वचा पर शोथ तथा सुर्खी और आँखों में भी सुर्खी।

वातजमसूरिकाया लक्षणानि ।

स्फोटाः श्यावारुणा रूक्षास्तीव्रवेदनयाऽन्विताः ॥ ४ ॥
कठिनाश्चिरपाकाश्च भवन्त्यनिलसंभवाः ।
सन्ध्यस्थिपर्वणां भेदः कासः कम्पोऽरतिः क्लमः ॥ ५ ॥

१—इसे छोटी माता कहते हैं। क्योंकि इसके दाने विस्फोट की अपेक्षा छोटे होतेहैं ।

शोषस्ताल्वोष्ठजिह्वानां तृष्णा चारुचिसंयुता ।

अर्थ—वातज विस्फोट (मसूरिका के दाने) काले, लाल, रूखे, वेदनायुक्त, कठोर एवं देर से पकनेवाले होते हैं। इसके लक्षण यह हैं—सन्धियों, हड्डियों एवं पर्वों में फटने की-सी पीड़ा, कास, कम्प, बेचैनी, सुस्ती, तालु, ओठ तथा जीभ का सूखना, तृष्णा एवं अरुचि।

पित्तजमसूरिकाया लक्षणानि ।

रक्ताः पीतासिताः स्फोटाः सदाहास्तीव्रवेदनाः ॥ ६ ॥
भवन्त्यचिरपाकाश्च पित्तकोपसमुद्भवाः ।
विड्भेदश्चाङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिस्तथा ॥ ७ ॥
मुखपाकोऽक्षिरागश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः ।

अर्थ—पित्तज विस्फोट लाल, पीले, काले, दाह तथा वेदना से युक्त एवं शीघ्र ही पकनेवाले होते हैं। पित्तज मसूरिका के लक्षण यह हैं—अतिसार, शरीर में मर्दन की-सी पीड़ा, दाह, प्यास, अरुचि, मुखपाक, आँखों में सुर्खी तथा भीषण और असह्य ज्वर।

रक्तजमसूरिकाया लक्षणानि ।

रक्तजायां भवन्त्येते विकाराः पित्तलक्षणाः ॥ ८ ॥

अर्थ—रक्तज मसूरिका में पित्तज मसूरिका के ही सब लक्षण होते हैं।

कफजमसूरिकाया लक्षणानि ।

कफप्रसेकः स्तैमित्यं शिरोरुग्गात्रगौरवम् ।
हृल्लासः सारुचिर्निद्रा तन्द्राऽऽलस्य-समन्विताः ॥ ९ ॥
श्वेताः स्निग्धा भृशं स्थूलाः कण्डुरा मन्दवेदनाः ।
मसूरिकाः कफोत्थाश्च चिरपाकाः प्रकीर्तिताः ॥ १० ॥

अर्थ—कफज मसूरिका के लक्षण यह हैं—यथा कफ जाना, शरीर में गीलापन, शिर में पीड़ा, शरीर में भारीपन, जी मिचलाना, अरुचि, नींद की अधिकता, तन्द्रा एवं आलस्य। इसकी फुन्सियाँ श्वेत, चिकनी,

उपर्युक्त मसूरिकाओं की अपेक्षा बड़ी बड़ी, कण्डूयुक्त, थोड़ी वेदनावाली तथा विलम्ब से पकनेवाली होती हैं ।

सान्निपातिकमसूरिकाया लक्षणानि ।

नीलाश्चिपिटविस्तीर्णा मध्ये निम्ना महारुजाः ।
चिरपाकाः पूतिस्रावाः प्रभूताः सर्वदोषजाः ॥ ११ ॥
कण्ठरोधाऽरुचिस्तम्भप्रलापाऽरति-संयुताः ।
दुश्चिकित्स्याः समुद्दिष्टाः पिडकाश्चर्मसंज्ञिताः ॥ १२ ॥

अर्थ—सन्निपातज मसूरिका के दाने नीले, चिपटे, चौड़े, बीच से गड्ढेदार, अत्यधिक पीड़ा से युक्त, विलम्ब से पकने वाले, दुर्गन्धियुक्त स्राव बहानेवाले तथा संख्या में बहुत होते हैं । इसके लक्षण यह हैं—कण्ठ रुकना, अरुचि, शरीर की जकड़न, प्रलाप तथा बेचैनी । यह मसूरिका कष्टसाध्य होती है । इसे "चर्म" भी कहा जाता है ।

रोमान्तिकाया लक्षणानि ।

रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः ।
कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः ॥ १३ ॥

अर्थ—मसूरिका का ही भेद रोमान्तिका होती है । उसका विवरण इस प्रकार है—जैसे घाम या पित्ती निकलने में अत्यन्त छोटी २ फुन्सियाँ हो जाती हैं, ठीक वैसी ही यह होती हैं । इनका वर्ण लाल होता है । कफपित्त से उत्पन्न होती हैं । कास तथा अरुचि से युक्त होती हैं । इनका पूर्व रूप ज्वर होता है । इसे खसरा कहते हैं ।

रसादिसप्तधातुगतमसूरिकाणां लक्षणानि ।

तोयबुद्बुदसंकाशास्त्वग्गतास्तु मसूरिकाः ।
स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च ॥ १४ ॥

अर्थ—त्वचागत मसूरिका की फुन्सियाँ पानी के बुलबुले के समान होती हैं । इनमें रोगी को अधिक कष्ट नहीं होता । जब यह फूटती है तो पानी निकलता है ।

रक्तस्था लोहिताकाराः शीघ्रपाकास्तनुत्वचः ।

साध्या नात्यर्थदुष्टाश्च भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च ॥ १५ ॥

अर्थ—रक्तगत मसूरिका की फुन्सियाँ लाल, शीघ्र पकनेवाली तथा पतली त्वचावाली होती हैं। ये यदि अत्यन्त दूषित न हो गयीं हों तो सुखसाध्य होती हैं। जब फूटती तो रक्त या लाल पन्छा निकलता है।

मांसस्थाः कठिनाः स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वचः।

गात्रशूल-तृषा-कण्डू-ज्वरा-रति-समन्विताः ॥ १६ ॥

अर्थ—मांसगत मसूरिका कठोर, चिकनी, देर से पकनेवाली, मोटी त्वचावाली, शरीर में पीड़ा, प्यास, कण्डू, ज्वर तथा बेचैनी से युक्त होती है।

मेदोजा मण्डलाकारा मृदवः किंचिदुन्नताः।

घोरज्वरपरीताश्च स्थूलाः स्निग्धाः सवेदनाः ॥ १७ ॥

संमोहा-ऽरति-संतापाः कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेत्।

अर्थ—मेदोगत मसूरिका गोल (चकत्तीदार), कोमल, कुछ ऊँची, भीषण ज्वर से युक्त, मोटी, चिकनी, वेदना युक्त, बदहोशी, बेचैनी तथा सन्तापयुक्त होती है। इससे कोई २ रोगी बचता है; प्रायः मर ही जाता है।

क्षुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटाः किंचिदुन्नताः ॥ १८ ॥

मज्जोत्था भृशसंमोहवेदनारतिसंयुताः।

छिन्दन्ति मर्मधामानि प्राणानाशु हरन्ति हि ॥ १९ ॥

भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः।

अर्थ—अस्थि तथा मज्जा गत मसूरिका छोटी २, शरीर के ही समान वर्णवाली या सर्वथा ऊँचाईरहित, रूक्ष, चिपटी, कुछ ऊँचाईवाली, अत्यन्त बदहोशी, पीड़ा एवं बेचैनी से युक्त होती है। भ्रमर (ततैया या दन्दैया) से कटी हुई के समान हड्डियों में पीड़ा होती है और मर्मस्थानों में कटने की–सी पीड़ा कर शीघ्र ही प्राणों को हर लेती है।

पक्वाभाः पिडकाः स्निग्धाः सूक्ष्माश्चात्यर्थवेदनाः ॥२०॥

स्तैमित्यारति-संमोह-दाहोन्माद-समन्विताः।

शुक्रजायां मसूर्यां तु लक्षणानि भवन्ति हि ॥ २१ ॥
निर्दिष्टं केवलं चिह्नं दृश्यते न तु जीवितम् ।

अर्थ—शुक्रगत मसूरिका पकी सी ज्ञात होती है, चिकनी, अत्यन्त छोटी २, अत्यधिक पीड़ायुक्त, गीलापन, बेचैनी, बदहोशी, दाह तथा उन्माद से युक्त होती है। शुक्रगत मसूरिका में यह लक्षण होते हैं। लक्षण तो लिख दिये गये हैं, किन्तु रोगी इससे बच नहीं सकता।

दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः ॥ २२ ॥

अर्थ—इन सातों प्रकार की मसूरिकाओं में पूर्वोक्त वातादि दोषों के लक्षणों पर भी ध्यान देना चाहिये।

सुखसाध्यमसूरिकाणां निर्देशः।

त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजाः श्लेष्मजास्तथा।
श्लेष्म-पित्त-कृताश्चैव सुखसाध्या मसूरिकाः ॥ २३ ॥

अर्थ—त्वचागत, रक्तज, पित्तज, कफज तथा कफपित्तज (द्वन्द्वज) मसूरिकायें सुखसाध्य होती हैं।

अथासाध्यमसूरिकाणां लक्षणानि।

वातजा वातपित्तोत्थाः श्लेष्म-वात-कृताश्च याः।
कृच्छ्रसाध्यतमास्तस्माद् यत्नादेता उपाचरेत् ॥ २४ ॥

अर्थ—वातज, वातपित्तज एवं कफवातज जो मसूरिकायें होती हैं वे कष्टसाध्य होती हैं। अतः उनकी चिकित्सा यत्नपूर्वक करनी चाहिये।

असाध्याः सन्निपातोत्थास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम्।
प्रवालसदृशाः काश्चित् काश्चिज्जम्बूफलोपमाः ॥ २५ ॥
लोहजालसमाः काश्चिदतसीफलसंनिभाः।
आसां बहुविधा वर्णा जायन्ते दोषभेदतः ॥ २६ ॥

अर्थ—सन्निपातज मसूरिकायें असाध्य होती हैं तथा उनके लक्षण इस प्रकार हैं—यथा कोई २ मूंगे की-सी, कोई २ जामुन के फल की-सी,

कोई २ लोहजाल (फुन्सियों पर काली २ सिराएँ दिखाई पड़ने लगती हैं) से ढँकी-सी तथा कोई २ तीसी के फलों की-सी (सुर्खी लिये काली चिपटी एवं लम्बी) होती हैं। दोषों की अधिकता के अनुसार इसके वर्ण नाना प्रकार के हो जाते हैं।

सर्वासां मसूरिकाणामावस्थिकलक्षणानि ।

कासो हिक्का प्रमेहश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः ।
प्रलापश्चारतिर्मूर्च्छा तृष्णा दाहोऽतिघूर्णता ॥ २७ ॥
मुखेन प्रस्रवेद्रक्तं तथा घ्राणेन चक्षुषा ।
कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा श्वसित्यत्यर्थवेदनम् ॥ २८ ॥
मसूरिकाभिभूतस्य यस्यैतानि भिषग्वरैः ।
लक्षणानि च दृश्यन्ते न दद्यादत्र भेषजम् ॥ २९ ॥

अर्थ—कास, हिचकी, प्रमेह (गाढ़ा और अधिक मूत्र होना), भीषण एवं असह्य ज्वर, प्रलाप, बेचैनी, मूर्च्छा, प्यास, दाह, घूरना (जैसे क्रुद्ध मनुष्य देखता है), मुख, नाक तथा आँख से रक्त जाना, कण्ठ में घुरघुर ध्वनि होना, अत्यन्त कष्ट के साथ श्वास आना, यह सब लक्षण जिस मसूरिका में देखे जायँ उसको औषध नहीं देना चाहिये, अर्थात् वह असाध्य होती है।

मसूरिकायाः सामान्यासाध्यलक्षणानि ।

मसूरिकाभिभूतो यो भृशं घ्राणेन निःश्वसेत् ।
स भृशं त्यजति प्राणान् तृषार्तो वायुदूषितः ॥ ३० ॥

अर्थ—जो मसूरिकापीड़ित रोगी केवल नाक से साँस लेता हो, प्यास से पीड़ित हो तथा उसका वायु बढ़ गया हो तो समझ लेना चाहिये कि यह मर जायगा।

मसूरिकाया उपद्रवाः ।

मसूरिकान्ते शोथः स्यात् कूर्परे मणिबन्धके ।
तथांऽसफलके चापि दुश्चिकित्स्यः सुदारुणः ॥ ३१ ॥

अर्थ—मसूरिका के अनन्तर कुहनी, मणिबन्ध (पहुंचा) तथा अंसफलक (कन्धे के पीछे) दुखदायी शोथ[1] हो जाता है, वह कष्टसाध्य होता है (असाध्य नहीं)।

क्षुद्ररोगनिदानम् ।[2]

अथाजगल्लिकारोगस्य लक्षणम् ।

स्निग्धाः सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसन्निभाः ।

कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिकाः ॥१॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—बालकों के शरीर पर चिकनी, शरीर के ही समान वर्ण वाली, ग्रथित (कठोर), पीड़ा रहित तथा मूंग के समान (कुछ लम्बी), कफ और वायु के कारण उठी हुई फुन्सियाँ निकल आती हैं, इन्हें "अजगल्लिका[3]" कहते हैं।

यवप्रख्याया लक्षणम् ।

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता ।

पिडका कफवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥२॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—जौ के समान (दोनों ओर नोकदार लम्बी), कठोर, ग्रथित (पुष्ट) तथा मांस में आश्रित कफवातज फुन्सी "यवप्रख्या" कही जाती है।

अन्त्रालज्या लक्षणम् ।

घनामवक्त्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम् ।

अन्त्रालजीमल्पपूयां तां विद्यात् कफवातजाम् ॥३॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—पुष्ट, मुखरहित, ऊँची, चकत्तीदार, थोड़ी पूययुक्त तथा कफवातज फुन्सी "अन्त्रालजी" कहलाती है।

१—यह शोथ कभी २ पक जाता है तो व्रण की चिकित्सा से अच्छा हो जाता है।

२—यह आकृतिगण है इसमें मृदु एवं दारुण सभी प्रकार के कितने ही रोगों का वर्णन संक्षेप से कर दिया गया है। इनका वर्णन क्षुद्र या संक्षिप्त या छोटा होने के कारण इन्हें "क्षुद्र रोग" कहा गया है।

३—यह भी शीतला के समान मानी जाती हैं, इन्हें "लून्दड़े" कहा जाता है।

विवृताया लक्षणम् ।

विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसंनिभाम् ।
विवृतामिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥ ४ ॥

सु० नि० अ० १३

अर्थ—चकलीदार, अत्यधिक दाहयुक्त, पके गूलर के समान लाल, फूटने पर चौड़े घाववाली पित्तज फुन्सी को "विवृता" जानना चाहिये ।

कच्छपिकाया लक्षणम् ।

ग्रथिताः पञ्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपोपमाः ।
कफानिलाभ्यां पिडका ज्ञेया कच्छपिका बुधैः ॥ ५ ॥

सु० नि० अ० १३

अर्थ—पुष्ट, पाँच अथवा छः, भीषण तथा कछुवे की पीठ की-सी फुन्सियों को "कच्छपिका" जानना चाहिये । यह कफवातज होती है ।

वल्मीकस्य लक्षणम् ।

ग्रीवांस-कक्षा-कर-पाद-देशे सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषैः ।
ग्रन्थिः स वल्मीकवदक्रियाणां जातः क्रमेणैव गतः प्रवृद्धिम् ॥ ६ ॥
मुखैरनेकैः स्रुति-तोदवद्भिर्विसर्पवत् सर्पति चोन्नताग्रैः ।
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात् ॥ ७ ॥

सु० नि० अ० १३

अर्थ—गरदन, कन्धों, हाथ, पाँव, सन्धियों अथवा गले में तीनों दोषों के कोप के कारण बाँबी (बिरयी) के समान कई शिखरोंवाली गाँठ उत्पन्न हो जाती है । यदि उचित चिकित्सा न की जाय तो यह धीरे २ बड़ी हो जाती है तथा आगे चलकर उन ऊँचे शिखरों में मुख हो जाते हैं । उनमें से पन्छा निकलता रहता है । सूई के चुभने की-सी पीड़ा होती है । धीरे २ विसर्प के समान इधर उधर फैलता जाता है । जब उचित चिकित्सा के अभाव से यह पुराना होजाता है तो "असाध्य हो जाता है" ऐसा चिकित्सक मानते हैं । बाँबी के सदृश होने के कारण इसका नाम "वल्मीक" है ।

अथेन्द्रविद्धाया लक्षणम् ।

पद्मकर्णिकवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम् ।
इन्द्रविद्धां तु तां विद्याद् वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥ ८ ॥

सु० नि० अ० १३

अर्थ—जो एक बड़ी फुन्सी कमल की कर्णिका के समान चारों ओर से छोटी २ फुन्सियों से घिरी हुई होती है, उसे "इन्द्रविद्धा" कहा जाता है। यह वातपित्तज होती है।

गर्दभिकाया लक्षणम् ।

मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम् ।
रुजाकरीं गर्दभिकां तां विद्याद् वातपित्तजाम् ॥ ९ ॥

अर्थ—गोल, ऊँचा, कुछ लाल तथा छोटी २ फुन्सियों से घिरा हुआ एक मण्डल या चकत्ता हो जाता है, उसमें अत्यधिक वेदना होती है। इसे "गर्दभिका" कहते हैं। यह वातपित्त से उत्पन्न होती है।

पाषाणगर्दभस्य लक्षणम् ।

वात-श्लेष्म-समुद्भूतः श्वयथुर्हनुसन्धिजः ।
स्थिरो मन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेयः पाषाणगर्दभः ॥१०॥

अर्थ—वातकफ के कारण हनुके ऊपर की संधि में (कान के नीचे) सूजन हो जाती है। यह कठोर, थोड़ी पीड़ा युक्त तथा चिकनी होती है। इसे "पाषाणगर्दभ[1]" कहा जाता है।

पनसिकाया लक्षणम् ।

कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडकामुग्रवेदनाम् ।
स्थिरां पनसिकां तां तु विद्याद् वातकफोत्थिताम् ॥ ११ ॥

अर्थ—कर्णगुहा के भीतर भीषण पीड़ायुक्त तथा कठोर जो फुन्सी निकल आती है, उसे "पनसिका" कहते हैं। यह कफवातज होती है।

१—यह प्रायः एक ही ओर होती है, कहीं २ इसे शीतला के समान पूजते हैं। इसे कपेण्डू कहा जाता है।

जालगर्दभस्य लक्षणम् ।

विसर्पवत् सर्पति यः शोथस्तनुरपाकवान् ।
दाह-ज्वर-करः पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥ १२ ॥

अर्थ—जो पतला तथा पाकरहित शोथ विसर्प के समान इधर उधर फैलता एवं दाह तथा ज्वर से युक्त होता है, उसे "जालगर्दभ" कहते हैं। यह पित्तज होता है।

अथेरिवेल्लिकाया लक्षणम् ।

पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्र-रुजा-ज्वराम् ।
सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥ १३ ॥

अर्थ—शिर पर गोल, भयानक पीड़ा तथा ज्वर से युक्त, सन्निपातज अतएव सब लक्षणोंवाली पिडका "इरिवेल्लिका" कहलाती है।

कक्षाया लक्षणानि ।

बाहु-पार्श्वांस-कक्षेषु कृष्णस्फोटां सवेदनाम् ।
पित्तप्रकोपसम्भूतां कक्षामित्यभिनिर्दिशेत् ॥ १४ ॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—बाहु, पसवाड़े, कंधे तथा कक्षा या काँख में काली, वेदनायुक्त फुन्सी निकल आती है, उसे "कक्षा[1]" कहा जाता है। यह पित्त की अधिकता से होती है।

गन्धमालाया लक्षणम् ।

एकामेतादृशीं दृष्ट्वा पिडकां स्फोटसंनिभाम् ।
त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धमालां प्रचक्षते ॥ १५ ॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—यदि इस प्रकार की एक ही फुड़िया दिखाई देवे और वह केवल फफोले के समान त्वचा में ही हो, तो उसे "[2]गन्धमाला" कहते हैं।

१—यह प्रायः क्रमशः सात फुड़िया निकल कर शान्त होती है, इसे "कच्छ-राली" कहते हैं।

२—इसे "बगलबन्ध" कहते हैं। सुश्रुत के मूल पाठ में "गन्धमाला" के स्थान में "गन्धनामा" पाठ है। यह भी अशुद्ध है "गन्धनाम्नीं" पाठ होना चाहिये।

अथाग्निरोहिणीरोगस्य लक्षणम् ।

कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः ।
अन्तर्दाह-ज्वर-करा दीप्तपावकसन्निभाः ॥ १६ ॥
सप्ताहाद् वा दशाहाद् वा पक्षाद्वा घ्नन्ति मानवम् ।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजाम् ॥१७॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—काँख में जो फोड़े उत्पन्न हो जाते हैं, वे पक जाने पर मांस को फाड़ कर चौड़ा घाव कर देते हैं । भीतरी अवयवों (हृदय, आमाशय आदि) में दाह तथा शरीर में ज्वर कर देते हैं। जलती आग के समान अर्थात् लाल होते हैं उचित चिकित्सा न होने से सात, दस अथवा पन्द्रह दिन में रोगी को मार डालते हैं । इसे "अग्निरोहिणी[१]" कहा जाता है । यह सन्निपातज तथा असाध्य होती है ।

चिप्पाख्यक्षुद्ररोगस्य लक्षणम् ।

नखमांसमधिष्ठाय वायुः पित्तं च देहिनाम् ।
कुर्वाते दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत् ॥ १८ ॥
तदेवाल्पतरैर्दोषैः पुरुषं कुनखं वदेत् ॥ १९ ॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—नख के नीचे मूल के मांस में स्थित होकर वात पित्त, नख में वेदना दाह एवं पाक कर देते हैं । इस रोग को चिप्प कहा जाता है । इसी प्रकार यदि दोषों के विकार से नाखून खरदरा हो जाता है तो उसे कुनख[२] कहा जाता है ।

अथानुशयीरोगस्य लक्षणम् ।

गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम् ।
पादस्यानुशयीं तां तु विद्यादन्तःप्रपाकिनीम् ॥२०॥ सु० नि० अ० १३

१—इसे बहुतसे चिकित्सक "प्लेग" सिद्ध करने का यत्न करते हैं ।

२—कुनख का मूल लक्षण सुश्रुत नि० अ० १३ में इस प्रकार है:—

अभिघातात् प्रदुष्टो यो नखो रूक्षोऽसितः खरः ।
भवेत्तं कुनखं विद्यात् कुलीनमिति संज्ञितम् ॥

अर्थ—पैर के ऊपरी भाग में गहरी, थोड़े सूजनवाली, त्वचा के समान वर्ण से युक्त तथा भीतर से पकनेवाली जो फुड़िया हो जाती है, उसे ''"अनुशयी" कहते हैं।

विदारीरोगस्य लक्षणम्।

विदारीकन्दवद्वृत्ता कक्षावङ्क्षणसन्धिषु।
विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणा ॥२१॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—काँख, कूल्हे तथा शरीर की अन्यान्य संधियों में विदारीकन्द के समान जो लाल फोड़ा हो जाता है, उसे "विदारिका[1]" कहा जाता है। यह सन्निपातज होता है। अतः इसमें लक्षण भी सभी दोषों के होते हैं।

शर्कराख्यक्षुद्ररोगस्य लक्षणम्।

प्राप्य मांस-सिरा-स्नायूः श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः।
ग्रन्थिं करोत्यसौ भिन्नो मधु-सर्पिर्वसा-निभम् ॥ २२ ॥
स्रवत्यास्रावमनिलस्तत्र वृद्धिं गतः पुनः।
मांसं संशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत् ततः ॥ २३ ॥
दुर्गन्धि क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः।
स्रवन्ति रक्तं सहसा तं विद्यात् शर्करार्बुदम् ॥२४॥ सु०नि०अ०१३

अर्थ—कफ तथा वायु मांस, सिरा, स्नायु तथा मेदा को दूषित कर गाँठ उत्पन्न कर देते हैं जब वह गाँठ फटती है तो उसमें से शहद, घी तथा वसा का-सा स्राव निकलने लगता है। इसके अनन्तर वायु और भी बढ़कर मांस को सुखाकर गाँठ बना देता है। तत्पश्चात् उसी गाँठ को "शर्करा" कर देता है। इसके बाद सिराओं में से दुर्गन्धयुक्त, अत्यन्त सड़ा हुआ, अनेक वर्ण का रक्त एकाएक निकलने लगता है। इसे "शर्करार्बुद" कहते हैं।

पाददार्या लक्षणम्।

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः।

१—इसको भी कुछ वैद्य 'प्लेग' मानते हैं।

पादयोः कुरुते दारीं पाददारीं तमादिशेत् ॥२५॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—अधिक (प्रायः नंगे पैरों) घूमनेवाले पुरुष के अत्यन्त रूक्ष पैरों में वायु कुपित होकर उनमें (निचले भाग में) दारी या दारियाँ कर देता है। उसे "पाददारी[1]" या बिवाई कहते हैं।

कदरस्य लक्षणम्।

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः।

ग्रन्थिः कोलवदुत्सन्नो जायते कदरं हि तत् ॥२६॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—कङ्कड़ आदि चुभ जाने से अथवा कांटा आदि लगने से पैर में जो बेर की-सी कड़ी तथा थोड़ी ऊँची गाँठ हो जाती है, उसे "कदर[2]" कहते हैं।

अथालसकस्य लक्षणम्।

[3]क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डू-दाह-रुजान्वितौ।

दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विभावयेत् ॥२७॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—गन्दे कीचड़ (चिक्कड़) में घूमने से अंगुलियों के बीच में खुजली हो जाती है। खुजाने के बाद दाह एवं पीड़ा होती है। वह स्थान गीला तथा सफेद-सा रहता है। इसे "अलस" कहते हैं।

अथेन्द्रलुप्तस्य लक्षणम्।

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम्।

प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ॥२८॥

रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसंभवः।

१—प्रायः शीतकाल में यह अधिक होती है।

२—कड़ा जूता पहनने से भी यह रोग हो जाता है। इसे "अहन" कहते हैं। इसके कड़े भाग को कुछ दिन बाद कटवाते जाते हैं और पुनः होता जाता है। कभी कभी अच्छा हो जाता है।

३—उक्त कारण से यह हाथ की अंगुलियों में भी हो जाता है। लोग इसे "खिरदी" कहते हैं।

तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुह्येति च विभाव्यते ॥२९॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—रोमों की जड़ में वायु से मिला पित्त रोमों या बालों को गिरा देता है। तदनन्तर रक्तयुक्त कफ रोमकूपों को रोक देता है। अतः दूसरे रोम या बाल उत्पन्न नहीं हो सकते। इसे "इन्द्रलुप्त" "खालित्य" तथा "रुह्या[1]"कहते हैं।

दारुणकस्य लक्षणम्।

दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते।

कफ-मारुत-कोपेन विद्याद्दारुणकं तु तम् ॥३०॥सु० नि० अ० १३

अर्थ—कफ वायु के कोप से केशों की भूमि (शिर) कड़ी, खुजली युक्त, रूखी तथा कुछ फटी सी हो जाती है। इसे "दारुणक" या रूसी या कर कहते हैं।

अथारुंषिकाया लक्षणानि।

अरुंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्ध्नि तु।

कफासृक्क्रिमिकोपेन नृणां विद्यादरुंषिकाम् ॥३१॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—कफ, रक्त तथा क्रिमियों के विकार से शिर में बहुत से मुखोंवाली तथा सड़नयुक्त बहुत सी फुन्सियाँ (पीली २) निकल आती हैं। इसे "अरुंषिका[2]" कहते हैं।

पलितस्य लक्षणम्।

क्रोध-शोक-श्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः।

पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥३२॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—क्रोध, शोक तथा अधिक परिश्रम के कारण शरीर की बाष्प तथा पित्त शिर में जाकर केशों को (दाढ़ी मोंछ को भी) श्वेत कर देते हैं। इसे "पलित[3]" कहते हैं।

१—ये तीनों नाम भिन्न-भिन्न स्थान के रोम या बाल गिरने के लिये प्रयुक्त होते हैं। यथाः—दाढ़ी मोंछ में इन्द्रलुप्त, शिर में खालित्य तथा शरीर में रुह्या।

२—यह प्रायः गन्दे रहने वालों को होती है। इसमें दुर्गन्ध आने लगती है।

३—यह बुढ़ापे में होता ही है, इसके पहिले भी हो जाता है।

युवानपिडकाया लक्षणम् ।

शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफ-मारुत-रक्तजाः ।

युवानपिडका यूनां विज्ञेया मुखदूषिका ॥३३॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—कफ, वायु तथा रक्त के विकार से युवावस्था में स्त्रीपुरुषों के मुख पर सेमल के काँटों की-सी फुन्सियाँ निकल आती हैं। इन्हें "युवानपिडका[1]" कहते हैं। यह मुख की त्वचा को दूषित या असुन्दर कर देती हैं।

पद्मिनीकण्टकस्य लक्षणम् ।

कण्टकैराचितं वृत्तं मण्डलं पाण्डु कण्डुरम् ।

पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम् ॥३४॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—जो पद्मिनी के काँटों के-से अंकुरों से व्याप्त श्वेत तथा गोल चकत्ता हो जाता है उसमें खुजली भी होती है। उसे "पद्मिनी-कण्टक" कहते हैं। यह कफवातज होता है।

जतुमणेर्लक्षणम् ।

सममुत्सन्नमरुजं मण्डलं कफरक्तजम् ।

सहजं लक्ष्म चैकेषां लक्ष्यो जतुमणिस्तु सः ॥३५॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—कफ तथा रक्त के कारण सम (त्वचा के बराबर) अथवा ऊँचा और पीड़ा रहित जो मण्डल हो जाता है अथवा बहुतों को सहज भी लक्षण होता है। उसे "[2]जतुमणि" या "लशुन" अथवा "लक्षण" कहते हैं।

मषकस्य लक्षणम् ।

अवेदनं स्थिरं चैव यस्मिन् गात्रे प्रदृश्यते ।

माषवत् कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं तु तत् ॥ ३६ ॥ सु० नि० अ० १३

१—यह फुन्सियाँ कीलदार होती हैं। दबाने से श्वेत कील निकलती है। प्रायः यह उन्हीं को निकलती हैं जो तगड़े और तन्दुरुस्त होते हैं।

२—लाल और काला दाग होता है। इससे लोग शुभाशुभ का भी अनुमान करते हैं।

अर्थ—शरीर पर कहीं भी वेदनारहित, सर्वदा रहनेवाला, उर्द का-सा काला तथा ऊँचा जो मस्सा होता है, उसे "मषक" कहते हैं। यह वायु से होता है।

तिलकालकस्य लक्षणम्।

कृष्णानि तिलमात्राणि नोरुजानि समानि च।
वात-पित्त-कफोच्छोषात्तान् विद्यात्तिलकालकान् ॥३७॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—वात, पित्त तथा कफ के सूखने से शरीर पर कहीं भी काले २ (लाल भी) तिल के से, पीड़ारहित तथा त्वचा के बराबर (ऊँचे नहीं) जो दाग होते हैं उन्हें "तिलकालक" या "तिल" कहते हैं।

न्यच्छस्य लक्षणम्।

महद्वा यदि वा चाल्पं श्यावं वा यदि वाऽसितम्।
नीरुजं मण्डलं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥३८॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—बड़ा अथवा छोटा काला अथवा श्वेत तथा पीड़ा रहित शरीर पर जो दाग हो जाता है, उसे "न्यच्छ" या झाईं कहते हैं।

व्यङ्गस्य लक्षणम्।

क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः।
मुखमागत्य सहसा मण्डलं विसृजत्यतः ॥ ३९ ॥
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत्।
कृष्णमेवंगुणं गात्रे मुखे वा नीलिकां विदुः ॥४०॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—क्रोध तथा परिश्रम से कुपित वायु पित्त के साथ मिल कर मुख पर आकर एकाएक दाग कर देता है। यह पीड़ारहित, पतला तथा कुछ काला होता है। इसे "मुखव्यंग" कहते हैं। इसी प्रकार यदि अधिक काला दाग शरीर अथवा मुख पर हो जाता है तो उसे "नीलिका" कहते हैं।

परिवर्तिकाया लक्षणम्।

मर्दनात् पीडनाद्वाऽपि तथैवाप्यभिघाततः।

मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरन् ॥ ४१ ॥
तदा वातोपसृष्टत्वात् तच्चर्म परिवर्तते ।
मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते ॥ ४२ ॥
सरुजां वातसंभूतां तां विद्यात् परिवर्तिकाम् ।
सकण्डूः कठिना वापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता ॥४३॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—मर्दन (तैलादि लगाते समय) से, पीड़न (हस्त मैथुन द्वारा) से तथा अभिघात या चोट (लड़ाई झगड़े में) लगने से जब सब ओर घूमने वाला (व्यान) वायु लिंग की त्वचा में कुपित हो जाता है तो वायु के विकार से वह त्वचा मणि के नीचे गाँठ के समान फूल कर लटकने लगती है। इसे "परिवर्त्तिका" कहते हैं। वायु की प्रबलता के कारण इसमें पीड़ा होती है। यदि कफ की प्रबलता हो तो यह कण्डूयुक्त एवं कठोर होती है।

अथावपाटिकाया लक्षणम् ।

अल्पीयःखां यदा हर्षाद् बलाद् गच्छेत् स्त्रियं नरः ।
हस्ताभिघातादपि वा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ॥ ४४ ॥
यस्यावपाटयते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् । सु० नि० अ० १३

अर्थ—अत्यन्त छोटे योनिछिद्रवाली स्त्री (कन्या अथवा संकुचित योनिवाली स्त्री) के साथ जो मनुष्य कामान्ध होकर बलात्कार करता है अथवा हस्ताभिघात से जिसके लिंग की त्वचा बलपूर्वक पीछे खिंच जाती है उसकी त्वचा फट जाती है, इसे "अवपाटिका" कहते हैं।

निरुद्धप्रकशस्य लक्षणम् ।

वातोपसृष्टे मेढ्रे वै चर्म संश्रयते मणिम् ॥ ४५ ॥
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ।
निरुद्धप्रकशे तस्मिन् मन्दधारमवेदनम् ॥ ४६ ॥
मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्विव्रियते न च ।

निरुद्धप्रकशं विद्यात् सरुजं वातसम्भवम् ॥४७॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—जब वायु लिंग की त्वचा में विकृति उत्पन्न कर देता है तो त्वचा मणि पर सट जाती है अर्थात् पीछे नहीं हटती। इस त्वचा से मणि कस जाने के कारण मूत्रमार्ग संकुचित हो जाता है। मार्ग संकुचित होने के कारण कुछ पीड़ा के साथ बूँद २ या पतली धार से मूत्र उतरता है और मणि पर से त्वचा नहीं उतरती। कुछ २ पीड़ा होती रहती है। यह वातज "निरुद्धप्रकश" नामक रोग है।

सन्निरुद्धगुदस्य लक्षणम्।

वेगसन्धारणाद्वायुर्विहतो गुदसंश्रितः।
निरुणद्धि महास्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥ ४८ ॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति।
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेतं विद्यात् सुदारुणम् ॥४९॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—पुरीष का वेग रोकने से कुपित अपान वायु महास्रोत अर्थात् मलमार्ग को संकुचित कर उसका द्वार छोटा कर देता है तथा मार्ग संकुचित होने के कारण रोगी का पुरीष बड़ी कठिनता से निकलता है। इस भीषण व्याधि को "सन्निरुद्धगुद" कहते हैं।

अथाहिपूतनस्य लक्षणम्।

शकृद्-मूत्र-समायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्।
स्विन्ने वाऽस्नाप्यमाने वा कण्डू रक्तकफोद्भवा ॥ ५० ॥
कण्डूयनात् ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते।
एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम् ॥५१॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—[1]बच्चे के चूतड़ न धोने के कारण उन पर मूत्र तथा पुरीष लगा रहने से अथवा पसीना आने पर भी न नहलाने से रक्त एवं कफ के विकार से खुजली हो जाती है। खुजाने से शीघ्र ही फुन्सियाँ निकल आती हैं। उनमें से पन्छा जाने लगता है। आगे चल कर सब फुन्सियों

१—माता-पिता की असावधानी से अबोध बच्चे को कष्ट भोगना पड़ता है।

का एक ही घाव हो जाता है। यह बड़ा ही बुरा "अहिपूतन" नामक रोग है।

वृषणकच्छ्वा लक्षणम्।

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंस्थितः।
यदा प्रक्लिद्यते स्वेदात् कण्डूं जनयते तदा ॥ ५२ ॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते।
प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्म-रक्त-प्रकोपजाम् ॥ ५३ ॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—स्नान उबटन (बटना) आदि का सेवन न करने वाले मनुष्य के अण्डकोशों पर मैल इकट्ठा हो जाता है। जब पसीना आने से वह गीला होता है तब खुजली कर देता है। खुजाने से शीघ्र ही फुन्सियाँ निकल आती हैं। उनमें से पन्छा जाने लगता है। कफ रक्त के कोप से होनेवाले इस रोग को "वृषणकच्छू[1]" कहते हैं।

गुदभ्रंशस्य लक्षणम्।

प्रवाहणातीसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः।
रूक्ष-दुर्बल-देहस्य-गुदभ्रंशं तमादिशेत् ॥ ५४ ॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—रूक्ष एवं दुर्बल रोगी की गुद (गुद की वलियाँ) अधिक काँखने अथवा अतिसार से (प्रायः मलोत्सर्ग के समय) बाहर निकल आती हैं। इसे "गुदभ्रंश" या "काँच निकलना" कहते हैं।

शूकरदंष्ट्रकस्य लक्षणम्।

सदाहो रक्तपर्यन्तस्त्वक्पाकी तीव्रवेदनः।
कण्डूमान् ज्वरकारी च स स्यात् शूकरदंष्ट्रकः ॥५५॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—दाहयुक्त, सब ओर से लाल, भीषण पीड़ावाला, कण्डूयुक्त, ज्वर करने वाला तथा त्वचा को पकानेवाला "शूकरदंष्ट्रक' रोग होता है।

---

१ यह रोग प्रायः वर्षाऋतु में होता है। लोग इसे दद्रु समझ कर दवा लगाते लगाते परेशान हो जाते हैं, किन्तु यह जाता है सफाई से ही।

मुखरोगनिदानम्[1] ।

मुखरोगस्य हेतवः ।

आनूप-पिशित-क्षीर-दधि-मत्स्याऽतिसेवनात् ।
मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः ॥१॥

अर्थ—आनूपमांस (वराह आदि का मांस), दुग्ध, दही एवं मछली के अतिसेवन से कफप्रधान दोष मुखगह्वर में रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। यहाँ मुखरोगों का निदान और सम्प्राप्ति कह दी गयी है।

वातजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ सम्प्राप्तानिलवेदनौ ।
दाल्येते परिपाट्येते ओष्ठौ मारुतकोपतः ॥ २ ॥

अर्थ—वायु के कोप से ओष्ठ खरदरे, कड़े एवं वायु की वेदना से युक्त हो जाते हैं तथा अत्यन्त फट जाते हैं या कुछ फट जाते हैं।

पैत्तिकौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

चीयते पिडकाभिश्च सरुजाभिः समन्ततः ।
सदाह-पाक-पिडकौ पीताभासौ च पित्ततः ॥ ३ ॥

अर्थ—पित्त के कोप से ओष्ठ पीड़ायुक्त फुन्सियों से चारों ओर से व्याप्त हो जाते हैं और उनमें दाह एवं पाक होने लगता है तथा ओष्ठों का वर्ण पीला-सा हो जाता है।

कफजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

सवर्णाभिश्च चीयेते पिडकाभिरवेदनौ ।
भवतस्तु कफादोष्ठौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू ॥४॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—कफ के कोप से ओष्ठ ओष्ठों के ही समान वर्णवाली पिडकाओं से व्याप्त हो जाते हैं और उनमें थोड़ी पीड़ा भी होती है तथा ओष्ठ चिपचिपे ठण्डे एवं भारी हो जाते हैं

---

[1] यहाँ से "शलाकातन्त्र" का प्रारम्भ होता है। यहां मुख शब्द का अभिप्राय मुखगह्वर से है। मुखमण्डल या चेहरे से नहीं।

त्रिदोषजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च ।
सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडकाचितौ ॥ ५ ॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—सन्निपात के कोप से ओष्ठ कभी काले, कभी पीले और कभी श्वेत हो जाया करते हैं (यह सब कालसम्प्राप्ति के अनुसार ही दोष कोप के कारण होता है) और ओष्ठों पर वातादि दोषों के अनुरूप वर्णों तथा वेदनाओं से युक्त फुन्सियाँ भी निकल आती हैं ।

रक्तजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिर्निपीडितौ ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥६॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—रक्त के विकार से ओष्ठ खजूर के फल के समान (रक्त) वर्णवाली फुन्सियों से पीड़ित होते हैं । कभी २ ओष्ठों से रक्त भी निकलता है, अथवा उनका वर्ण लाल हो जाता है ।

मांसजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

गुरू स्थूलौ मांसदुष्टौ मांसपिण्डवदुद्गतौ ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति नरस्योभयतो मुखात् ॥७॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—मांस के विकार से ओष्ठ भारी, मोटे तथा मांस के लोथड़े के समान उफने (कुरूप) से हो जाते हैं और मुख के इधर-उधर सृक्कणियों में भी कृमि पड़ जाते हैं । "उभयतोमुखाः" इस पाठान्तर के अनुसार ये क्रिमि दुमुँहे होते हैं । अस्तु, कुछ भी हो, किन्तु देखा गया है कि ये क्रिमि श्वेत वर्ण के तथा बिना पैर के एवं जौ बराबर लम्बे होते हैं ।

मेदोजौष्ठरोगस्य लक्षणम् ।

सर्पिर्मण्ड-प्रतीकाशौ मेदसा कण्डुरौ गुरू ।
अच्छं स्फटिकसंकाशमास्रावं स्रवतो भृशम् ॥ ८ ॥
तयोर्व्रणो न संरोहेत् मृदुत्वं च न गच्छति । सु० नि० अ० १६

अर्थ—मेदा के विकार से ओष्ठ घृतमण्ड के सदृश वर्णवाले,

खुजली से युक्त एवं भारी हो जाते हैं। स्फटिक (बिल्लौर) के समान श्वेत वर्ण का स्राव (पञ्छा, मवाद) निरन्तर निकलता रहता है। इनका व्रण (घाव) न तो भरता ही है और न कोमल होता है।

नोट—यह निचला श्लोकार्द्ध कुछ असंगत और प्रक्षिप्त ज्ञात होता है। क्योंकि यह पाठ वर्त्तमान सुश्रुत में विद्यमान नहीं है और इसे असाध्य रोगों की श्रेणी में भी नहीं गिना है।

अथाभिघातजौष्ठरोगस्य लक्षणम्।

क्षतजाभौ विदीर्येते पाट्येते चाभिघाततः॥ ९॥

ग्रथितौ च तथा स्यातामोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ। सु० नि० अ० १६

अर्थ—किसी प्रकार की चोट लगने से ओष्ठ लाल, अधिक अथवा कुछ फट जाते हैं। उनमें गाँठ पड़ जाती है अथवा खुजली होने लगती है।

नोट—ये पाँचों लक्षण भिन्न २ प्रकार के आघातों से होते हैं। सर्वत्र एक साथ नहीं होते। कण्डू केवल किसी कण्डू-जनक द्रव्य के स्पर्श से होती है।

शीतादस्य लक्षणानि।

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्तते।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च॥ १०॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्।
शीतादो नाम स व्याधिः कफ-शोणित-सम्भवः॥११॥

सु० नि० अ० १६

दन्तमूल या दन्तवेष्ट या मसूड़ों के रोग।

अर्थ—जिस रोग में मसूड़ों में से किसी प्रकार के आघात के बिना ही रक्त निकला करता है। कुछ समय बीतने पर मसूड़े क्रमशः दुर्गन्धि-युक्त, काले, गीले-से तथा कोमल हो जाते हैं। तत्पश्चात् वे नष्ट होने तथा परस्पर पकने लगते हैं, उस रोग को "शीताद" नाम से पुकारा जाता है। यह कफ तथा रक्त के विकार से उत्पन्न होता है।

नोट—इससे दाँतों की जड़ें दिखाई पड़ने लगती हैं।

दन्तपुप्पुटकस्य लक्षणम् ।

दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयथुर्जायते महान् ।

दन्तपुप्पुटको नाम स व्याधिः कफरक्तजः ॥१२॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—जिस रोग में दो अथवा तीन दाँतों की जड़ (मसूड़ों) में बहुत बड़ा (या अल्प) शोथ (सूजन) हो जाता है । वह कफ तथा रक्त के विकार से होने वाला रोग "दन्तपुप्पुटक" कहा जाता है ।

दन्तवेष्टस्य लक्षणम् ।

स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता भवन्ति च ।

दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसम्भवः ॥१३॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—जिस रोग में मसूड़ों में से मवाद अथवा रक्त निकला करता है और दाँत हिलने लगते हैं । वह रक्तविकार से उत्पन्न होने वाला "दन्तवेष्ट" नामक रोग होता है ।

शौषिरस्य लक्षणम् ।

श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः ।

लालास्रावी स विज्ञेयः शौषिरो नाम नामतः॥१४॥सु० नि० अ० १

अर्थ—मसूड़ों में पीड़ायुक्त सूजन हो जाती है और लार जाया करती है । यह भी कफ रक्त के विकार से "शौषिर" नामक रोग होता है ।

महाशौषिरस्य लक्षणम् ।

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते ।

यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञितः ॥१५॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—जिस रोग में मसूड़ों से दाँत हिल जाते हैं तथा तालु फट जाता है, वह सन्निपात से उत्पन्न होने वाला "महाशौषिरग" नामक रोग होता है ।

परिदरस्य लक्षणम् ।

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् ष्ठीवति चाप्यसृक् ।

पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः ॥ १६ ॥ सु० नि० अ०१६

अर्थ—जिस रोग में मसूड़े नष्ट हो जाते हैं और रक्त निकला करता है, वह पित्त रक्त तथा कफ के विकार से "परिदर" नामक रोग माना जाता है।

अथोपकुशस्य लक्षणम्।

वेष्टेषु दाहः पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च।
(आघट्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः।)
(आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते॥)
यस्मिन् सोपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः॥ १७॥

अर्थ—जिस रोग में मसूड़ों में दाह और पाक होता है और उन्हीं के कारण दाँत हिलने लगते हैं, वह पित्तरक्त की विकृति से "उपकुश" नामक रोग कहा जाता है।

वैदर्भस्य लक्षणम्।

घृष्टेषु दन्तमांसेषु संरम्भो जायते महान्।
चला भवन्ति दन्ताश्च स वैदर्भोऽभिघातजः॥१८॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—किसी प्रकार मसूड़ों पर आघात लगने से उसमें सूजन अथवा दाह एवं पाक हो जाता है तत्पश्चात् दाँत हिल जाते हैं, वह अभिघात से "वैदर्भ" नामक रोग होता है।

खलिवर्द्धनस्य लक्षणम्।

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः।
खलिवर्धनसंज्ञोऽसौ जाते रुक् च प्रशाम्यति॥१९॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—वायु के कोप से मसूड़ों में दन्तपंक्ति के अतिरिक्त जब कभी अधिक दाँत निकलने लगता है तो बड़ी पीड़ा होती है, जब वह पूर्णतया निकल आता है तो पीड़ा शान्त हो जाती है इसे "खलिवर्द्धन" कहा जाता है। यह "हुड" नाम से प्रसिद्ध है।

करालस्य लक्षणम्।

शनैः शनैः प्रकुरुते वायुर्दन्तसमाश्रितः।

करालान् विकटान् दन्तान् करालो न स सिध्यति ॥२०॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—दन्तवेष्ट वायु दाँतों को धीरे २ आगे पीछे तथा असुन्दर कर डालता है, यह "कराल" नामक रोग असाध्य होता है।

अधिमांसस्य लक्षणम्।

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महान् शोथो महारुजः।
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—हनु की अन्तिम दाढ़ के मसूड़े में अत्यन्त पीड़ायुक्त बड़ी-सी सूजन हो जाती है और लार जाने लगती है। इसे कफ की विकृति से होनेवाला "अधिमांसक" रोग जानना चाहिये।

दन्तनाडीनां लक्षणानि।

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः॥२१॥ सु० नि० अ० १३

अर्थ—मसूड़ों के भीतर पाँच प्रकार के नाडीव्रण (नासूर) हो जाते हैं इनका विवरण "नाडीव्रणनिदान" में देखना चाहिये।

दालनाख्यदन्तरोगस्य लक्षणम्।

दीर्यमाणेष्विव रुजा यस्य दन्तेषु जायते।
दालनो नाम स व्याधिः सदागतिनिमित्तजः॥२२॥ सु० नि० अ० १६

दाँतों के आठ रोग।

अर्थ—जिस रोग में दाँतों के फटने की-सी पीड़ा होती है, वह वायु के कोप से "दालन" नामक रोग होता है।

नोट—"दाँत दुखना" या "दाँत का दर्द" इसी को कहा जाता है।

क्रिमिदन्तकस्य लक्षणम्।

कृष्णश्छिद्रश्चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः।
अनिमित्तरुजो वाताद् विज्ञेयः क्रिमिदन्तकः॥२३॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—जिस रोग में दाँत में काला छिद्र (गड्ढा) हो जाता है और वह दाँत हिलने लगता है, लार जाया करता है, शोथ (मसूड़ों में) हो जाता है, किसी प्रकार के अपथ्यादि के बिना ही भयानक

पीड़ा (बीच २ में नहीं भी होती) होती है, वह वायु से (सत्य तो यह है कि क्रिमि ही इस रोग के हेतु होते हैं) "क्रिमिदन्तक" नामक रोग होता है।

नोट—यह प्रायः दाढ़ों या जाढ़ों अर्थात् पिछले दुहरे दाँतों में ही होता है और जब तक क्रिमि नहीं निकल जाते तब तक कष्ट देता रहता है। पञ्जाब में बंगाला नामक खानाबदोश जाति के लोग मन्त्र द्वारा इन क्रिमियों को प्रत्यक्ष निकाल देते हैं। इस कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता मिलती है।

भञ्जनकस्य लक्षणम्।

वक्त्रं वक्रं भवेद् यस्य दन्तभङ्गश्च जायते।
कफ-वातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञितः ॥२४॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—जिस रोग में मुख (हनु) टेढ़ा हो जाता है और दाँत (धीरे २) टूट जाते हैं, वह कफवात से होनेवाला रोग "भञ्जनक" कहलाता है।

दन्तहर्षस्य लक्षणम्।

शीत-रूक्ष-प्रवाताम्ल-स्पर्शानामसहा द्विजाः।
पित्त-मारुत-कोपेन दन्तहर्षः स नामतः ॥२५॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—जिस रोग में दाँत शीत, रूखे, वायु एवं खट्टे स्पर्शों का सहन नहीं कर सकते, वह पित्त तथा वायु के कोप से "दन्तहर्ष" रोग होता है।

दन्तशर्करायाः लक्षणम्।

मालो दन्तगतो यस्तु पित्त-मारुत-शोषितः।
शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा ॥२६॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—जिस रोग में दाँतों का मल पित्त तथा वायु के कोप से सूख कर शर्करा (बालू या रेत) जैसा खरखरा चूर्ण होकर उतरने लगता है, वह "दन्तशर्करा" नामक रोग होता है।

कपालिकाया लक्षणम् ।

कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तानां सैव शर्करा ।

कपालिकेति विज्ञेया दन्तविनाशिनी ॥२७॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—वही उपर्युक्त शर्करा जब कपाल (ठिठरी या पपड़ी) के रूप में उतरने लगती है तो उसे "कपालिका" कहा जाता है । इससे अन्ततो गत्वा दाँत नष्ट हो जाते हैं यह सभी अवस्थाओं में हो सकती है ।

श्यावदन्तस्य लक्षणम् ।

याऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः ।

श्यावतां नीलतां वापि गतः स श्यावदन्तकः ॥२८॥ सु० नि० अ० १६

अर्थ—जिस रोग में रक्तमिश्रित पित्त के विकार से सम्पूर्ण दाँत श्याव (कुछ काला) अथवा नीला हो जाता है, उसे "श्यावदन्तक" कहा जाता है ।

नोट—यह प्रायः दाँत में रेखा (स्वर्णकील) आदि लगाते समय उसके सजीव भाग पर लग जाने से भी हो जाया करता है ।

दन्तविद्रधेर्लक्षणम् ।

दन्तमांसे मलैः सास्रैर्बाह्यान्तः श्वयथुर्गुरुः ।

सदाह-रुक् स्रवेद् भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः ॥ २९ ॥

अर्थ—रक्तमिश्रित वायु आदि तीनों दोषों के विकार से मसूड़ों में बाहर-भीतर भारी सूजन हो जाती है, उसमें दाह एवं पीड़ा भी होती है, तत्पश्चात् फूटने पर दूषित रक्तमिश्रित पीब निकलने लगती है, यह "दन्तविद्रधि" नामक रोग है ।

नोट—यह वस्तुतः दन्तवेष्टों का रोग है । न जाने क्यों इसे ग्रन्थकर्त्ता ने दंतरोगों में स्थान दे दिया ।

जिह्वारोगाणां लक्षणानि ।

जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा ।

पित्तेन दह्यत्युपचीयते च दीर्घैः सरक्तैरपि कण्टकैश्च ।

केफन गुर्वी बहुलाचिता च मांसोच्छ्रयैः शाल्मलिकण्टकाभैः ३०
सु० नि० अ० १६

जिह्वा के रोग—

अर्थ—वायु के विकार से जिह्वा (जीभ) फटी, शून्य (रसग्रहण में असमर्थ) शाकपत्र के समान काँटेदार हो जाती है और पित्त से उसमें दाह होती है तथा जीभ लम्बे और कुछ लाल २ काँटों से युक्त हो जाती है। इसी प्रकार कफ से भारी, मोटी एवं सेमल के काटों (मूल में मोटे आगे से तीखे) जैसे मांसांकुरों में व्याप्त हो जाती है।

अलासरोगस्य लक्षणम्।

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्त्तिः।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूले च जिह्वा भृशमेति पाकम् ३१
सु० नि० अ० १६

अर्थ—जिह्वा के ऊपरी भाग में जो गहरी सूजन हो जाती है उसे "अलास" कहा जाता है। यह कफ रक्त से उत्पन्न होता है। वह बढ़ कर जिह्वा को स्तब्ध कर देता है और अन्त में जीभ के मूल में भयानक पाक भी हो जाता है।

अथोपजिह्वाया लक्षणम्।

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तमूलः।
लालाकरः कण्डुयुतः सचोषः सा तूपजिह्वा पठिता भिषग्भिः॥३२॥
सु० नि० अ० १६

अर्थ—जीभ के नीचे उसे कुछ ऊपर उठाकर ठीक जिह्वा की आकृतिवाली लार, खुजली तथा चीस (पीड़ा विशेष) से युक्त "उपजिह्वा" नामक व्याधि होती है। यह भी रक्तकफ से ही होती है।

कण्ठशुण्ड्या लक्षणम्।

श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूले प्रवृद्धो दीर्घः शोथो ध्मातबस्तिप्रकाशः।
तृष्णा-कास-श्वास-कृत् तं वदन्ति व्याधिं वैद्याः कण्ठशुण्डीति नाम्ना॥

तालु (मुख की छत) के रोग-

अर्थ—कफ रक्त के विकार से तालु के मूल में अर्थात् काकली या

कौवा ही बढ़ जाता है अथवा लटक आता है अथवा फूली हुई बस्ति (रबड़ आदि की थैली) के समान फूल जाता है। इसी से प्यास, कास एवं श्वास हो जाते हैं। इसे वैद्य लोग "कण्ठशुण्डी" कहते हैं।

नोट—श्वास कास के रोगियों को देखते समय इस रोग पर अवश्य ध्यान देना चाहिये, नहीं तो व्यर्थ परेशानी उठानी पड़ती है।

तुण्डिकेर्या लक्षणम्।

शोथः स्थूलस्तोद-दाह-प्रपाकी प्रगुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।

सु० नि० अ० १६

अर्थ—कफरक्त के ही विकार से तालु में मोटी सूजन हो जाती है उसमें तोद, दाह और पाक होजाता है; इसे "तुण्डिकेरी" कहते हैं।

अध्रुषस्य लक्षणम्।

मृदुः शोथो लोहितः शोणितोत्थो ज्ञेयोऽध्रुषः सज्वरस्तीव्ररुक् च ३४

सु० नि० अ० १६

अर्थ—रक्त के विकार से तालु में एक और कोमल, लाल, ज्वरयुक्त तथा भयानक पीड़ायुक्त सूजन हो जाती है, उसे "अध्रुष" कहा जाता है।

कच्छपस्य लक्षणम्।

कूर्मोन्नतोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा रोगो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा तु।

सु० नि० अ० १६

अर्थ—कफ के विकार से तालु में कछुवे की पीठ जैसा ऊँचा, थोड़ी पीडावाला, धीरे धीरे बढ़ाने वाला जो शोथ होता है; उसे "कच्छप" कहा जाता है।

तालवर्बुदस्य लक्षणम्।

[1]पद्माकारं तालुमध्ये तु शोथं विद्याद् रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम् ३५

1—भोज ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—

उपर्येव भवेन्नद्धो यथा पद्मस्य कर्णिका।
पार्श्वतश्चांकुरैर्दीर्घैर्नासा चाप्यवसीदति॥
श्लेष्मरक्तसमुत्थानां तत्तात्वर्बुदसंज्ञितम्।

अर्थ—रक्त के विकार से तालु के मध्य में कमल की कर्णिका के आकार का शोथ हो जाता है। इसे "अर्बुद" कहा जाता है। यह पूर्वोक्त अर्बुद के लक्षणों से ही युक्त होता है।

मांससंघातस्य लक्षणम्।

दुष्टं मांसं नीरुजं तालुमध्ये कफाच्छूनं मांससंघातमाहुः। सु० नि० अ० १६

अर्थ—तालु के मध्य में कफ से दुष्ट मांस विना पीड़ा के सूज जाता है, इसे "मांससंघात" कहा जाता है।

तालुपुप्पुटस्य लक्षणम्।

नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात्स्यान्मेदोयुक्तात्पुप्पुटस्तालुदेशे ॥३६॥

अर्थ—मेदामिश्रित कफ से तालु के मध्य में बदरीफल (बेर) के सदृश पीड़ारहित सदैव रहनेवाला रोग "तालुपुप्पुट" कहलाता है।

तालुशोषस्य लक्षणम्।

शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः श्वासश्चोग्रस्तालुशोषोऽनिलाच्च।

अर्थ—तालु सूख जाता है और फट जाता है, एवं भयानक श्वास हो जाता है, वह वायु से "तालुशोष" नामक व्याधि होती है।

तालुपाकस्य लक्षणम्।

पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं तालुन्येनं तालुपाकं वदन्ति ॥३७॥

सु० अ० नि० १६

अर्थ—पित्त तालु में अत्यन्त भीषण पाक कर देता है, इसे "तालु-पाक" कहा जाता है।

रोहिणीरोगस्य संप्राप्तिः।

गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ प्रदूष्य मांसं च तथैव शोणितम्।
गलोपसंरोधकरैस्तथाऽङ्कुरैर्निहन्त्यसून् व्याधिरियं हि रोहिणी ३८

सु० नि० अ० १६

कण्ठ के रोग—

अर्थ—वायु बढ़े हुए पित्त एवं कफ को मांस तथा रक्त को दूषित करके गले के भीतर उसको रोक देनेवाले मांसांकुरों के द्वारा प्राणों को नष्ट कर देता है, इसका नाम "रोहिणी" है।

वातजादिरोहिणीनां लक्षणानि ।

जिह्वासमन्ताद् भृशवेदनास्तु मांसाङ्कुराः कण्ठविरोधिनो ये ।
सा रोहिणी वातकृता प्रदिष्टा वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ता ।। ३९ ।।

अर्थ—गले के भीतर जिह्वामूल के इधर-उधर कण्ठ को रोक देनेवाले मांसांकुर उत्पन्न हो जाते हैं। यह वायु की 'रोहिणी" होती है। इसमें वायु के भीषण उपद्रव (कम्प स्तम्भादि) उत्पन्न होकर प्राण हर लेते हैं।

क्षिप्रोद्गमा क्षिप्र-विदाह-पाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा तु ।
स्रोतोनिरोधिन्यचलोद्गता च स्थिराङ्कुरा या कफसंभवा सा ।।४०।।

अर्थ—शीघ्र उत्पन्न होनेवाली, शीघ्र विदग्ध एवं परिपक्व होने वाली, भीषण ज्वर से युक्त पित्तजनित "रोहिणी" होती है। कण्ठमार्ग को रोकनेवाली, अचल, उठी हुई तथा स्थिर अंकुरोंवाली कफजनित "रोहिणी" होती है।

गम्भीरपाकिन्यनिवार्यवीर्या त्रिदोषलिङ्गा त्रितयोत्थिता च ।
स्फोटैश्चिता पित्तसमानलिङ्गा साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिका तु ।।४१।।
सु० नि० अ० १६

अर्थ—गहरे पाकवाली, सर्वथा असाध्य एवं तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त सन्निपातजनित "रोहिणी" होती है। फफोलों (छालों) से युक्त पित्तज रोहिणी के लक्षणोंवाली रक्तज "रोहिणी" होती है और यह साध्य होती है।

कण्ठशालूकस्य लक्षणम् ।

कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो ग्रन्थिर्गले-कण्टक-शूकभूतः ।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ।।४२।।
सु० नि० अ० १६

अर्थ—बैर के गुठली के बराबर, कफ से होनेवाली, काँटे अथवा तुष के समान चुभनेवाली, खर्दरी, शस्त्रक्रिया (औपरेशन) के बिना स्थायी रहनेवाली जो गाँठ गले के भीतर हो जाती है, उसे "कण्ठशालूक" कहते हैं।

अधिजिह्वकस्य लक्षणम् ।

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्वोपरिष्टादपि रक्तमिश्रात् ।
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥४३॥

सु० नि० अ० १६

अर्थ—रक्तमिश्रित कफ के विकार से जिह्वा के ऊपर जिह्वा के अग्रभाग के समान रूपवाला शोथ हो जाता है, इसे "अधिजिह्वा" नामक रोग जानना चाहिये। यदि यह पक जाता है तो असाध्य हो जाता है।

वलयस्य लक्षणम् ।

बलास एवायतमुन्नतं च शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य ।
तं सर्वथैवाप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥ ४४ ॥

सु० नि० अ० १६

अर्थ—कफ विस्तृत तथा ऊँचे शोथ को उत्पन्न कर देता है। यह शोथ अन्नमार्ग को रोक देता है। यह शोथ सर्वथा असाध्य होने के कारण त्याज्य होता है। इसे "वलय" कहते हैं।

बलाशस्य लक्षणम् ।

गले तु शोथं कुरुतः प्रवृद्धौ श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम् ।
मर्मच्छिदं दुस्तरमेनमाहुर्बलाशसंज्ञं निपुणा विकारम् ॥ ४५ ॥

सु० नि० अ० १६

अर्थ—बढ़े हुए कफ तथा वायु गले के भीतर श्वास एवं पीड़ा से युक्त शोथ कर देते हैं। शालाक्य तंत्रवेत्ता वैद्य इस मर्म (कंठ) घाती दुःसाध्य (असाध्य) रोग को "बलाश" कहते हैं।

एकवृन्दस्य लक्षणम् ।

वृत्तोन्नतोऽन्तःश्वयथुः सदाहः सकण्डुरोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च ।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ व्याधिर्बलास-क्षतज-प्रसूतः ॥४६॥

सु० नि० अ० १६

अर्थ—गोल, ऊँचा, दाह तथा खुजली से युक्त, थोड़ा पकने वाला,

कठोर एवं भारी शोथ गले के भीतर हो जाता है। यह व्याधि "एकवृन्द" नाम से कही गई है और यह कफ तथा रक्त से उत्पन्न होती है।

वृन्दस्य लक्षणम्।

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति।
तच्चापि पित्त-क्षतज-प्रकोपाज्ज्ञेयं सतोदं पवनात्मकं तु॥ ४७॥
सु० नि० अ० १६

अर्थ—ऊँचा, गोल, भीषण दाह से युक्त तथा भीषण ज्वर से युक्त "वृन्द" नामक रोग होता है। यह भी पित्त-रक्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है, किन्तु यदि इसमें तोद हो तो वायु का प्रकोप समझना चाहिये।

शतघ्नीरोगस्य लक्षणम्।

वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः।
अनेकरुक् प्राणहरी त्रिदोषाज्ज्ञेया शतघ्नी च शतघ्निरूपा॥४८॥
सु० नि० अ० १६

अर्थ—बत्ती-जैसी, कठोर, कण्ठ को रोक देनेवाली, मांसांकुरों से अत्यन्त व्याप्त, अनेक प्रकार की पीड़ाओं से युक्त तथा प्राणनाशक "शतघ्नी" नामक व्याधि होती है। यह सन्निपात से होती है एवं "शतघ्नी" शस्त्र विशेष के समान सैकड़ों (सब रोगियों) को मारनेवाली अर्थात असाध्य होती है।

गलायुरोगस्य लक्षणम्।

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः स्थिरोऽतिरुग् यः कफ-रक्त-मूर्तिः।
संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च स शस्त्रसाध्यस्तु गलायुसंज्ञः॥४९॥
सु० नि० अ० १६

अर्थ—गले के भीतर आमले की गुठली के समान, स्थिर तथा अत्यन्त पीड़ा युक्त जो ग्रन्थि हो जाती है और रोगी को ग्रास-सा अटका प्रतीत होता है, यह कफरक्त के विकार से "गलायु" नामक रोग होता है यह भी शस्त्रसाध्य ही होता है।

गलविद्रधेर्लक्षणम्।

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोथो रुजः सन्ति च यत्र सर्वाः।

स सर्वदोषैर्गलविद्रधिस्तु तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजन्यः ॥ ५० ॥

सु० नि० अ० १६

अर्थ—सम्पूर्ण गले को घेर कर जो शोथ उत्पन्न होता है और जिसमें सभी प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं, वह सन्निपात से "गलविद्रधि" नामक रोग होता है। इसके लक्षण पूर्वोक्त विद्रधि के समान ही होते हैं।

गलौघस्य लक्षणम्।

शोथो महानन्नजलावरोधी तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्त्यते तु ॥ ५१ ॥

सु० नि० अ० १६

अर्थ—अन्न पान की गति को रोकनेवाला, भीषण ज्वर से युक्त, अन्त में श्वासमार्ग को भी रोक देनेवाला जो बड़ा-सा सूजन गले के भीतर हो जाता है, वह 'गलौघ" कहलाता है। यह कफरक्त से उत्पन्न होता है।

स्वरघ्नस्य लक्षणम्।

यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्क-विमुक्त-कण्ठः।
कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः॥ ५२ ॥

सु० नि० अ० १६

अर्थ—जिस रोग में आँखों के सामने अन्धेरा, श्वास, स्वरभेद, कण्ठशोथ एवं बोलने में असमर्थता होती है तथा वायुकोष्ठ (फुप्फुस) कफपूर्ण हो जाते हैं, यह वायु से उत्पन्न "स्वरघ्न" नामक रोग होता है।

मांसतानस्य लक्षणम्।

प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः॥५३॥

सु० नि० अ० १६

अर्थ—जो विस्तार युक्त, दुःखदायी शोथ धीरे धीरे गले को रोक लेता है, वह "मांसतान" कहलाता है। और वह लटकनेवाला प्राणघातक सान्निपातिक रोग है।

[1]विदार्या लक्षणम् ।

सदाहतोदं श्वयथुं सुताम्रमन्तर्गले पूति-विशीर्ण-मांसम् ।
पित्तेन विद्याद् वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते॥५४॥
सु० नि० अ० १६

अर्थ—गले के भीतर दाह तथा तोद से युक्त, रक्त वर्णवाला, दुर्गन्धि एवं सड़े मांस से युक्त जो पित्तजनित शोथ हो जाता है, उसे "विदारी" कहा जाता है। यह प्रायः उसी ओर होता है, जिस ओर से मनुष्य अधिक लेटता है।

सर्वसराख्यमुखरोगस्य लक्षणम् ।

स्फोटैः[2] सतोदैर्वदनं समन्ताद् यस्याचितं सर्वसरः स वातात् ।
रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतैर्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् ।
अवेदनैः कण्डुयुतैः सवर्णैर्यस्याचितं चापि स वै कफेन ॥५५॥
सु० नि० अ० १६

सम्पूर्ण मुख की कला के रोग—

अर्थ—वायु से मुखगह्वर की दीवारों (कला) में सब ओर वेदनायुक्त क्षत हो जाते हैं, उसे वातिक सर्वसर; पित्त से लाल, दाहयुक्त, पतले या सूक्ष्म एवं पीले क्षत हो जाते हैं, उसे पैत्तिक सर्वसर और थोड़ी वेदनायुक्त, खुजलीवाले, स्वस्थ स्थान के समान वर्णवाले जो क्षत हो जाते हैं, उसे कफजनित सर्वसर कहा जाता है।

१—भोज के कथनानुसार यह स्नायु जाल में होता है—
पित्तेन जातो वदने विकारः पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते ।
स्नायुप्रतानप्रभवो विशेषाद्दाहप्रपाकप्रचुरो विदारी ।

२—रक्तविकृति से भी "सर्वसर" होता है, उसके लक्षण प्रायः पैत्तिक सर्वसर के समान होते हैं। इसमें जोंक द्वारा रक्त निकलवा देना लाभदायी होता है, शेष तीनों में विरेचन। इस रोग को मुखपाक अथवा मुख आमा कहते हैं। इसमें प्रायः पाचन क्रिया की विकृति ही होती है।

असाध्यमुखरोगाणां लक्षणानि ।

ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांस-रक्त-त्रिदोषजाः ।
दन्तमूलेषु वर्ज्यौ च त्रिलिङ्गगति-शौषिरौ ॥ ५६ ॥
दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्याव-दालन-भञ्जनाः ।
जिह्वारोगे त्वलासस्तु तालव्येष्वर्बुदं तथा ॥ ५७ ॥
स्वरघ्नो वलयो वृन्दो बलाशश्च विदारिका ॥
गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी गले ॥ ५८ ॥
असाध्याः कीर्तिता ह्येते रोगा नव दशैव तु ।
तेषु चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥५९॥

सु० नि० अ० १६

अर्थ—मुखरोगों में निम्नलिखित रोग असाध्य होते हैं—ओष्ठरोगों में मांस, रक्त एवं सन्निपात के रोग । मसूड़ों के रोगों में सान्निपातिक नासूर तथा शौषिर । दन्तरोगों में "श्यावदन्तक" "दालनक" तथा "भञ्जनक" । जिह्वारोगों में अलास । तालुरोगों में अर्बुद । गलरोगों में स्वरघ्न, वलय, वृन्द, बलाश, विदारिका, गलौघ, मांसतान, शतघ्नी तथा रोहिणी । इस प्रकार यह उन्नीस रोग यद्यपि असाध्य होते हैं तथापि वैद्य का कर्तव्य है कि वह रोग की असाध्यता बतलाकर चिकित्सा करे ।

कर्णरोगनिदानम्[1] ।

कर्णशूलस्य लक्षणम् ।

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथा चरन् समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः ।
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतः स कर्णशूलः कथितो दुराचरः ॥१॥

सु० उ० अ० २०

अर्थ—कान के भीतर प्रतिलोमगतिशील वायु कान के छिद्र में तथा

१—आकर्णनोपयोगी अंग को "कर्ण" कहा जाता है । कर्णशष्कुली, कर्णगुहा, कर्णताल एवं शब्दवाहक-संस्थान का नाम "कर्ण" है ।

उसके आस-पास भीषण शूल उत्पन्न कर देता है। यदि वायु कदाचित् दूसरे दोषों से आवृत हो जाता है तो यह रोग दुःसाध्य अथवा कभी असाध्य भी हो जाता है। इसे "कर्णशूल" अथवा कान दुखना या "टाँट बजना" कहा जाता है।

कर्णनादस्य लक्षणम्।

[1]कर्णस्रोतःस्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वरान्।
भेरी-मृदङ्ग-शङ्खानां कर्णनादः स उच्यते ॥ २ ॥

अर्थ—कर्णस्रोत (शब्दवाही स्रोत) जब वायु से दूषित हो जाता है तो रोगी ढोल, मृदंग तथा शंख आदि के विविध स्वरों को सुनता है। इस रोग का नाम "कर्णनाद" है।

बाधिर्यस्य लक्षणम्।

यदा शब्दवहं वायुः स्रोत आवृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वापि बाधिर्यं तेन जायते ॥ ३ ॥

अर्थ—जब केवल वायु अथवा कफ से युक्त वायु शब्दवाही स्रोत को सर्वथा रोक लेता है तब "बाधिर्य" अथवा "बहरापन" हो जाता है।

कर्णक्ष्वेडस्य लक्षणम्।

वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—पित्त तथा कफ से युक्त वायु से कानों में वंशी का-सा शब्द सुनाई पड़ता है। इसे "कर्णक्ष्वेड" कहा जाता है।

कर्णस्रावस्य लक्षणम्।

शिरोऽभिघातादथवा निमज्जतो जले प्रपाकादथवापि विद्रधेः।

१—विदेह-वचन और भी विशद है। यथा—
शिरोगतो यदा वायुः श्रोत्रयोः प्रतिपद्यते। तदा तु विविधान् शब्दान् समीरयति कर्णयोः ॥
भृंगारक्रौञ्चनादं वा मण्डूककाकयोस्तथा। तन्त्रीमृदंगशब्दं वा सामतूर्यस्वनं तथा ॥
गीताऽध्ययनवंशानां निर्घोषं क्ष्वेडनं तथा। अपामिव पतन्तीनां शकटस्येव गच्छतः ॥
श्वसतामिव सर्पाणां भृशदशः यते स्वनः।

स्रवेद्द हि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः ॥५॥

अर्थ—जिसी प्रकार सिर में चोट लगने से, जल में डुबकी लगाने (इस समय कान में पानी पड़ जाने से) से अथवा कान की फुन्सी के पक जाने से स्राव निकलने लगता है और भयानक पीड़ा भी होती है। यह "कर्णस्राव" अथवा कान बहना कहलाता है।

कर्णकण्ड्वादिरोगाणां लक्षणम् ।

[1]मारुतः कफसंयुक्तः कर्णकण्डूं करोति च ।
पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरुते कर्णगूथकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—कफयुक्त वायु कान में खुजली कर देता है। इसे "कर्णकण्डू" कहते हैं। पित्त की ऊष्मा (गरमी) से कान में श्लेष्मा सूख जाता है तो उसे "कर्णगूथक" कहा जाता है।

कर्णप्रतिनाहरोगस्य लक्षणम्।

स कर्णगूथो द्रवतां गतो यदा विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते ।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो भवेद्विकारः शिरसोऽर्धभेदकृत् ॥ ७ ॥
सु० उ० अ० २०

अर्थ—वही उपरोक्त कर्णगूथ स्वयं पिघल कर अथवा स्नेहन स्वेदन करने से पिघल कर जब नाक अथवा मुख के मार्ग से निकलता है तो उसे "कर्णप्रतिनाह" कहा जाता है। इससे "आधा सीसी" नामक प्रसिद्ध रोग भी हो सकता है।

[2]क्रिमिकर्णकस्य लक्षणानि ।

यदा तु मूर्च्छन्त्यथवापि जन्तवः सृजन्त्यपत्यान्यथवापि मक्षिकाः ।

१—ये दोनों रोग कभी एक साथ हो जाते हैं अथवा पहिले खुजली होती है और फिर खोंड निकल कर शान्त हो जाती है। सर्षपतैल इसकी अच्छी औषधि है।

२—महर्षि निमि का पाठ भी पाठनीय है—

श्लेष्मपित्तजलोन्मिश्रे कोथे शोणितमांसजे ।
मूर्च्छन्ति जन्तवस्तत्र कृष्णास्ताम्रासितारुणाः ॥
भक्षयन्तीव ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुजः ।
क्रिमिकर्णं तु तं विद्यात् सन्निपातप्रकोपजम् ॥

तद्व्यञ्जनत्वाच्छ्रवको निरुच्यते भिषग्भिराद्यैः क्रिमिकर्णको गदः॥८॥
सु० उ० अ० २०

अर्थ—जब कान में किसी प्रकार की सड़न उत्पन्न होने से क्रिमि पड़ जाते हैं अथवा मक्खियों (जिनको किरौनी या हाई मक्खी कहते हैं) के बैठने से क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं तो वैद्य इसे क्रिमि पड़ने के कारण "क्रिमिकर्णक" रोग कहते हैं।

कर्णप्रविष्टकीटादीनां लक्षणानि।

पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि।
अरतिं व्याकुलत्वं च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ॥ ९ ॥
कर्णो निस्तुद्यते तस्य तथा फरफरायते।
कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना ॥१०॥ सु० नि० अ० १६

[1]कर्णछिद्र में जब कभी फतिंगे अथवा शतपदी (कानसिलाई नामक पतला और लम्बा कीड़ा) प्रविष्ट हो जाते हैं तो बेचैनी, व्याकुलता एवं वेदना को उत्पन्न कर देते हैं। कान में व्यथा तथा फरफराहट होती है। जब वह जन्तु चलता है तो भीषण वेदना और जब ठहर जाता है तो मन्द वेदना होती है।

कर्णविद्रधेर्लक्षणम्।

क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः।
सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत् प्रतोद-धूमायन-दाह-चोषवान् ॥ ११ ॥

अर्थ—क्षत, अभिघात अथवा दोषकोप से कान में "विद्रधि" हो जाता है। उसमें व्यथा-धूम सा निकलना, दाह एवं टीस होती है और पकने पर लाल, पीला एवं अरुण (हिरौञ्जी के रंग का) अस्र (रक्तमिश्रित पूय) निकलता है।

कर्णपाकस्य लक्षणम्।

कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथ-विक्लेद-कृद्भवेत्।

१—जब तक क्रिमि नहीं निकलता तब तक बड़ा कष्ट होता है। जीवित निकालने का उत्तम उपाय है कान में पानी भर देना और प्राणायाम।

कर्णविद्रधिपाकाद्वा जायते चाम्बुपूरणात् ॥१२॥

सु० उ० अ० २०

अर्थ—पित्त के विकार से दुर्गन्धयुक्त सड़न और आर्द्रता से युक्त "कर्णपाक" नामक रोग होता है। यह कान की फुन्सी के पकने अथवा कान में पानी भर जाने से भी हो जाया करता है।

पूतिकर्णस्य लक्षणम्।

पूयं स्रवति पूति वा स ज्ञेयः पूतिकर्णकः।

अर्थ—जब कान से दुर्गन्धयुक्त पीब निकला करती है तो उसे "[1]पूतिकर्ण" कहा जाता है।

कर्णशोथ-कर्णार्बुद-कर्णार्शसां लक्षणानि।

कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः ॥ १३ ॥

अर्थ—कान में शोथ, अर्बुद एवं अर्श भी हो जाता है, किन्तु उनके लक्षण वे ही होते हैं जो उनके अधिकारों में कहे गये हैं।

चरकोक्तकर्णरोगचतुष्टयस्य लक्षणानि।

नादोऽतिरुक् कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात्।
शोथः सरागो दरणं विदाहः सपीत-पूति-स्रवणं तु पित्तात् ॥१४॥
वैश्रुत्य-कण्डु-स्थिरशोथ-शुक्लः स्निग्ध-स्रुतिः स्वल्परुजः कफाच्च।
सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥१५॥

च० चि० अ० १६

अर्थ—वायु से अनेक प्रकार का नाद, पीड़ा, कर्णमल का सूखना, थोड़ा अथवा पतला स्राव एवं बहरापन। पित्त से सूजन, रंग (पीला, लाल), फटना, दाह एवं पीला तथा दुर्गन्धयुक्त स्राव। कफ से विरुद्ध श्रवण या बहरापन, खुजली, स्थायी शोथ, श्वेत और चिपचिपा स्राव एवं थोड़ी

१—कर्णस्राव, कर्ण-विद्रधि, कर्ण-पाक एवं पूतिकर्ण के हेतु वा लक्षणों में काफी समानता है अथवा अवस्थाभेद ही भेद का कारण है। अस्तु, रोगियों को देखते समय भली भाँति विचार कर लेना चाहिये।

पीड़ा। सन्निपात से उपर्युक्त सभी लक्षण तथा सब प्रकार के स्राव किन्तु भीषणता एवं अधिकता से युक्त होते हैं।

परिपोटकस्य लक्षणम्।

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽतिप्रवर्धिते।
कर्णशोथो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान्।
कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः॥१६॥

सु० चि० अ० २५

कर्णपाली (बाह्यावयव) के रोग—

अर्थ—कोमलता के कारण, बड़ी आयु में कर्णवेध करने से अथवा सहसा (शीघ्र) कर्णवेध करने अथवा उसे सहसा बढ़ाने से कर्णपाली में पीड़ा युक्त काला, लाल, कठोर एवं परिपोट (कुछ फटा) युक्त शोथ हो जाता है, इसे "परिपोटक" कहा जाता है।

उत्पातरोगस्य लक्षणम्।

गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद्घर्षणादपि।
शोथः पाल्यां भवेत् श्यावो दाह-पाक-रुजाऽन्वितः॥ १७ ॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः। सु० चि० अ० २५

अर्थ—भारी भूषणों के धारण से, ताड़न से एवं रगड़ लगने से कर्णपाली में दाह, पाक एवं पीड़ा से युक्त श्याव अथवा रक्त वर्ण का शोथ हो जाता है। यह रक्तपित्त के विकार से "उत्पात" नामक रोग होता है।

उन्मन्थकदुःखवर्धनयोर्लक्षणानि।

कर्णं बलाद्वर्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति॥ १८ ॥
कफं संगृह्य कुरुते शोथं स्तब्धमवेदनम्।
उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः॥१९॥ सु० चि० अ० २५

अर्थ—कर्णपाली को बलपूर्वक वेधने अथवा बढ़ाने से उसमें वायु कुपित हो जाता है और कफ से मिलकर कठोर तथा थोड़ी वेदना से युक्त शोथ कर देता है। उसमें खुजली भी होती है। यह कफ-वात के कोप से "उन्मन्थक" नामक रोग होता है।

संवर्ध्यमाने दुर्विद्धे कण्डू-पाक-रुजाऽन्वितः ।
शोथो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्धनः ॥२०॥ सु० चि० अ० २५

अर्थ—युक्तियुक्त कर्णवेध अथवा कर्णवर्द्धन न होने से कण्डू, दाह एवं पीड़ा से युक्त शोथ हो जाता है और उसमें पाक भी हो जाता है। यह सान्निपातिक "दुःखवर्द्धन" नामक रोग होता है।

परिलेहिनो लक्षणम् ।

कफासृक्क्रिमयः क्रुद्धाः सर्षपाभा विसर्पिणः ।
कुर्वन्ति पाल्यां पिडकाः कण्डू-दाह-रुजाऽन्विताः ॥ २१ ॥
कफासृक्क्रिमिसंभूतः स विसर्पन्नितस्ततः ।
लिहेत् सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥ २२ ॥
सु० चि० अ० २५

अर्थ—कफ, रक्त तथा क्रिमियों के विकार से सरसों के सदृश फैलनेवाली एवं कण्डू, दाह तथा पीड़ा से युक्त फुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह रोग कफ, रक्त तथा क्रिमियों से उत्पन्न इधर उधर फैलते २ शष्कुलीयुक्त पाली को नष्ट कर देता है। इसे "परिलेही" कहते हैं।

नासारोगनिदानम्[1] ।

पीनसरोगस्य लक्षणम् ।

[2]आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा ।

१—नासारन्ध्र एवं गन्धग्राही संस्थान "नासा" कहलाता है।

२—यह पाठ चरक एवं सुश्रुत दोनों में है, किन्तु तीसरा श्लोकार्ध केवल सुश्रुत में है। इस रोग में तीनों दोषों के लक्षण होने पर भी इसे वात-कफज कहना या पुराने टीकाकार गदाधरजी का अनिल को अनल पढ़ना व्यर्थ का झगड़ा बढ़ाना है। हमारे विचार में यह वचन प्रायिक है। क्योंकि सुश्रुत के "विधूप्यते" तथा "पापच्यते" यह दोनों वचन पित्त के विना किसी प्रकार संगत नहीं हो सकते। मधुकोश में बहुत ही सुन्दर पाठ है—यथा—

मस्तुलुंगोचितः श्लेष्मा यदा पित्ताद् विदह्यते ।

न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन ।
तं चानिल-श्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ॥१॥
सु० उ० अ० २२

अर्थ—जिस जन्तु की नासा रुक जाय (श्वास वायु की गति नहीं हो सकती, इसमें प्राय: एक नासापुट रुकता है कभी दोनों भी), कभी सूख जाय, कभी गीली रहे (पानी जाय) एवं उससे धूआँ-सा निकले, गन्ध तथा रस का अनुभव न हो ऐसे रोगी को अपीनस अथवा पीनस का रोगी समझ लेना चाहिये। प्रतिश्याय के समान लक्षणोंवाले इस रोग को वात-कफ से उत्पन्न हुआ कहना चाहिये।

पूतिनस्यस्य लक्षणम् ।

दोषैर्विदग्धैर्गल-तालु-मूले सम्मूर्च्छितो यस्य समीरणस्तु ।
निरेति पूतिर्मुख-नासिकाभ्यां तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम् ॥२॥
सु० उ० अ० २२

अर्थ—जिस रोग में वायु गला तथा तालु के मूल में दूषित दोषों से मिल जाता है और मुख एवं नाक से दुर्गन्धियुक्त होकर निकलता है। उसे "पूतिनस्य" कहते हैं ।

नासापाकस्य लक्षणम् ।

घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्याद्यस्मिन् विकारे बलवांश्च पाकः ।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्द विक्लेद-कोथावथवाऽपि यत्र ॥३॥
सु० उ० अ० २२

अर्थ—जिस रोग में नाक में स्थित पित्त कुछ फुन्सियों को उत्पन्न कर देता है वे बुरी तरह पक भी जाती हैं एवं उनमें पन्छा तथा सड़न भी हो जाती है। उसे "नासिकापाक" रोग समझना चाहिये ।

पूयरक्तस्य लक्षणम् ।

दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तोर्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः ।

तदास्रक् पिच्छिलं नासा बहु सिंघाणकं स्रवेत् ॥
सकण्डू-दाह-पाकं च तं तु विद्यादपीनसम् ।

नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥ ४ ॥

सु० उ० अ० २२

अर्थ—जिस रोग में वातादि दोषों का विदाह होने से तथा मस्तक में किसी प्रकार का भीतरी आघात लगने से मनुष्य की नाक से रक्तमिश्रित पीब निकलने लगता है। उस रोग को "पूय-रक्त" कहते हैं।

क्षवथुरोगस्य लक्षणम्।

घ्राणाश्रिते मर्मणि संप्रदुष्टो यस्यानिलो नासिकया निरेति।
कफानुजातो बहुशोऽतिशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः ॥ ५ ॥

सु० उ० अ० २२

अर्थ—जिस रोग में घ्राणाश्रित मर्म अर्थात् शृङ्गाटक नामक मर्म में वायु दूषित हो जाता है और बार बार कफमिश्रित (छींक) इस प्रकार का ऊँचा शब्द करता हुआ निकलता है उसे विद्वान् "क्षवथु" या "छींक" कहते हैं।

आगन्तुजक्षवथोर्लक्षणम्।

तीक्ष्णोपयोगादभिजिघ्रतो वा भावान् कटूनर्कनिरीक्षणाद्वा।
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्युद्घाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ॥ ६ ॥

सु० उ० अ० २२

अर्थ—तीक्ष्ण द्रव्य (मिरच और सूखा तम्बाकू आदि) के प्रयोग से, कटु द्रव्य (कायफल की छाल आदि) के सूंघने से, सूर्य की ओर (मुख खोल कर) देखने से अथवा सूत्र (कपड़ा की बत्ती बना कर नाक के भीतर देने से) आदि से तरुणास्थि मर्म अर्थात् शृंगाटक के स्पर्श से छींक आ जाती है।

नोट—कृत्रिम उपायों से उत्पन्न होने के कारण इसे आगन्तुज माना जाता है।

भ्रंशथुरोगस्य लक्षणम्।

प्रभ्रश्यते नासिकया तु यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु।
प्राक्संचितो मूर्धनि सूर्यतप्तस्तं भ्रंशथुं रोगमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

सु० उ० अ० २२

अर्थ—जिस रोग में सिर में पहिले से संचित पश्चात् सूर्य के ताप से पिघला हुआ गाढा, विदग्ध (पीला-सा) एवं नमकीन कफ नासामार्ग से निकलने लगता है, उसे "भ्रंशथु" कहते हैं।

दीप्ताख्यनासारोगस्य लक्षणम्।

घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु विनिःसरेद्धूम इवेह वायुः।
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तोर्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति॥ ८॥

सु० उ० अ० २२

अर्थ—जिसकी नाक में अत्यन्त दाह होता है, धूवें के समान वायु निकलता एवं नाक जली-सी ज्ञात होती है, उस मनुष्य के उस रोग को "दीप्त" कहते हैं।

प्रतीनाहस्य लक्षणम्।

उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम्।

सु० उ० अ० २२

अर्थ—जिस रोग में वायुयुक्त कफ श्वासमार्ग अर्थात् केवल नाक को रोक देता है, उसे "प्रतीनाह" कहना चाहिये।

नासास्रावस्य लक्षणम्।

घ्राणाद्घनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत् स्रावमुदाहरेत्तम्॥ ९॥

सु० उ० अ० २२

अर्थ—जिस रोग में नाक से गाढ़ा अथवा द्रव, पीला अथवा श्वेत दोष (कफ पित्त) निकलता है, उसे "स्राव" कहना चाहिये।

नासाशोषस्य लक्षणम्।

घ्राणाश्रिते स्रोतसि मारुतेन गाढं प्रतप्ते परिशोषिते च।[1]
कृच्छ्रात् श्वसेदूर्ध्वमधश्च जन्तुर्यस्मिन् स नासापरिशोष उक्तः॥१०॥

सु० उ० अ० २२

अर्थ—जिस रोग में वायु से नासामार्ग तप (उष्ण-गर्म) एवं सूख

१—इसका निम्नलिखित पाठान्तर बड़ा उत्तम है। उसे भी देखिये—
घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च।

जाता है और रोगी बड़ी कठिनता से ऊपर नीचे (केवल नाक से) श्वास ले सकता है, उसे "नासापरिशोष" कहा गया है।

आम-पक्वपीनसयोर्लक्षणम् ।

शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्रावस्तनुः स्वरः ।
क्षामः ष्ठीवत्यथाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥ ११ ॥

अर्थ—शिर का भारीपन, अरुचि, नाक से पतला पानी जाना, स्वर का बैठ जाना एवं बार २ थूकना यह "आम पीनस" का लक्षण है।

[1]आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति ।
स्वर-वर्ण-विशुद्धिश्च परिपक्वस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

अर्थ—आम पीनस के सभी लक्षणों के रहने पर भी केवल भेद इतना होता है—श्लेष्मा गाढ़ा हो जाता है अथवा स्रोतों में ही लीन हो जाता है और स्वर एवं वर्ण साफ हो जाता है। इसे परिपक्व (निराम) पीनस कहते हैं।

प्रतिश्यायरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

सन्धारणाजीर्णरजोऽतिभाष्यक्रोधर्तुवैषम्यशिरोभितापैः ।
प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतैरवश्ययया मैथुन-बाष्प-धूमैः ॥
संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु ॥ १३ ॥

अर्थ—मलमूत्रादि के वेग रोकने से, अजीर्ण से, अधिक बोलने से, क्रोध से, ऋतुओं की विपरीतता से, सिर पर धूप आदि की गर्मी लगने से, अधिक जागने से, अधिक सोने से, वर्षा में भींगने से, शीत लगने से, ओस में सोने या घूमने से, मैथुन से, भाफ लगने से एवं

१—"तनुत्वमामलिंगानाम्" अर्थात् आम पीनस के लक्षणों में कमी या मृदुता यह पाठ बहुत ही उत्तम है।

इन उपर्युक्त २ से १२ तक के ग्यारह श्लोकों में पीनस के ही लक्षणों का विशद वर्णन है। क्योंकि पीनस में ये सभी लक्षण पाये जाते हैं।

धूआँ लगने से जमे हुए कफ से युक्त शिर में बढ़ा हुआ वायु "प्रतिश्याय" नामक रोग को उत्पन्न कर देता है[1]।

चयं गता मूर्धनि मारुतादयः पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम् ।
प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैस्ततः प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि ॥१४॥

सु० उ० अ० २४

अर्थ—शिर में सञ्चित पृथक् २ अथवा मिले हुए वायु आदि अथवा रक्त भी अनेक प्रकार के हेतुओं से कुपित होकर "प्रतिश्याय" नामक रोग को उत्पन्न कर देते हैं[2]।

प्रतिश्यायस्य पूर्वरूपाणि ।

क्षवप्रवृत्तिः शिरसोऽतिपूर्णता स्तम्भोऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता ।
उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा नृणां प्रतिश्यायपुरःसराः स्मृताः ॥१५॥

सु० उ० अ० २४

अर्थ—प्रतिश्याय के पूर्वरूप इस प्रकार हैं—छींकें आना, शिर भरा-सा ज्ञात होना, शरीर में जकड़न, अंगों का दुखना, रोमाञ्च होना एवं अनेक प्रकार के और भी लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं[3]।

वातजादिप्रतिश्यायानां लक्षणानि ।

आनद्धा पिहिता नासा तनुस्रावप्रसेकिनी ।
गलताल्वोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा ॥ १६ ॥
क्षवप्रवृत्तिरत्यर्थं वक्त्रवैरस्यमेव च ।
भवेत् स्वरोपघातश्च प्रतिश्यायेऽनिलात्मके ॥ १७ ॥

अर्थ—वायु के प्रतिश्याय में नाक कुछ अथवा सर्वथा रुक जाती है।

१—इन कारणों से शीघ्र ही प्रतिश्याय हो जाता है और दो तीन दिनों में ही वह अच्छा भी हो जाता है।

२—यह प्रतिश्याय कृच्छ्रसाध्य होता है।

३—विदेहोक्त पूर्वरूप ये हैं—पूर्वरूपाणि दृश्यन्ते प्रतिश्याये भविष्यति । घ्राणधूमायनं मन्थ(अधिमन्थ)क्षवथुस्तालुदारणम् । कण्ठध्वंसो मुखस्रावः शिरसः पूरणं तथा ।

नाक से पानी जाता है। गला, तालु एवं ओठ सूखने लगते हैं, पुटपुटी में व्यथा होती है, अधिक छींकें आती हैं, मुख का स्वाद बिगड़ जाता है और स्वरभेद हो जाता है।

उष्णः सपीतकः स्रावो घ्राणात् स्रवति पैत्तिके।
कृशोऽतिपाण्डुः सन्तप्तो भवेत्तृष्णाभिपीडितः॥ १८॥
सधूममग्निं सहसा वमतीव स मानवः।

अर्थ—पित्त के प्रतिश्याय में नाक से गर्म तथा पीला-सा पानी जाता एवं रोगी कृश तथा पीला हो जाता है, और उसका शरीर गर्म रहता तथा वह उष्णता का अधिक अनुभव करता है। यहाँ तक कि उसे मुख से धूम सहित आग निकलती प्रतीत होती है।

घ्राणात् कफः कफकृते शीतः पाण्डुः स्रवेद्‌ बहुः।
शुक्लावभासः शुक्लाक्षो भवेद्गुरुशिरा नरः॥ १९॥
कण्ठ-ताल्वोष्ठ-शिरसां कण्डूभिरभिपीडितः। सु० उ० अ० २४

अर्थ—कफ के प्रतिश्याय में नाक से शीत, श्वेत एवं अधिक कफ निकला करता है। रोगी का वर्ण श्वेत-सा, आँखें श्वेत एवं सिर भारी हो जाता है और गला, तालु, ओठ तथा सिर में भीषण खुजली होती है।

सान्निपातिकप्रतिश्यायस्य लक्षणम्।

भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो यस्याकस्मान्निवर्तते॥ २०॥
सम्पक्वो वाऽप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः। सु० नि० अ० २४

अर्थ—जिस रोगी का प्रतिश्याय प्रत्यक्ष कारणों के बिना ही बार-बार उत्पन्न होता है और बार-बार शान्त हो जाता है, कभी शीघ्र ही दोष पाक हो जाता है, कभी नहीं भी होता[1]। इसे सन्निपात का प्रतिश्याय कहा गया है।

दुष्टप्रतिश्यायस्य लक्षणानि।

प्रक्लिद्यते पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति॥ २१॥

१—पाक तथा अपाक के वे ही लक्षण होते हैं जो कि पीनस के।

पुनरानह्यते वाऽपि पुनर्विव्रियते तथा ।
निश्वासो वाऽतिदुर्गन्धो नरो गन्धान् न वेत्ति च ॥ २२ ॥
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम् । सु० नि० अ० २४

अर्थ—नाक बारबार गीली होती और बारबार सूखती है एवं बारबार रुकती तथा बारबार खुलती है। श्वास में दुर्गन्ध आती है, किन्तु रोगी अन्य प्रकार की गन्धों का अनुभव नहीं करता। इसे कष्टसाध्य दुष्ट प्रतिश्याय जानना चाहिये।

रक्तजप्रतिश्यायस्य लक्षणम् ।

रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते ॥ २३ ॥
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः ।
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनो गन्धानपि न वेत्ति सः ॥ २४ ॥
सु० उ० अ० २४

अर्थ—रक्त के प्रतिश्याय में नाक से रक्तस्राव होता है। रोगी की आँखें लाल हो जाती हैं। रोगी उरोघात नामक रोग से पीडित हो जाता है। रोगी श्वास तथा मुख में विशेष प्रकार की दुर्गन्ध का अनुभव करता है, किन्तु अन्य प्रकार की गन्धों का अनुभव नहीं कर सकता।

असाध्यप्रतिश्यायस्य लक्षणम् ।

सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः ।
दुष्टतां यान्ति कालेन तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥२५॥

अर्थ—उचित चिकित्सा न करानेवाले रोगी के सभी प्रतिश्याय कुछ काल के पश्चात् दुष्ट अथवा असाध्य हो जाते हैं।

मूर्च्छन्ति चात्र क्रिमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः ।
क्रिमितो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणम् ॥२६॥ सु० उ० अ० २४

अर्थ—इस प्रतिश्याय में कभी कभी श्वेत, चिकने एवं सूक्ष्म क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं। इसके वे ही लक्षण होते हैं जो कि क्रिमि-जनित शिरोरोग के।

प्रवृद्धप्रतिश्यायानां विकारान्तरकर्तृत्वम् ।

बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं घोरांश्च नयनामयान् ।
शोथाग्निसादकासांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः ॥२७॥ सु० उ० अ० २४

अर्थ—समय पर उचित चिकित्सा न होने से बढ़े हुए पीनस नीचे लिखे रोगों को उत्पन्न कर देते हैं—बहरापन, अन्धापन, गन्धज्ञान का नाश, आँखों के रोग, शोथ, अग्निमान्द्य तथा खाँसी।

अन्येऽपि नासारोगाः ।

अर्बुदं सप्तधा शोथाश्चत्वारोऽर्शश्चतुर्विधम् ।
चतुर्विधं रक्तपित्तमुक्तं घ्राणेऽपि तद्विदुः ॥२८॥ सु० उ० अ० २२

अर्थ—नाक में सात प्रकार का अर्बुद, चार प्रकार का शोथ, चार प्रकार का अर्श एवं चार प्रकार का रक्तपित्त भी हो सकता है।

नेत्ररोगनिदानम् ।[1]

नेत्ररोगस्य हेतवः ।

उष्णाभितप्तस्य जले प्रवेशाद् दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ।
स्वेदाद् रजो-धूम-निषेवणाच्च छर्देर्विघाताद् वमनातियोगात् ॥ १ ॥
द्रवात् तथाऽन्नान्निशि सेविताच्च विण्मूत्र-वात-क्रम-निग्रहाच्च ।
प्रसक्त-संरोदन-कोप-शोकाच्छिरोऽभिघातादतिमद्यपानात् ॥ २ ॥
तथा ऋतूनां च विपर्ययेण क्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ।
बाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकारान् जनयन्ति दोषाः ॥३॥
सु० उ० अ० १

अर्थ—धूप, अग्नि अथवा परिश्रम से अभितप्त होकर अर्थात् पसीने से लथपथ होकर एकाएक शीतल जल में प्रवेश करने अर्थात् नहाने से, दूर की वस्तुओं को निरन्तर देखने से, असमय सोने से, आँख में

1—पक्ष्म, वर्त्म, कनीनिका, श्वेतभाग, कृष्णमण्डल तथा दृष्टिमण्डल को "नेत्र" कहा जात है।

पसीना पड़ने से, धूल अथवा धूआँ अधिक लगने से, विकृत वमन रोकने से, अधिक वमन होने से, रात्रि में द्रव भोजन खाने से, विष्ठा, मूत्र एवं अधोवायु का वेग रोकने से, निरन्तर रोने से, क्रोध एवं शोक करने से, सिर में चोट लगने से, अधिक मद्यपान करने से, ऋतुओं के बिगड़ने से, मानसिक क्लेश से, अधिक मैथुन से, आँसुओं के रोकने से एवं सूक्ष्म वस्तुओं को देर तक देखने से कुपित हुए दोष आँखों में रोग उत्पन्न कर देते हैं[1]।

अथाभिष्यन्दरोगस्य प्रकाराः।

वातात् पित्तात् कफाद् रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः।
प्रायेण जायते घोरः सर्वनेत्रामयाकरः॥ ४॥

अर्थ—वात, पित्त, कफ तथा रक्त के विकार से "अभिष्यन्द" नामक रोग हो जाता है। यह प्रायः बड़ा कष्टदायी होता और इससे आँख के सभी रोग हो सकते हैं। इसी को आँख आना या "आँख दुखना" कहा जाता है।

वाताभिष्यन्दस्य लक्षणम्।

निस्तोदन-स्तम्भन-रोमहर्ष-संघर्ष-पारुष्य-शिरोऽभितापाः।
विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति॥ ५॥
सु० उ० अ० ६

अर्थ—वायु के अभिष्यन्द के निम्नलिखित लक्षण होते हैं—व्यथा, आँख घुमाने में असमर्थता, रोमाञ्च, रड़क (जैसे आँख में बालु का कण पड़ गया हो), खरदरापन, शिर में पीड़ा, सूखी आँखें दुखना अथवा शीत आँसू निकलना।

पैत्तिकाभिष्यन्दस्य लक्षणम्।

दाहप्रपाकौ शिशिराभिनन्दा धूमायनं वाष्पसमुच्छ्रयश्च।
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति॥ ६॥
सु० उ० अ० ६

१—स्त्रियों को मासिक धर्म रुकने से भी नेत्ररोग हो जाते हैं।

अर्थ—पित्त के अभिष्यन्द में निम्न लिखित लक्षण होते हैं—दाह, भीषण पाक, (कदाचित्) शीत वस्तु के लेपादि से शान्तिलाभ, आँख से धुआँ-सा निकलता प्रतीत होना, अत्यधिक आँसू निकलना, गर्म आँसू निकलना, आँख पीली हो जाना ।

श्लैष्मिकाभिष्यन्दस्य लक्षणम् ।

उष्णाभिनन्दा गुरुताऽक्षिशोथः कण्डूपदेहावतिशीतता च ।
स्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥७॥
सु० उ० अ० ६

अर्थ—कफ के अभिष्यन्द में निम्न लक्षण होते हैं—गर्म (लेप प्रक्षालनादि) से सुख का अनुभव, आँख में भारीपन एवं शोथ, खुजली तथा मैल या कीचड़ या गिड्ड का अधिक आना, शीत अधिक ज्ञात होना बार २ लसदार पानी निकलना ।

रक्तजाभिष्यन्दस्य लक्षणम् ।

ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च नाड्यः समन्तादतिलोहिताश्च ।
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥८॥
सु० उ० अ० ६

अर्थ—रक्त के अभिष्यन्द में निम्न लक्षण होते हैं—लाल आँसू आना, आँखें लाल होना एवं आँख में अत्यन्त लाल सिराएँ दिखलाई देना और पित्ताभिष्यन्द के जितने लक्षण कहे गये हैं, वे सभी इसमें भी पाये जाते हैं ।

अथाधिमन्थस्य लक्षणम् ।

वृद्धैरेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम् ।
तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः ॥९॥ सु० उ० अ० ६

अर्थ—उचित चिकित्सा न करानेवाले रोगियों के बढ़े हुए अभिष्यन्दों से चार ही प्रकार के "अधिमन्थ" नामक रोग हो जाते हैं। इनमें बड़ी भीषण पीड़ा होती है ।

अथास्य लक्षणान्तरम् ।

उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा ।

शिरसोऽर्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः ॥१०॥ सु० नि० अ० ६

अर्थ—वायु आदि के अभिष्यन्दों के उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त इसमें निम्न लिखित दो लक्षण और उत्पन्न हो जाते हैं। १–मानों नेत्र उखाड़ा जा रहा है। २–आधा शिर मानों मथा जा रहा है।

नोट—रोगी इसी प्रकार के शब्दों में अपना कष्ट सुनाया करता है।

अथात्र दोषभेदेन कालावधिः।

हन्याद् दृष्टिं श्लैष्मिकः सप्तरात्रादधीमन्थो रक्तजः पञ्चरात्रात्।
आषड्रात्राद् वातिको वै निहन्यात् मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥

सु० उ० अ० ६

अर्थ—कफ का अधिमन्थ सात रात्रियों में, रक्त का पाँच रात्रियों में, वायु का छः रात्रियों में एवं पित्त का शीघ्र ही (एक दो रात्रियों में) दृष्टि (दर्शनशक्ति) को नष्ट कर देता है। यह सब अनुचित आहार-विहार से होना सम्भव है। अन्यथा नहीं होता[1]।

सामनेत्ररोगस्य लक्षणम्।

उदीर्णवेदनं नेत्रं राग-शोथ-समन्वितम्।
घर्ष-निस्तोद-शूला-ऽश्रुयुक्तमामान्वितं विदुः ॥१२॥ सु० उ० अ० ६

अर्थ—जिस आँख में अत्यन्त पीड़ा, वर्ण लाल, शोथ, रड़क, व्यथा, शूल एवं आँसुओं की अधिकता हो, उसे आम दोष से युक्त समझना चाहिये।

निरामनेत्ररोगस्य लक्षणम्।

मन्दवेदनता कण्डूः संरम्भाश्रुप्रशान्तता।
प्रशस्तवर्णता चाक्ष्णोः संपक्वं दोषमादिशेत् ॥१३॥ सु० उ० अ० ६

१—इस रोग में दिनशब्द को छोड़कर रात्रिशब्द का उल्लेख इस लिये किया गया है कि रात्रि में ही अधिक कष्ट होता है। रोगी हाय २ करते रात बिताता है। उचित चिकित्सा होने से रोगी की दृष्टि बच भी जाती है और यदि मारी जाती है तो किसी प्रकार से सुधर नहीं सकती।

अर्थ—जिस आँख में वेदना कम हो गई हो, खुजली हो, शोथ या उठाव या जोर तथा आँसू शान्त हो गये हों और स्वाभाविक वर्ण हो गया हो, उस में "दोष पाक" हो गया समझना चाहिये। अर्थात् इस दशा में दोष पच जाने से आँख सर्वथा अच्छी हो जाती है।

सशोथाक्षिपाकस्य लक्षणम्।

[1]कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसंनिभः।
संरम्भी पच्यते यस्तु नेत्रपाकः स शोथजः।
शोथहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोथजे॥१४॥ सु० उ० अ० ६

अर्थ—शोथ से होने वाले नेत्रपाक में खुजली, मैल तथा आँसू आते हैं, आँख पके गूलर फल के समान लाल हो जाती है और शोथ होकर अन्त में पक जाती है। शोथ के बिना ही जो "नेत्रपाक" होता है, उस में शोथ के अतिरिक्त उपर्युक्त सब लक्षण होते हैं।

हताधिमन्थस्य लक्षणम्।

उपेक्षणादक्षि यदाऽधिमन्थो वातात्मकः सादयति प्रसह्य।
रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष हताधिमन्थः खलु नाम रोगः॥ १५॥
सु० उ० अ० ६

अर्थ—जब वायु के "अधिमन्थ" की उपेक्षा की जाती है अर्थात् उचित चिकित्सा नहीं की जाती तब वह भीषण पीड़ाओं से आँख (नेत्रबुद्बुद) को नष्ट कर देता है और यह "हताधिमन्थ" नामक रोग सर्वथा असाध्य होता है।

१—इस रोग में आँख का डेला (नयन बुद्बुद) पक जाता है, पीब निकलने लगती है, अन्त में आँख बैठ जाती है, रोगी सदा के लिए अन्धा या काना हो जाता है। बहुत लोग आँख वाला बनने के लिये पत्थर की कृत्रिम आँख लगवा लेते हैं। इस रोग के लक्षणों को सुश्रुत से उद्धृत करते समय माधवजी ने एक पूरा ही श्लोक छोड़ दिया है। सम्भवतः इस लिये कि रोगी की आँख तो नष्ट हो ही जायगी अधिक लक्षण लिखने से क्या प्रयोजन ?।

वातपर्ययस्य लक्षणम् ।

वारं वारं च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मारुतः ।
रुजश्च विविधास्तीव्राः स ज्ञेयो वातपर्ययः ॥१६॥ सु० उ० अ० ६

अर्थ—वायु बार बार भौं से आँख में और आँख से भौं में दौड़ती है तथा अनेक प्रकार की भीषण पीड़ायें होती हैं। यह "वातपर्यय" कहलाता है

शुष्काक्षिपाकस्य लक्षणम् ।

यत् कूणितं दारुण-रूक्ष-वर्त्म संदह्यते चाविलदर्शनं यत् ।
सुदारुणं यत्प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥ १७ ॥
सु० अ० नि० ६

अर्थ—जो नेत्रबुद्‌बुद् (डेला) बरौनी से ढक जाता है, बरौनी असुन्दर एवं रूक्ष हो जाती है, दाह होता है, दर्शनशक्ति दुर्बल या नष्ट हो जाती है, आँख खोलने में असमर्थता होती है, इसे [1]शुष्काक्षिपाक कहा जाता है।

अन्यतोवातस्य लक्षणम् ।

यस्यावटूकर्ण-शिरो-हनुस्थो मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा ।
कुर्याद्रुजं वै भ्रुवि लोचने च तमन्यतोवातमुदाहरन्ति ॥ १८ ॥
सु० उ० अ० ६

अर्थ—जिस रोग में अवटु (घाटा वा गाटा) कान, सिर एवं हनु में रहने वाला अथवा मन्या नामक सिराओं में रहने वाला अथवा अन्य स्थानों (पीठ आदि) में रहने वाला वायु भौं तथा आँखों में पीड़ा उत्पन्न करता है, उस रोग को "अन्यतोवात" कहते हैं।

अम्लाध्युषितस्य लक्षणम् ।

श्यावं लोहितपर्यन्तं सर्वं चाक्षि प्रपच्यते ।
सदाहशोथं सास्रावमम्लाध्युषितमम्लतः ॥ १९ ॥ सु० नि० अ० ६

अर्थ—जिस रोग में आँख कुछ काली-सी हो जाती है, सब ओर से

1—इस रोग से नेत्र बुद्‌बुद् सूखकर छोटा हो जाता है।

लाल हो जाती है, दाह और शोथ होता है, पानी जाने लगता है, उसे अम्ल पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होने के कारण "अम्लाध्युषित" कहते हैं।

सिरोत्पातस्य लक्षणम्।

अवेदना वाऽपि सवेदना वा यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः।
मुहुर्विरज्यन्ति च याः स तादृग्व्याधिः सिरोत्पात इति प्रदिष्टः॥

सु० उ० अ० ६

अर्थ—पीड़ारहित अथवा पीड़ासहित आँख (ढेले) की सिराएँ एकाएक लाल हो जाती हैं और एकाएक लालिमारहित अर्थात् पूर्ववत् हो जाती हैं। इस प्रकार की व्याधि को "सिरोत्पात" कहा जाता है।

सिराप्रहर्षस्य लक्षणम्।

मोहात् सिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोगस्तु सिराप्रहर्षः।
ताम्राभमस्रं स्रवति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च ॥२१॥

सु० उ० अ० ६

अर्थ—यदि उपर्युक्त सिरोत्पात की उचित चिकित्सा न की जाय तो "सिराप्रहर्ष" नामक रोग हो जाता है। इस से लाल वर्ण का पानी अत्यधिक निकलने लगता है और वह रोगी सामने की ओर (प्रकाश को भी) नहीं देख सकता।

कृष्ण भाग के रोग—

सव्रणशुक्रस्य लक्षणम्।

निमग्नरूपं तु भवेद् हि कृष्णे सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद् वै।
स्रावं स्रवेदुष्णमतीव यच्च तत्सव्रणं शुक्रमुदाहरन्ति ॥ २२ ॥

सु० उ० अ० ५

अर्थ—नेत्रबुद्बुद् के काले भाग में सुई से बिंधे हुए के समान गड्ढा सा दिखाई देता है और उसमें से अत्यन्त उष्ण पानी निकला करता है[1] इसे व्रण सहित शुक्र या शुक्ल कहते हैं।

१—किसी किसी में से पानी नहीं निकलता।

सव्रणशुक्लस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

दृष्टेः समीपे न भवेत्तु यच्च न चावगाढं न च संस्रवेद्‌ हि ।
अवेदनं वा न च युग्मशुक्लं तत्सिद्धिमायाति कदाचिदेव ॥ २३ ॥

सु० उ० अ० ५

अर्थ—वही उपर्युक्त शुक्र यदि दृष्टि के सर्वथा समीप न हो, अत्यन्त गहरा न हो, उसमें से स्राव न निकले, पीड़ा न हो और ना दो शुक्र हों तो वह किसी प्रकार अच्छा हो सकता है ।

अव्रणशुक्लस्य लक्षणम् ।

[1]स्यन्दात्मकं कृष्णगतं सचोषं शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासम् ।
वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाशमथाव्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥२४॥ सु० उ० अ० ६

अर्थ—अभिष्यन्द के कारण नेत्र के कृष्णमण्डल में होनेवाला, टीस से युक्त, शंख तथा चन्द्रमा अथवा कुन्दपुष्प के समान श्वेत एवं निर्मल आकाश में प्रायः सायंकाल दिखाई देनेवाले पतले बादल के टुकड़े के सदृश व्रणरहित शुक्र होता है । यह सर्वथा साध्य है अर्थात् सामान्य चिकित्सा से ही अच्छा हो जाता है ।

अव्रणशुक्लस्य कृच्छ्रसाध्यत्वम् ।

गम्भीरजातं बहुलं च शुक्लं चिरोत्थितं चापि वदन्ति कृच्छ्रम् ।

अर्थ—गहरा, विस्तृत एवं पुराना (एक वर्ष से अधिक समय का) व्रणरहित शुक्र भी कष्टसाध्य कहा जाता है ।

विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा चलं सिरासूक्ष्ममदृष्टिकृच्च ।
द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च चिरोत्थितं चापि विवर्जनीयम् ॥ २५ ॥

सु० उ० अ० ६

अर्थ—बीच से कटा हुआ (दो या कई भागों में विभक्त) मांस से ढका हुआ, अपना स्थान बदलनेवाला, सूक्ष्म सिराओं से व्याप्त,

---

१—इसी को फूला या फूली कहा जाता है । वर्णभेद से यह तीन प्रकार का होता है—१ शंख (सर्वथा श्वेत), २ चन्द्रमा (रक्तता को लिए श्वेत), ३ कुन्द (कृष्णता को लिये श्वेत) ।

दर्शनशक्ति को नष्ट करनेवाला, दो पटलों (परदों) में भया हुवा, सब ओर से लाल एवं पुराना व्रणरहित भी शुक्र असाध्य होने के कारण त्याज्य होता है।

अस्य प्रकारान्तरेणासाध्यलक्षणानि।

उष्णाश्रुपातः पिडका च नेत्रे यस्मिन् भवेन्मुद्गनिभं च शुक्लम्।
तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचिदन्यच्च यत् तित्तिरिपक्षतुल्यम् ॥२६॥

सु० उ० अ० ५

अर्थ—जिस नेत्र में से गर्म आँसू निकलते हों अथवा उसमें फुन्सी हो गई हो अथवा मूंग के दाने का-सा शुक्र हो (यह दो परदों में होता है) अथवा जो तीतर के पंख-जैसा (विचित्र धुमिला) हो उसे कुछ आचार्य असाध्य मानते हैं, किन्तु महर्षि विदेह तो इसे साध्य ही मानते हैं।

अक्षिपाकात्ययस्य लक्षणम्।

श्वेतः[1] समाक्रामति सर्वतो हि दोषेण यस्यासितमण्डलं च।
तमक्षिपाकात्ययमक्षिरोगं सर्वात्मकं वर्जयितव्यमाहुः ॥ २७ ॥

सु० उ० अ० ५

अर्थ—जिस रोग में दोष से उत्पन्न हुई श्वेतता काले मण्डल को सब ओर से ढाँक लेती है, उस सान्निपातिक नेत्ररोग को "अक्षिपाकात्यय" कहते हैं और यह असाध्य होता है।

अजकाजातस्य लक्षणम्।

अजापुरीषप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहितपिच्छिलास्रः।
विगृह्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तच्चाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥२८॥

सु० उ० अ० ५

अर्थ—बकरी की मेंगन-जैसा, पीड़ा से युक्त, (केवल उत्पन्न होते समय पीड़ा होती है फिर नहीं) कुछ लाल एवं लाल तथा चिपचिपे या लसीले पानी को बहानेवाला, काले मण्डल में प्रचय या प्रवर्द्धन या मस्सा निकल आता है। इसे "अजकाजात" कहा जाता है।

१—इस फूली से सम्पूर्ण कृष्णमण्डल श्वेत हो जाता है।

दृष्टि के रोग—

अक्ष्णः प्रथमपटलस्थितदोषाणां लक्षणानि ।

प्रथमे पटले दोषा यस्य दृष्ट्यां व्यवस्थिताः ।
अव्यक्तानि स रूपाणि कदाचिदथ पश्यति ॥२९॥ सु० उ० अ० ७

अर्थ—दृष्टि के पहिले अर्थात् भीतर के परदे में जब दोष हो जाते हैं तो वह रोगी सभी पदार्थों अर्थात् अक्षरादि को स्पष्ट नहीं देख सकता, परन्तु कभी २ देख भी सकता है ।

द्वितीयपटलस्थदोषस्य लक्षणम् ।

दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते ।
मक्षिका मशकांश्चापि जालकानि च पश्यति ॥ ३० ॥
मण्डलानि पताकांश्च मरीचीन् कुण्डलानि च ।
परिप्लवाँश्च विविधान् वर्षमभ्रं तमांसि च ॥ ३१ ॥
दूरस्थानि च रूपाणि मन्यते स समीपतः ।
समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ॥ ३२ ॥
यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति । सु० उ० अ० ७

अर्थ—दूसरे परदे में जब दोष आ जाते हैं तो नीचे लिखे लक्षण होते हैं—दृष्टि व्याकुल हो जाती है, मक्खियां, मच्छड़ एवं जाल (जैसे मकड़ी का जाला) दिखाई देते हैं । गोल २ मण्डल, ध्वजा, मरीचियाँ (जो कि रेत में चमकते हुए कण दिखाई दिया करते हैं), कुण्डल की आकृतियाँ, अनेक प्रकार की जल की लहरें, वर्षा (बरसते हुए जल कण) बादल तथा अन्धकार दिखाई पड़ते हैं । वह रोगी दूर की वस्तुओं को समीप मानता है एवं समीप की वस्तुओं को दूर मानता है । यह सब दृष्टि का विषय अव्यवस्थित हो जाने से होता है । यही कारण है कि ऐसा रोगी यत्न करने पर भी सूई का नाका (छिद्र) नहीं देख सकता ।

तृतीयपटलगतदोषस्य लक्षणम् ।

ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात् तृतीयं पटलं गते ॥ ३३ ॥
महान्त्यपि च रूपाणि छादितानीव चाम्बरैः ।
कर्ण-नासा-ऽक्षि-हीनानि विकृतानीव पश्यति ॥ ३४ ॥
यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि । सु० उ० अ० ७

अर्थ—जब दोष तीसरे परदे में आ जाता है तो प्राणी ऊपर देख सकता है परन्तु नीचे नहीं देख सकता[1] है। बड़ी से बड़ी वस्तुओं को कपड़ों से ढकी हुई सी देखता है। किसी मनुष्य को देखते समय उसे कान, नाक, एवं आँख से हीन अथवा बिगड़ी हुई शकल का देखता है। इस रोग में जो दोष प्रबल होता है उसी के अनुसार दृष्टि का वर्ण भी हो जाता है।

अन्येऽपि दृष्टिविकाराः ।

अधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते ॥ ३५ ॥
पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थं नैव पश्यति ।
समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव पश्यति ॥ ३६ ॥
दृष्टिमध्यस्थिते दोषे महद्ध्रस्वं च पश्यति ।
द्विधा स्थिते द्विधा पश्येद्‍ बहुधा चानवस्थिते ॥ ३७ ॥
दोषे दृष्ट्याश्रिते तिर्यक् स एकं मन्यते द्विधा । सु० उ० अ० ७

अर्थ—उसी तीसरे परदे के निचले भाग में दोष रहने से समीप की वस्तुओं को, ऊपर के भाग में रहने से दूर की वस्तुओं को तथा दाहिनी एवं बाईं ओर रहने से दाहिनी ओर और बाईं ओर की वस्तुओं को नहीं देख सकता। सब ओर दोष के रहने से वस्तुओं को पृथक् २ नहीं देख सकता। दृष्टि के मध्य में दोष के रहने से बड़ी वस्तु छोटी दिखाई पड़ती है। दोष के दो भागों या कई भागों में विभक्त होने से

१—लक्ष्य के अतिरिक्त नीचे के अंशों को नहीं देख सकते।

एक ही वस्तु दो या कई दिखाई पड़ती हैं। दृष्टि में दोष तिरछा रहने से भी एक वस्तु दो दिखाई पड़ती है।

चतुर्थपटलगतदोषस्य लक्षणम्।

तिमिराख्यः स वै दोषश्चतुर्थं पटलं गतः ॥ ३८ ॥

रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशमतः परम्।
अस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे ॥ ३९ ॥
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरिक्षे च विद्युतः।
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णून्यथ पश्यति॥४०॥ सु० उ० अ० ७

अर्थ—चौथे परदे में जब दोष आ जाता है तो तिमिर नामक रोग हो जाता है। इस में दोष सब ओर से दृष्टि को ढाँक लेता है। (दोष धीरे २ और कभी २ सहसा भी ढँक लेता है) इसी से "लिंगनाश" या अन्धापन कहा जाता है। (लिंग अर्थात् दर्शनशक्ति का नाश या नष्ट हो जाना "लिंगनाश" कहलाता है) इस अन्धकारस्वरूप महाव्याधि के भीषण रूप धारण करने के पहिले रोगी चन्द्रमा, सूर्य, तारे, मेघों में चमकती हुई बिजली एवं और भी निर्मल (स्वच्छ) चमकने वाली वस्तुओं को देख सकता है।

स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिका काचसंज्ञितः। सु० उ० अ० ७

अर्थ—उपर्युक्त लिंगनाश "नीलिका" एवं "काच" के भेद से दो प्रकार का होता है।

दोषभेदाद् विचित्ररूपदर्शनम्।

वातेन चापि रूपाणि भ्रमन्तीव च पश्यति ॥ ४१ ॥

आविलान्यरुणाभानि व्याविद्धानीव मानवः।

अर्थ—वायु से उत्पन्न होने वाले लिंगनाश की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य को सभी वस्तुएँ घूमती हुई सी, धुमिली लाल सी एवं टेढ़ी-मेढ़ी सी दिखलाई पड़ती हैं।

[1]पित्तेनादित्य-खद्योत-शक्रचाप-तडिद्गुणान् ॥ ४२ ॥

१—वर्तमान पुस्तकों में मूल को छोड़कर निम्न पाठ को रखने की न जाने क्या आवश्यकता थी—'नृत्यतश्चैव शिखिनः सर्वं नीलं च पश्यति।'

शिखिबर्हविचित्राणि नीलकृष्णानि पश्यति ।

अर्थ—पित्त से होने वाले लिंगनाश की प्रारम्भिक दशा में मनुष्य सूर्य, जुगनू, इन्द्रधनुष एवं बिजली की लहरों को देख सकता है। सभी वस्तुएँ मोर के पंखों के समान विचित्र, नीली एवं काली-सी दिखाई पड़ती हैं।

कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च ॥ ४३ ॥

(पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रमेवाभ्रसंप्लवम् ।)

सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः ।

अर्थ—कफज लिंगनाश की प्रारम्भिक दशा में सभी वस्तुएँ चिकनी, श्वेत और मोटी दिखाई देती हैं। बादलों से रहित आकाश भी बादलों से ढँका ज्ञात होता तथा सभी द्रव्य जल में डूबे अथवा भींगे दिखलाई पड़ते हैं।

पश्येद्र रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च ॥ ४४ ॥

स सितान्यपि कृष्णानि पीतान्यपि च मानवः ।

अर्थ—रक्त के लिंगनाश की पहिली अवस्था में सभी द्रव्य लाल एवं अनेक प्रकार के अन्धकार तथा श्वेत पदार्थ भी काले अथवा पीले ज्ञात होते हैं।

सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानीव पश्यति ॥ ४५ ॥

बहुधा च द्विधा चापि सर्वाण्येव समन्ततः ।

हीनाधिकाङ्गान्यपि तु ज्योतींष्यपि च भूयसा ॥ ४६ ॥ सु० उ० अ० ७

अर्थ—सन्निपात से होनेवाले लिंगनाश की प्रारम्भिक दशा में सभी पदार्थ विचित्र एवं चञ्चल दिखलाई पड़ते हैं। एक ही द्रव्य अनेक अथवा दो अथवा सब ओर अथवा अंग हीन (अपूर्ण) अथवा अधिकांग (यथा दो सींगवाली गौ चार सींगवाली) दिखलाई पड़ता है, किन्तु चमकदार द्रव्यों को भली प्रकार देख सकता है।

परिम्लायिसंज्ञस्य तिमिरस्य लक्षणम् ।

पित्तं कुर्यात् परिम्लायि मूर्च्छितं पित्ततेजसा ।

पीता दिशस्तु खद्योतान् भास्करं चापि पश्यति ॥४७॥
विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव वा । सु० उ० अ० ७

अर्थ—चतुर्थ पटल गत पित्त पित्त के तेज अर्थात् रक्त से मिलकर "परिम्लायि" नामक रोग को उत्पन्न कर देता है। इस रोग के रोगी को दिशाएँ पीली एवं जुगनू दिखलाई पड़ते हैं और ऐसा ज्ञात होता है जैसे सूर्य का उदय हो रहा हो तथा वृक्षों पर जुगनू अथवा अन्यान्य चमकनेवाले पदार्थ रखे हों।

वक्ष्यामि षड्विधं रागैर्लिङ्गनाशमतः परम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—इस के अनन्तर वर्णों या रंगों के भेद से छः प्रकार का "लिंगनाश" कहा जायगा।

वातादिरागोद्देशः ।

[1]रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टो म्लायो च नीलश्च तथैव पित्तात् ।
कफात् सितः शोणितजः सरक्तः समस्तदोषप्रभवो विचित्रः ॥४९॥
सु० उ० अ० ७

अर्थ—लिंगनाश (मोतिया) का वर्ण वायु से लाल, पित्त से मलिन तथा नीला, कफ से श्वेत, रक्त से लाल एवं सन्निपात से विचित्र (रंग-विरंग) होता है।

अथात्र वातिकरागस्यैव वैशिष्ट्यम् ।

अरुणं मण्डलं दृष्ट्यां स्थूलकाचारुणप्रभम् । सु० उ० अ० ७

लिंगनाशों का विशद वर्णन निम्न प्रकार से है—

अर्थ—दृष्टि पर वातजनित अरुण लिगनाश (मोतिया) मोटे काँच के समान तथा कुछ लाल रंग का गोला होता है।

परिम्लायितिमिरस्य विशेषलक्षणानि ।

परिम्लायिनि रोगे स्यात् म्लायि नीलं च मण्डलम् ॥ ५० ॥
दोषक्षयात् स्वयं तत्र कदाचित् स्यात्तु दर्शनम् । सु० उ० अ० ७

अर्थ—परिम्लायी नामक रोगमें जो "लिंगनाश" होता है, वह मलिन,

१—ये रंग गहरे नहीं होते अपितु हल्के से होते हैं।

नीला और गोल होता है[1]। इसमें कभी कभी स्वयं दोष क्षीण हो जाने से दीखने भी लगता है।

लिङ्गनाशस्य विशिष्टलक्षणानि।

अरुणं मण्डलं वातात् चञ्चलं परुषं तथा ॥ ५१ ॥
पित्ताद् मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव च।
श्लेष्मणा बहुलं पीतं शङ्ख-कुन्देन्दु-पाण्डुरम् ॥ ५२ ॥
चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः।
मृज्यमाने च नयने मण्डलं तद् विसर्पति ॥ ५३ ॥
प्रवाल-पद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम्।
दृष्टिरागो भवेत् चित्रो लिङ्गनाशे त्रिदोषजे।
यथास्वं दोषलिङ्गानि सर्वेष्वेव भवन्ति हि ॥ ५४ ॥

सु० उ० अ० ७

अर्थ—वायु से लिंगनाश कुछ लाल, गोल, चञ्चल, (इधर उधर हटने वाला) एवं खरदरा; पित्त से गोल, नीला, कांस्यधातु के वर्णवाला एवं पीला; कफ से मोटा, पीला, शंख, कुन्द एवं चन्द्रमा के समान तथा पीलापन लिये श्वेत होता है एवं कमलपुष्प की पंखड़ी पर स्थित जल-बिन्दु के समान श्वेत (कुछ लाली लिये) होता है। कभी कभी आँख हाथ के मल देने पर यह मण्डल फैल जाता है। रक्तसे मूंगे तथा (गहरा लाल) पद्मपत्र (कुछ लाल) के समान लाल होता है। त्रिदोष के लिंगनाश का रंग विचित्र होता है। अधिक क्या लिखें प्रत्येक लिंग-नाश में प्रत्येक दोष के अपने लक्षण पाये जाते हैं।

नेत्ररोगाणां परिगणनम्।

षड् लिङ्गनाशाः षडिमे च रोगा दृष्ट्याश्रयाः षट् च षडेव वाच्याः।

सु० उ० अ० ७

1—सम्भवतः पित्त की ऊष्मा से पिघल कर इधर उधर हट जाने के कारण ऐसा होता है।

अर्थ—छः उपर्युक्त "लिंगनाश" तथा छः नीचे लिखे "पित्तविदग्धदृष्टि" आदि रोग मिलाकर बारह दृष्टि के रोग कहे जाते हैं।

पित्तविदग्धदृष्टेर्लक्षणानि ।

पित्तेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः पीता भवेद्यस्य नरस्य किंचित् ॥५५॥
पीतानि रूपाणि च तेन पश्येत् स वै नरः पित्तविदग्धदृष्टिः ।
प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे दिवा न पश्येन्निशि चेक्षते सः ॥५६॥
रात्रौ च शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्तात्पभावादपि तानि पश्येत् ।

सु० उ अ० ७

अर्थ—दूषित पित्त के कारण मनुष्य की दृष्टि कुछ पीली हो जाती है। अतएव उसे सभी दृश्य पीले ही दिखाई पड़ते हैं। इस रोगी को "पित्तविदग्धदृष्टि" (अर्थात् पित्त से विकृत हो गई है दृष्टि जिसकी) कहा जाता है। जिस रोग में दोष (पित्त) तीसरे परदे में रहता है और यह रोगी दिन में नहीं देख सकता किन्तु रात्रि में देखता है। रात्रि में स्वाभाविक शीत उसकी दृष्टि पर करुणा करता है और पित्त कुछ घट जाता है। इसी लिये रोगी रात्रि में देखने लगता है।

श्लेष्मविदग्धदृष्टेर्लक्षणानि ।

तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिस्तान्येव शुक्लानि तु मन्यते सः ॥५७॥
त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य
दिवा स सूर्यानुगृहीतदृष्टिः पश्येत्तु रूपाणि कफाल्पभावात् ॥५८॥

सु० उ० अ० ७

अर्थ—इसी प्रकार मनुष्य "श्लेष्मविदग्धदृष्टि" भी होता है। वह रोगी सभी द्रव्यों को श्वेत ही देखता है। तीनों ही परदों में जब थोड़ा सा दोष (कफ) आ जाता है तो "नक्तान्ध्य" या "रात्र्यन्ध्य" या रतौंधी को सहसा (कभी २ विलम्ब से भी) उत्पन्न कर देता है। यह रोगी दृष्टि पर सूर्य भगवान् की कृपा होने से एवं कफ के घट जाने से दिन में देखने को समर्थ होता है।

धूमदर्शिनो लक्षणानि ।

शोक-ज्वरा-ऽऽयास-शिरोऽभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः ।

धूम्रांस्तथा पश्यति सर्वभावान् स धूमदर्शीति नरः प्रदिष्टः ॥५९॥
सु० उ० अ० ७

अर्थ—शोक, ज्वर, परिश्रम (नेत्रसम्बन्धी) एवं शिर पर सन्ताप (धूप लगने या गर्म वस्तु को शिर पर उठाने से) लगने से जिस मनुष्य की दृष्टि दूषित हो जाती है वह सभी द्रव्यों को धूमिल देखता है। अतएव उसे "धूमदर्शी" कहा जाता है।[1]

ह्रस्वजाड्यरोगस्य लक्षणम्।

यो ह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छ्राद् ह्रस्वानि रूपाणि च तेन पश्येत्।

अर्थ—एक "ह्रस्वजाड्य" नामक रोग होता है इस रोग के कारण प्राणी दिन में भी छोटी वस्तुओं को बड़ी कठिनता से देख सकता है।

नकुलान्ध्यरोगस्य लक्षणम्।

विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत् ॥ ६० ॥
चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः।

अर्थ—दोषों से दूषित हो जाने के कारण जिस मनुष्य की दृष्टि नेउले की दृष्टि के समान (पीली) चमकने लगती एवं उस रोगी को दिन में सभी द्रव्य विचित्र दिखाई पड़ते हैं। वह रोग "नकुलान्ध्य" कहा जाता है।

गम्भीरिकाया लक्षणम्।

दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा संकोचमभ्यन्तरतस्तु याति ॥ ६१ ॥
रुजावगाढा च तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः।

अर्थ—वायु से विकृत होकर दृष्टि भीतर से सिकुड़ जाती है तथा उसमें गहरी पीड़ा होती है। विद्वान् इस रोग को "गम्भीरिका" कहते हैं।

अथागन्तुजलिङ्गनाशस्य लक्षणम्।

बाह्यौ[2] पुनर्द्वाविह सम्प्रदिष्टौ निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च ॥ ६२ ॥

१—इस रोग से पीड़ित रोगी रात्रि में नहीं देख सकता।

२—इस रोग में आँख के किसी भी अवयव को हानि पहुँचे बिना ही दर्शन-शक्ति नष्ट हो जाती है। पता नहीं कि पूर्वाचार्यों ने दूसरे को "अनिमित्त" संज्ञा क्यों

निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापाद् ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनः सः ।
सुरर्षि-गन्धर्व-महोरगाणां संदर्शनेनापि च भास्करस्य ॥ ६३ ॥
हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः ।
तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥६४॥
सु० चि० अ० २५

अर्थ—दो और भी आगन्तु "लिंगनाश" होते हैं (१) निमित्त से अर्थात् प्रत्यक्ष कारणों से (२) अनिमित्त अर्थात् अप्रत्यक्ष कारणों से। निमित्त से जो होता है वह शिर में सन्ताप लगने एवं अभिष्यन्द से होता है। देवता, ऋषि, गन्धर्व एवं बड़े २ साँपों तथा [1]सूर्य की ओर देखने से जिस मनुष्य की दृष्टि नष्ट हो जाती है वह लिंगनाश अनिमित्त से होता है। इस रोग में आँख सर्वथा साफ एवं दृष्टि वैदूर्य्यमणि के समान (स्वाभाविक वर्णवाली) निर्मल दिखाई पड़ती है।

शुक्लभाग के रोग—

अथार्मरोगस्य पञ्चभेदास्तत्र प्रस्तार्यर्मणो लक्षणानि ।

प्रस्तार्यर्म तनु स्तीर्णं श्यावं रक्तनिभं सिते ।

अर्थ—आँख के श्वेत भाग में पतला, विस्तृत, कुछ नीला एवं कुछ लाल जो अर्म (चिह्न या बिन्दु-सा) हो जाता है, उसे "प्रस्तारीअर्म" कहा जाता है।

शुक्लार्मणो लक्षणम् ।

सश्वेतं मृदु शुक्लार्म शुक्ले तद् वर्धते चिरात् ॥ ६५ ॥

अर्थ—आँख के शुक्लभाग में श्वेत, कोमल एवं चिरकाल में बढ़नेवाला "शुक्लार्म" होता है।

दी है जब कि वे ही लोग श्लोक ६३ के द्वारा तेजस्वी या चमकदार वस्तुओं को दृष्टिनाश का निमित्त मानते हैं।

१—मूल सुश्रुत के "भासुराणाम्" इस अत्युत्तम पाठ को बदलकर "भास्करस्य" पाठ व्यर्थ ही रखा गया है। क्योंकि "भासुराणाम्" पाठ से सूर्य के अतिरिक्त बिजली आदि का भी बोध हो सकता है। इन पाठों के नीचे सुश्रुत के निम्न पाठ पर ध्यान देना चाहिये—विदीर्यते सीदति हीयते वा नृणामभीघातहता तु दृष्टिः ।

रक्तार्मणो लक्षणम् ।

पद्माभं मृदु रक्तार्म यन्मांसं चीयते सिते ।

अर्थ—श्वेत भाग में जो लाल कमल के वर्णवाला (गुलाबी) एवं कोमल मांस उभर आता है, उसे "रक्तार्म" कहते हैं ।

अथाधिमांसार्मणो लक्षणम् ।

पृथु मृद्वधिमांसार्म बहलं च यकृन्निभम् ॥

अर्थ—चौड़ा, कोमल, मोटा एवं यकृत् के वर्णवाला (कुछ काला) "अधिमांसार्म" होता है ।

स्नाय्वर्मणो लक्षणम् ।

स्थिरं प्रस्तारि मांसाढ्यं शुष्कं स्नाय्वर्म पञ्चमम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—कठिन, विस्तृत, मांसयुक्त एवं श्वेत "स्नाय्वर्म" होता है । यह पाँचवाँ है अर्थात् इस प्रकार पाँच "अर्म" होते हैं ।

शुक्त्याख्यनेत्ररोगस्य लक्षणम् ।

श्यावः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो ये
शुक्त्याभाः सितनियताः स शुक्तिसंज्ञः ॥

अर्थ—श्वेत भाग में कुछ काले अथवा मांस के सदृश अर्थात् कुछ लाल एवं सीपी के आकार के जो कई बिन्दु हो जाते हैं उन्हें "शुक्ति" कहा जाता है ।

अथार्जुनस्य लक्षणम् ।

एको यः शशरुधिरोपमश्च बिन्दुः शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति॥६७॥

सु० उ० अ० ४

अर्थ—एक ही जो खरगोश के रक्त के समान वर्णवाला (कुछ लाल या गुलाबी) बिन्दु शुक्लभाग में होता है उसको "अर्जुन" कहते हैं ।

पिष्टकस्य लक्षणम् ।

श्लेष्म[1]-मारुत-कोपेन शुक्ले पिष्टं समुन्नतम् ।

१—सुश्रुत में इसके स्थान पर निम्न पाठ है—

"उत्सन्नः सलिलनिभोऽथ पिष्टशुक्लो बिन्दुर्यो भवति स पिष्टकः सुवृत्तः" देखिये कितना अच्छा पाठ है । अर्मसम्बन्धी सब पाठ परिवर्तित हैं ।

पिष्टवत् पिष्टकं विद्धि मलाक्तादर्शसन्निभम् ॥६८॥ सु० उ० अ० ४

अर्थ—कफवात के कोप से शुक्लभाग में पीठी के समान श्वेत, उठा हुआ (ऊँचा), लिपा हुआ सा एवं मलयुक्त दर्पण के सदृश "पिष्टक" नामक रोग होता है।

जालाख्यनेत्ररोगस्य लक्षणम् ।

जालाभः कठिनसिरो महान् सरक्तः सन्तानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ।

अर्थ—श्वेतभाग में जाल के सदृश, कठिन सिराओं से व्याप्त, बड़ा सा, कुछ लाल एवं अपने उतने स्थान को छानेवाला जो बिन्दु होता है उसे "सिराजाल" कहा जाता है।

सिराजपिडकाया लक्षणम् ।

शुक्लस्थाः सितपिडकाः सिरावृता या-
स्ता ब्रूयादसितसमोपजाः सिराजाः । सु० उ० अ० ४

अर्थ—शुक्लभाग में काले भाग के समीप सिराओं से व्याप्त जो फुन्सियाँ हो जाती हैं उन्हें "सिराजपिडका" या (सिराओं में उत्पन्न होनेवाली फुन्सियाँ) कहा जाता है।

बलासग्रथितस्य लक्षणम् ।

कांस्याभोऽमृदुरथ वारिबिन्दुकल्पो
विज्ञेयो नयनसिते बलाससंज्ञः ॥६९॥ सु० उ० अ० ४

अर्थ—कांसा धातु के वर्णवाला, कुछ कठिन, एवं जल के बिन्दु जैसा श्वेतभाग में "बलास" नामक रोग होता है।

पूयालसस्य लक्षणम् ।

पक्वः शोथः सन्धिजो यः सतोदः स्रवेत्पूयं पूति पूयालसाख्यः ।
सु० उ० अ० २

आँख की सन्धियों के रोग—

अर्थ—कनीनिका अर्थात् कोया में व्यथापूर्वक शोथ हो जाता है। जब वह पक जाता है तो उसमें से दुर्गन्धयुक्त गाढ़ा पीब निकलने लगता है। इसे "पूयालस" कहते हैं।

श्लेष्मोपनाहस्य लक्षणम् ।

ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धावपाकी कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाहः ॥७०॥

सु० उ० अ० २

अर्थ—कृष्णमण्डल और दृष्टि की सन्धि में जो बड़ी सी गाँठ उत्पन्न हो जाती है एवं उसमें कुछ पाक, खुजली अधिक तथा थोड़ी-सी पीड़ा होती है। इस व्याधि का नाम "उपनाह" है।

चतुर्णां स्रावाणां (नेत्रनाडीनाम्) लक्षणानि ।

गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्युः स्रावान् लक्षणैः स्वैरुपेतान् ।
तं हि स्रावं नेत्रनाडीति चैके तस्या लिङ्गं कीर्तयिष्ये चतुर्धा ॥७१॥

सु० उ० अ० २

अर्थ—दोष (कफ, रक्त, पित्त पृथक् २ एवं उनका सन्निपात) आंसुओं के मार्ग से (जिस मार्ग से आँसू निकलते हैं) नेत्रगत चारों सन्धियों में पहुँच कर अपने २ लक्षणों (निम्नलिखित) से युक्त चार प्रकार के स्रावों को निकालते हैं। इन्हें "नेत्रनाडी" भी कहते हैं। इन चारों स्रावों के भिन्न भिन्न लक्षण नीचे कहे जायँगे।

चतुर्णां स्रावाणां मध्ये पूयस्रावस्य लक्षणम् ।

पाकात् सन्धौ संस्रवेद् यस्तु पूयं पूयास्रावोऽसौ गदः सर्वजस्तु ।

सु० उ० अ० २

अर्थ—संधि के पक जाने से जो पीब निकलती रहती है, उसे "पूयास्राव" कहते हैं; यह सन्निपात से होता है।

कफस्रावस्य लक्षणम् ।

श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं यः स्रवेत्तु
श्लेष्मास्रावोऽसौ विकारो मतस्तु ॥७२॥ सु० उ० अ० २

अर्थ—जो श्वेत गाढ़ा एवं चिपचिपा पानी निकलता है, यह रोग "श्लेष्मास्राव" माना जाता है।

रक्तस्रावस्य लक्षणम् ।

रक्तस्रावः शोणितोत्थो विकारः स्रवेद् दुष्टं तत्र रक्तं प्रभूतम् ।

सु० उ० अ० २

अर्थ—रक्त के कारण "रक्तस्राव" होता है, इसमें बहुत तथा दूषित रक्त निकलता है।

जलस्रावपरपर्यायस्य पित्तस्रावस्य लक्षणम्।

हरिद्राभं पीतमुष्णं जलाभं
पित्तात् स्रावः संस्रवेत् सन्धिमध्यात् ॥७३॥ सु० उ० अ० २

अर्थ—सन्धि के मध्य में से हल्दी के पानी का सा, (कुछ लाल) अथवा पीला, गर्म एवं जल के समान तरल जो स्राव निकलता है, उसे "पित्तस्राव" कहते हैं।[1]

पर्वणीरोगस्य लक्षणम्।

ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना
रक्ताज्ज्ञेया पर्वणी वृत्तशोथा।
जाता सन्धौ कृष्णशुक्लेऽलजी स्यात्,
तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गैः ॥७४॥ सु० उ० अ० २

अर्थ—कृष्णमण्डल तथा शुक्ल भाग की सन्धि में लाल, छोटी-सी, दाह, तथा शूल से युक्त जो गोल सूजन हो जाती है उसे "पर्वणी" कहा जाता है तथा उसी स्थान में पूर्वोक्त प्रमेहपिडकाओं में कही गई "अलजी" के अलावा उपर्युक्त "पर्वणी" के ही लक्षणों से युक्त किन्तु पर्वणी से कुछ बड़ी "अलजी" कही जाती है।

क्रिमिग्रन्थेर्लक्षणम्।

क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च कण्डूं कुर्युः क्रिमयः सन्धिजाताः।
नानारूपा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ चरन्त्यन्तर्लोचनं दूषयन्तः ॥७५॥
सु० उ० अ० २

अर्थ—बरौनी (नेत्रच्छद) तथा पक्ष्म (नेत्ररोम) की सन्धियों में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के क्रिमि उक्त स्थानों में पहिले तो

१—अधिकतर निम्न स्राव देखा जाता है:—अश्रु स्रावः सिरा गत्वा नेत्रसन्धिषु तिष्ठति। ततः कनीनकं गत्वा चाश्रु कृत्वा कनीनके। ततः स्रवत्यथास्रावं यथा दोषमवेतनम्। (विदेह) इसे "ढलका" कहा जाता है।

खुजली उत्पन्न करते हैं तत्पश्चात् बरौनी तथा शुक्लभाग की सन्धि में पहुँच कर नेत्र को दूषित या विकृत करते हुए घूमते हैं[1] फिर उसे खा जाते हैं। इसे "क्रिमिग्रन्थि" कहा जाता है।

अथोत्सङ्गपिडकाया लक्षणम्।

अभ्यन्तरमुखी ताम्रा बाह्यतो वर्त्मनश्च या।
सोत्सङ्गोत्सङ्गपिडका सर्वजा स्थूलकण्डुरा॥ ७६॥ सु० उ० अ० ३

बरौनी (नेत्रबुद्बुदच्छद एवं निमेषोन्मेष होता है) के रोग—

अर्थ—वर्त्म के बाहरी ओर किन्तु भीतर की ओर मुखवाली, लाल वर्णवाली, पुष्ट, खुजली से युक्त, छोटी २ अन्यान्य पिडकाओं से घिरी हुई "उत्संग" पिडका होती है। यह सन्निपात से उत्पन्न होती है।

कुम्भीकाया लक्षणम्।

वर्त्मान्ते पिडका ध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च।
कुम्भीकाबीजप्रतिमाः कुम्भीकाः सन्निपातजः॥७७॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—सन्निपात से बरौनी के किनारे कुम्भीका अथवा अनार के बीज जैसी कई फुन्सियाँ हो जाती हैं। यह मोटी होकर फूट जाती हैं तो पीब बहने लगता है; इनका नाम "कुम्भीका" है।

पोथकीनां लक्षणम्।

स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसन्निभाः।
रुजावत्यश्च पिडकाः पोथक्य इति कीर्तिताः॥७८॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—लाल सरसों के दानों की सी, स्राव युक्त, खुजलीवाली, भारीपन से युक्त एवं वेदना करनेवाली फुन्सियाँ "पोथकी" कही जाती हैं। यह रोग भी बरौनी पर ही होता है[2]।

वर्त्मशर्कराया लक्षणम्।

पिडका या खरा स्थूला सूक्ष्माभिरभिसंवृता।

१—यदि इसी दशा में उचित चिकित्सा न की जाय तब।

२—इसके आस-पास छोटी २ फुन्सियाँ कभी २ ही होती हैं; नहीं तो प्रायः अकेली ही होती है। इसे बरौनी या यामिनी कहते हैं।

वर्त्मस्था शर्करा नाम स रोगो वर्त्मदूषकः ॥७९॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—बरौनी पर खर्दरी एवं बड़ी-सी एक फुन्सी हो जाती है, उसके आस-पास बहुत सी छोटी २ फुन्सियाँ निकल आती हैं, इन्हें "शर्करा" कहा जाता है। इनसे बरौनी खराब हो जाती है।

अथार्शोवर्त्मनो लक्षणम्।

एर्वारुबीजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः।

श्लक्ष्णाः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते ॥८०॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—बरौनी पर ककड़ी के बीज जैसी, थोड़ी पीड़ा से युक्त, स्पर्श में चिकनी अथवा खरदरी जो बहुत सी फुन्सियाँ या अंकुर निकल आते हैं, उन्हें "अर्शोवर्त्म" कहा जाता है।

शुष्कार्शसो लक्षणम्।

दीर्घाङ्कुरः खरः स्तब्धो दारुणोऽभ्यन्तरोद्भवः।

व्याधिरेषोऽभिविख्यातः शुष्कार्शो नाम नामतः ॥८१॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—बरौनी के भीतरी ओर लम्बा, खरदरा, कड़ा एवं दुखदायी अंकुर उत्पन्न हो जाता है। यह व्याधि "शुष्कार्श" नाम से विख्यात है।

अथाञ्जननामिकाया लक्षणम्।

दाह-तोद-वती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा।

मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका ॥८२॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—बरौनी में दाह एवं व्यथा से युक्त, लाल वर्णवाली, कोमल, थोड़ी-थोड़ी पीड़ा से युक्त छोटी-सी फुन्सी (अंकुर सी) हो जाती है। उसे "अञ्जननामिका" कहा जाता है।

बहुलवर्त्मनो लक्षणम्।

वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः।

सवर्णाभिः स्थिराभिश्च विद्याद् बहुलवर्त्म तत् ॥८३॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—जिस रोग में बरौनी बरौनी के ही समान वर्णवाली एवं बहुत दिनों तक स्थायी रहनेवाली पिडकाओं से चारों ओर से व्याप्त हो जाती है, वह रोग "बहुलवर्त्म" कहलाता है।

वर्त्मबन्धकस्य लक्षणम् ।

कण्डूमताऽल्पतोदेन वर्त्मशोथेन यो नरः ।
न स संछादयेदक्षि यत्रासौ वर्त्मबन्धकः ॥ ८४ ॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—जिस मनुष्य की बरौनी खुजली, व्यथा एवं शोथ से युक्त हो जाती है तथा वह रोगी नेत्रबुद्बुद को ढाँक नहीं सकता, इस रोग को "वर्त्मबन्धक" कहा जाता है।

क्लिष्टवर्त्मनो लक्षणम् ।

मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद्व वर्त्म सममेव च ।
अकस्माच्च भवेद्व रक्तं क्लिष्टवर्त्मेति तद्व विदुः ॥८५॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—जो बरौनी सबकी सब कोमल, थोड़ी वेदना से युक्त एवं लाल हो जाय अथवा कभी-कभी (प्रायः) लाल हो जाया करे, उसे "क्लिष्ट-वर्त्म" कहते हैं।

वर्त्मकर्दमस्य लक्षणम् ।

क्लिष्टं पुनः पित्तयुतं शोणितं विदहेद्व यदा ।
ततः क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दमः ॥ ८६ ॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—उपर्युक्त "क्लिष्टवर्त्म रोग" से युक्त बरौनी को जब पित्त से मिला हुआ रक्त विदग्ध कर देता है और वह सड़ जाती है तो इस रोग को "वर्त्मकर्दम" कहा जाता है।

श्याववर्त्मनो लक्षणम् ।

यद्व वर्त्म बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शूनं सवेदनम् ।
तदाहुः श्याववर्त्मेति वर्त्मरोगविशारदाः ॥८७॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—जो बरौनी बाहर एवं भीतर से कुछ काली, शोथयुक्त तथा व्यथा से युक्त हो जाती है, उसे विद्वान् "श्याववर्त्म" कहते हैं।

प्रक्लिन्नवर्त्मनो लक्षणम् ।

अरुजं बाह्यतः शूनं वर्त्म यस्य नरस्य हि ।
प्रक्लिन्नवर्त्म तद्व विद्यात् क्लिन्नमत्यर्थमन्ततः ॥८८॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—जिस मनुष्य की बरौनी बाहर की ओर से सूज जाती है तथा उसमें थोड़ी पीड़ा भी हुआ करती है अन्त में बरौनी अत्यन्त मड़ जाती है, उस रोग को "प्रक्लिन्नवर्त्म" कहा जाता है।

अथापरिक्लिन्नवर्त्मनो लक्षणम्।

यस्य धौतान्यधौतानि सम्बध्यन्ते पुनः पुनः।

वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत् ॥८९॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—जिस रोग में दोनों आँखों की दोनों अथवा चारों बरौनियाँ किसी प्रकार की पूय आदि चिपचिपाहट के बिना ही आपस में सट जाती हैं और आँखों को जल से भली प्रकार धो लेने अथवा न धो लेने पर भी ऐसा ही होता है, उसे "अपरिक्लिन्नवर्त्म[1]" कहते हैं।

वातहतवर्त्मनो लक्षणम्।

विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते।

एतद् वातहतं वर्त्म जानीयादक्षिचिन्तकः ॥९०॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—जिस मनुष्य की बरौनी निमेषोन्मेषिणी कण्डराओं के शिथिल हो जाने के कारण चेष्टारहित हो जाती है तथा निमेषोन्मेष नहीं हो सकता उसे शालाक्यशास्त्र के विचारशील विद्वान् "वाताहतवर्त्म" कहते हैं।

अथार्बुदस्य लक्षणम्।

वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम्।

आचक्षीतार्बुदमिति सरक्तमविलम्बितम् ॥९१॥ सु० उ० अ० ३३

अर्थ—बरौनी के भीतर थोड़ी वेदनावाली एवं ऊँची-नीची सी, कुछ लाल एवं न लटकनेवाली (अर्थात् महामूल) गाँठ हो जाती है, उसे "अर्बुद" कहना चाहिये।

निमेषस्य लक्षणम्।

निमेषिणीः सिरा वायुः प्रविष्टो सन्धिसंश्रयाः।

प्र चालयति वर्त्मानि निमेषं नाम तद् विदुः ॥९२॥ सु०उ०अ० ३

१—इससे रोगी को आंख खोलने के लिये बार बार प्रयत्न करना पड़ता है।

अर्थ—जिस रोग में वायु निमेषोन्मेष करानेवाली सिराओं के मूल में जाकर बरौनियों को अत्यधिक चञ्चल कर देता है, उसे "निमेष[1]" कहते हैं।

शोणितार्शसो लक्षणम्।

यः स्थितो वर्त्ममध्ये तु लोहितो मृदुरङ्कुरः।

तद्र रक्तजं शोणितार्शश्छिन्नं छिन्नं प्रवर्धते ॥९३॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—बरौनी के भीतर लाल एवं कोमल मांसांकुर उत्पन्न हो जाता है। इसे "शोणितार्श" कहा जाता है। यह रक्तविकार से होता है। इसको यदि कटवा भी दिया जाय तो भी यह फिर बढ़ आता है। अतएव यह असाध्य है।

लगणस्य लक्षणम्।

अपाकी कठिनः स्थूलो ग्रन्थिवर्त्मभवोऽरुजः।

लगणो नाम स व्याधिर्लिङ्गतः परिकीर्तितः ॥९४॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—बरौनी में एक गाँठ हो जाती है वह कभी पकती नहीं। वह कठिन एवं मोटी होती है। उसमें किसी प्रकार की पिड़ा भी नहीं होती। इसका नाम "लगण" कहा गया है।

विसवर्त्मनो लक्षणम्।

त्रयो दोषा बहिः शोथं कुर्युश्छिद्राणि वर्त्मनोः।

प्रस्रवन्त्यन्तरुदकं विसवद्द विसवर्त्म तत् ॥९५॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—तीनों दोष बरौनियों के बाहर सूजन तथा भीतर छिद्र कर देते हैं। उन छिद्रों में से आँख के भीतर पानी आता रहता है। जैसे कमल नाल में से। इसे "विसवर्त्म" कहा जाता है।

कुञ्चनस्य लक्षणम्।

वाताद्या वर्त्मसंकोचं जनयन्ति मला यदा।

तदा द्रष्टुं न शक्नोति कुञ्चनं नाम तद्द विदुः ॥ ९६ ॥

1—इस रोग का रोगी बार २ आँख झपकाया करता है।

अर्थ—जब वातादि दोष बरौनियों में संकोच (सिकुड़न) उत्पन्न कर देते हैं तो मनुष्य देख नहीं सकता। इसे विद्वान् "कुञ्चन" कहते हैं।

पक्ष्मकोपस्य लक्षणम्।

[1]प्रचालितानि वातेन पक्ष्माण्यक्षि विशन्ति हि।
घृष्यन्त्यक्षि मुहुस्तानि संरम्भं जनयन्ति च ॥ ९७ ॥
असिते सितभागे च मूलकोषात् पतन्त्यपि।
पक्ष्मकोपः स विज्ञेयो व्याधिः परमदारुणः ॥९८॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—वायु की विकृति से पक्ष्म (बरौनियों के बाल या रोम) अपने उचित मार्ग से न निकल कर भीतर की ओर जा निकलते हैं तथा बार २ (अर्थात् जब २ निमेषोन्मेष किया जाता है) नेत्र बुद्बुद के श्वेत या काले भाग पर चुभते हैं। उसमें सूजन हो जाती है और कुछ बाल मूलकोष (रोमकूप) से झड़ भी जाते हैं। इस अत्यन्त भीषण व्याधि को "पक्ष्मकोप" कहते हैं।

पक्ष्मशातस्य लक्षणम्।

वर्त्मपक्ष्माशयगतं पित्तं रोमाणि शातयेत्।
कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तमादिशेत्[2] ॥९९॥ सु० उ० अ० ३

अर्थ—पित्त बरौनियों के बालों की जड़ में जाकर उन बालों को उखाड़ देता है तथा दाह एवं खुजली को भी उत्पन्न कर देता है। उसे "पक्ष्मशात" कहना चाहिये

१—इस रोग को "पड़बाल" कहते हैं। मोचने के द्वारा इस बाल को रोगी उखड़वा देता है तो तब तक सुखी रहता है, जब तक की पुनः नोक नहीं निकलती है।

२—नेत्र रोगों की संख्या इस प्रकार है—

नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः।
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ १ ॥
सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु।
बाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ ॥ २ ॥

शिरोरोगनिदानम्[1] ।

शिरोरोगस्य भेदाः ।

शिरोरोगस्तु जायन्ते वात-पित्त-कफैस्त्रिभिः ।
सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ॥
सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः ॥१॥ सु० उ० अ० २५

अर्थ—वायु, पित्त, कफ, सन्निपात, रक्त, क्षय, एवं क्रिमियों से सात प्रकार के शिरोरोग होते हैं तथा सूर्यावर्त, अनन्तवात, अर्द्धावभेदक एवं शङ्खक ये भी चार रोग होते हैं। (इस प्रकार कुल मिलाकर ११ हो जाते हैं)।

वातिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम् ।
बन्धोपतापैः प्रशमश्च यत्र शिरोऽभितापः स समीरणेन ॥ २ ॥
सु० उ० अ० २५

अर्थ—जिस रोग में किसी प्रत्यक्ष कारण के बिना ही सिर में पीड़ा होती है और वह रात्रि में और भी अधिक हो जाती है तथा बाँधने (कपड़ा आदि से) अथवा सेंकने से शान्त हो जाती है, उसको वायु का "शिरोरोग" कहा जाता है।

पैत्तिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव भवेत् शिरो धूप्यति चाक्षिनासम् ।
शीतेन रात्रौ च भवेत् शमश्च शिरोऽभितापः स तु पित्तकोपात् ॥३॥
सु० उ० अ० २५

अर्थ—जिस रोग में अंगारों से ढंके हुये के समान सिर गर्म रहता है। आँख तथा नाक से धूँआ सा निकलता है। शीतोपचार से तथा रात्रि में आराम रहता है उसको पित्त का "शिरोरोग" कहते हैं।

---

१ सिर के भीतरी अवयव (मस्तिष्क) एवं बाहरी केश तथा केशभूमि से इस रोग का कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह वही रोग है जिसे "सिरदर्द" कहा जाता है।

श्लैष्मिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

शिरो भवेद् यस्य कफोपदिग्धं गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमं च ।
शूनाक्षिकूटं वदनं च यस्य शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात् ॥४॥

सु० उ० अ० २५

अर्थ—जिस रोग में सिर कफ से भरा-सा ज्ञात होता है तथा भारी, जकड़ा हुआ एवं ठण्डा रहता है और आँख के किनारे तथा मुख कुछ सूज जाता है, उसे कफ का "शिरोरोग" कहते हैं ।

सान्निपातिकशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति ।

सु० उ० अ० २५

अर्थ—सन्निपात के शिरोरोग में तीनों दोषों के सभी लक्षण पाये जाते हैं ।

रक्तजशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ॥५॥

सु० उ० अ० २५

अर्थ—रक्तज शिरोरोग में पित्त के सभी लक्षणों के अतिरिक्त किसी प्रकार का स्पर्श नहीं सहा जाता ।

क्षयजशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

वसाबलासक्षतसम्भवानां शिरोगतानामिह संक्षयेण ।
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेदुग्ररुजोतिमात्रम् ।
संस्वेदन-च्छर्दन-धूम-नस्यैरसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति ॥ ६ ॥

सु० उ० अ० २५

अर्थ—सिर में रहने वाले वसा, कफ (स्नेहन कफ) एवं रक्त के क्षय से "क्षयज शिरोरोग" होता है । यह कष्टसाध्य होता है और इसमें बड़ी उग्र वेदना होती है । यह[1] स्वेद, वमन, धूमपान, नस्य तथा रक्त-मोक्षण कराने से और भी बढ़ जाता है ।

१—यह स्मरण रखिये कि यह स्वेदादि क्रियायें सभी शिरोरोगों में कराई

क्रिमिजशिरोरोगस्य लक्षणम् ।

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः ।
घ्राणाच्च गच्छेत् सलिलं सपूयं शिरोभितापः क्रिमिभिः स घोरः ॥७॥
सु० उ० अ० २५

अर्थ—जिस रोगी के सिर में अत्यन्त व्यथा हो और उसे ऐसा ज्ञात हो कि भीतर कुछ काट रहा है और फड़कन भी ज्ञात हो एवं नाक से पीब से युक्त पानी[1] निकले तो उसे क्रिमिज शिरोरोग समझना चाहिये।

सूर्यापवर्तरोगस्य लक्षणम् ।

सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढा ।
विवर्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च ।
सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं सूर्यापवर्तं तमुदाहरन्ति ॥८॥ सु० उ० अ० २५

अर्थ—प्रातःकाल से ही आँख एवं भौं में पीड़ा होने लगती है और ज्यों २ सूर्य ऊपर चढ़ता है त्यों २ अत्यन्त भीषण होती जाती है। दोपहर के अनन्तर ज्यों २ सूर्य उतरता अर्थात् पश्चिम की ओर जाता है त्यों २ पीड़ा घटती जाती है (सायंकाल में रोगी स्वस्थ हो जाता है) । रोगी को कभी २ शीतोपचार तो कभी २ उष्णोपचार से शान्ति लाभ होता है। इस सान्निपातिक कष्टसाध्य शिरोरोग को "सूर्यापवर्त या सूर्यावर्त्त" कहते हैं।

जाती हैं, किन्तु इसमें नहीं। "असृग्वसा आदि" पाठ को असंगत मान कर भी म० को० कार ने नहीं बदला। इसका कारण हमारी समझ में नहीं आता।

१—देखा गया है कि इस पानी में अत्यन्त दुर्गन्धि एवं रक्त मिला रहता है। इसमें बार बार छींक के साथ अथवा यों ही एक एक करके नाक और मुख के रास्ते श्वेत क्रिमि निकलने लगते हैं। यदि शीघ्र ही उचित चिकित्सा न की जाय तो ये क्रिमि तालु को भी खा जाते हैं और उसमें छिद्र हो जाता है। जिसके कारण रोगी मिन्मिना कर बोलता है। आप आश्चर्य करेंगे कि क्रिमियों के निकल जाने पर छिद्र बहुत ही (दो ही चार दिनों में बिना किसी उपचार के) शीघ्र भर जाता है।

अथानन्तवातरोगस्य लक्षणम् ।

दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां संपीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम् ।
कुर्वन्ति योऽक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ॥९॥
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान् ।
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ॥ १० ॥
सु० उ० अ० २५

अर्थ—तीनों दोष कुपित होकर मन्या नामक नाड़ियों में पीड़ा करके गर्दन के पिछले भाग (गाटा या कुन्नी) में अत्यन्त भीषण पीड़ा करते हैं । यह पीड़ा वहाँ से चलकर आँख, भौं एवं शंख या पुड़पुड़ी में विशेषरूप से होती है । गण्डस्थल (गाल) के आसपास कम्प (थरथराहट), अनुग्रह एवं आँखों की व्याधियों को उत्पन्न करते हैं । इस त्रिदोषज शिरोरोग को "अनन्तवात" या "उल्लाँ" कहते हैं ।

अर्धावभेदकस्य लक्षणानि ।

रूक्षाशनात्यध्यशनप्राग्वातावश्यमैथुनैः ।
वेगसन्धारणायासाव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥११॥
केवलः सकफो वाऽर्धं गृहीत्वा शिरसो बली ।
मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धेऽतिवेदनाम् ॥१२॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात् तीव्रां सोऽर्धावभेदकः ।
नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥१३॥

अर्थ—रूक्ष भोजन, अत्यन्त अध्यशन, पूर्व दिशा की वायु, ओस, मैथुन, वेगनिरोध, परिश्रम एवं व्यायाम से कुपित अकेला अथवा कफयुक्त अत्यन्त बलवान् वायु सिर के आधे भाग, मन्या, भौं, शंख, कान, आँख एवं ललाट (माथा) में शस्त्राघात अथवा अरणीकाष्ठ के मथने की-सी अत्यन्त घोर पीड़ा कर देता है । यह रोग "अर्द्धावभेदक, (आधा सीसी[1]) कहा जाता है । यदि दुर्भाग्य से यह अधिक बढ़

१—इसका कुछ दिनों पर दौरा भी हुआ करता है ।

जाय तो आँख (दर्शनशक्ति) अथवा कान (श्रवणशक्ति) को नष्ट कर देता है।

शङ्खकस्य लक्षणानि

रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः।
तीव्ररुग्-दाह-रागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥१४॥
स शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नामतः परम्।
त्र्यहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥१५॥

अर्थ—दूषित रक्त, पित्त एवं वायु परस्पर मिलकर शंख या पुड़पुड़ी में तीव्र पीड़ा, दाह एवं लालिमा से युक्त दुखदायी सूजन उत्पन्न कर देते हैं। वह विष के समान बड़े वेग से शिर तथा गले को रोककर तीन रात के भीतर ही रोगी को मार डालता है। इस रोग को "शंखक" कहते हैं। यदि तीन दिन के पश्चात् भी रोगी जीता रहे तो रोगी के हितैषियों को रोग के असाध्यत्व की सूचना देकर चिकित्सा करे।

असृग्दरनिदानम्[1]।

प्रदररोगस्य सहेतुका संख्यारूपा सम्प्राप्तिः।

विरुद्ध-मद्याध्यशनादजीर्णाद्गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च।
यानाध्वशोकादतिकर्षणाच्च भाराभिघातात् शयनाद्दिवा च।
(असम्यक् प्रवृत्तं गर्भाशयाद्यद्रजः प्रदुष्टं विविधप्रकारम्।)
तं श्लेष्मपित्तानिलसन्निपातैश्चतुष्प्रकारं प्रदरं वदन्ति ॥ १ ॥

अर्थ—विरुद्ध भोजनों तथा पानों, मद्य एवं अध्यशन के सेवन से अजीर्ण, गर्भपात अथवा स्राव, अतिमैथुन, घोड़े आदि की सवारी, मार्गगमन, शोक, भारवहन, अभिघात (गर्भाशय आदि पर एवं दिन में अधिक लेटने अथवा सोने से और भी अनेक प्रकार के अपथ्यों से जो दूषित रज (अथवा कभी २ जीव शोणित भी, किन्तु इसे रक्तपित्त

1—इसका सीधा सम्बन्ध गर्भाशय से है।

मानना अधिक उचित है) गर्भाशय से स्वाभाविकता के प्रतिकूल निकलने लगता है। उसे कफ, पित्त, वायु एवं सन्निपात के भेद से चार प्रकार का "प्रदर" या "पैड़ा" कहते हैं।

प्रदररोगस्य सामान्यलक्षणम्।

असृग्दरं भवेत् सर्वं साङ्गमर्दं सवेदनम्। सु० शा० अ० २

अर्थ—सभी प्रदरों में नीचे लिखे लक्षण अवश्य पाये जाते हैं। यथा—अंगों में मर्दन की-सी (अंगफूटन) पीड़ा एवं दोषों के अनुकूल कण्डू, दाह एवं शूल आदि विविध प्रकार की वेदना।

अतिप्रवृत्तस्यार्तवस्योपद्रवाः।

तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा मदस्तृषा।
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः॥२॥ सु० शा० अ० २

अर्थ—उक्त रोग के अधिक बढ़ जाने से दुर्बलता, चक्कर (भ्रम), मूर्च्छा, मद, प्यास, दाह (अधिकतर हाथ पैरों में), प्रलाप, पाण्डुरोग (प्रायः हृत्कम्प), तन्द्रा एवं वायु के अपतन्त्रक (हिस्टिरिया) आदि रोग हो जाते हैं।

श्लैष्मिकादिभेदेन प्रदरस्य विशेषलक्षणानि।

आमं सपिच्छाप्रतिमं सपाण्डु पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु।
सपीत-नीलासित-रक्तमुष्णं पित्तार्तियुक्तं भृशवेगि पित्तात्॥३॥
रूक्षारुणं फेनिलमल्पमल्पं वातार्ति वातात् पिशितोदकाभम्।

अर्थ—आमरस से युक्त अथवा केवल आँव (जैसी पेचिस में गुदमार्ग से निकलती है), चिपचिपा, कुछ श्वेत एवं मांस के धोवन का-सा स्राव कफज प्रदर में निकला करता है[१]। कुछ पीला, नीला, काला, लाल, गर्म, पित्त की पीड़ा अर्थात् दाहादि से युक्त एवं अत्यन्त वेग के साथ पित्तप्रदर में स्राव निकला करता है[२]। रूक्ष, लाल, झाग से युक्त,

---

१—श्वेत प्रदर यही है।

२—सचमुच इसे ही "असृग्दर" कहना चाहिये। क्योंकि इसमें रक्तकण भी निकलते हैं।

थोड़ा-थोड़ा, वायु की पीड़ा से युक्त एवं मांस के धोवनका-सा स्राव वायु के प्रदर में निकला करता है[1]।

सक्षौद्र-सर्पिर्हरिताल-वर्णं मज्जप्रकाशं कुणपं त्रिदोषात्॥४॥

तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा न तत्र कुर्वीत भिषक् चिकित्साम्।

अर्थ—मधु के वर्ण एवं रस (मधुरता) से युक्त, घृत-जैसा, हरिताल के समान पीला, मज्जा-जैसा, मुरदे की-सी गन्धवाला स्राव त्रिदोषज प्रदर में निकला करता है[2]। इसे सभी वैद्य असाध्य समझते हैं। अतः वैद्य इसकी चिकित्सा के लिये असफल प्रयत्न न करे।

शश्वत् स्रवन्तीमास्रावं तृष्णा-दाह-ज्वरान्विताम्॥ ५ ॥

क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विनिर्दिशेत्।

अर्थ—जिस रोगिणी के उपर्युक्त प्रकार के स्राव निरन्तर निकल रहे हों; साथ ही प्यास, दाह एवं ज्वर भी हो और रक्त घट गया हो अतएव अत्यन्त दुर्बलता आगई हो, उसे असाध्य समझना चाहिये।

विशुद्धार्तवस्य लक्षणम्।

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च ॥ ६ ॥

नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्।

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्।

तदार्तवं प्रशंसन्ति यच्चाप्सु न विरज्यते। सु० उ० अ० २

अर्थ—प्रत्येक मास (२७-२७ दिन का चान्द्रमास) के पश्चात् चिपचिपाहट, दाह एवं शूल से रहित, न बहुत अधिक और न बहुत कम[3] जो रजःस्राव अधिक से अधिक पाँच दिन तक होता है उसे

१—इसे "रजःकृच्छ्र" कहा जाता है।

२—इसमें शर्करा, वसा, पित्त मिश्रित मेदा एवं मज्जा जैसे शरीरोपयोगी या जीवनोपयोगी पदार्थों के निकल जाने के कारण रोग भी असाध्य हो जाता और रोगिणी की जीवनलीला शीघ्र ही समाप्त हो जाती है।

३—इसका निर्णय प्रत्येक स्त्री अपने लिये स्वयं कर लेती है।

"शुद्ध आर्त्तव" जानना चाहिये। इस आर्त्तव का वर्ण खरगोश के रक्त का सा (फीका लाल या गुलाबी) अथवा लाही (लाख) के रस का सा (गहरा लाल) होता है[1] एवं इस रज से भींगा हुआ कपड़ा जल से धोने पर साफ हो जाता है अर्थात् उस पर धब्बा नहीं पड़ता (इससे विपरीत 'प्रदर' समझा जाता है)।

योनिव्यापन्निदानम्[2]।

योनिव्यापद्रोगस्य हेतवः।

विंशतिर्व्यापदो योनौ निर्दिष्टा रोगसंग्रहे।
मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ॥ १ ॥
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्। च० चि० अ० ३०

अर्थ—चरकसंहिता के अष्टोत्तरीयाध्याय (सूत्रस्थान अ० १९) में योनिरोगों की संख्या २० लिखी गई है। ये रोग मिथ्याहार-विहार, आर्तव की विकृति, माता-पिता के रज-वीर्य की दुष्टि एवं प्रारब्ध के दोष से स्त्रियों को हो जाते हैं। इनके पृथक् २ लक्षण आगे लिखे जाते हैं।

वातिकानामुदावर्तादियोनिव्यापत्तीनां लक्षणानि।

सा फेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति ॥ २ ॥
वन्ध्यां नष्टार्तवां विद्यात् विप्लुतां नित्यवेदनाम्।
परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मेण रुग् भृशम् ॥ ३ ॥
वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोद-पीडिता।
चतसृष्वपि चाद्यासु भवन्त्यनिलवेदनाः ॥ ४ ॥ सु० उ० अ० ३८

अर्थ—बड़े कष्ट से झागवाला रस निकलता है। उसे उदावर्ता[3] या

१—इन दोनों वर्णों का रज क्रमशः गौर एवं कृष्ण वर्ण की स्त्रियों को होता है।

२—मैथुनोपयोगी अंग तथा गर्भाशय की विविध प्रकार की व्यापत् अर्थात् विकृति का निश्चय इस प्रकरण में किया जायगा।

३—आर्तव शब्द का अर्थ "डिम्ब" लगाना उत्तम ज्ञात होता है। क्योंकि

उदावृत्ता कहते हैं। आर्त्तव सर्वथा नष्ट हो जाता उसे "वन्ध्या", सर्वदा वेदना होती रहती है उसे "विप्लुता", मैथुन करने में अत्यन्त वेदना होती है उसे "परिप्लुता", योनि कर्कश (रूक्ष) कड़ी (सख्त) शूल एवं व्यथा से पीड़ित रहती है उसे "वातला" कहते हैं और उपर्युक्त उदावृत्ता आदि चारों व्याधियों में वायु के लक्षण पाये जाते हैं।

रक्तक्षयादीनां पैत्तिकव्यापत्तीनां लक्षणानि।

सदाहं क्षीयते रक्तं यस्यां सा लोहितक्षया।
सवातमुद्गिरेद् बीजं वामिनी रजसा युतम् ॥ ५ ॥
प्रस्रंसिनी स्रंसते च क्षोभिता दुष्प्रजायिनी।
स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंक्षयात् ॥ ६ ॥
अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाह-पाक-ज्वरान्विता।
चतसृष्वपि चाद्यासु पित्तलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥७॥ सु० उ० अ० ३८

अर्थ—जिसमें दाहपूर्वक रक्त या रज निकलता है उसे "लोहितक्षया", गर्भाधान के कुछ दिनों या सप्ताहों के पश्चात् वायु एवं रज से युक्त वीर्य को उगल देती है उसे "वामिनी", जो बहुत या थोड़ी अपने स्थान से ढुलक जाती है अथवा जिससे प्रसव के समय अत्यन्त वेदना होती है उसे "प्रस्रंसिनी", जिसमें रक्त की कमी के कारण बार-बार गर्भस्राव या गर्भपात हो जाया करता है अथवा ठीक समय पर उत्पन्न होकर भी सन्तान मर जाती है "पुत्रघ्नी", जो दाह, पाक (योनि में) एवं ज्वर से युक्त होती है उसे "पित्तला" कहते हैं। और उपर्युक्त लोहितक्षया आदि चारों व्याधियों में पित्त के लक्षणों की अधिकता पाई जाती है।

अत्यानन्दादिश्लैष्मिकयोनिव्यापदां लक्षणानि।

अत्यानन्दा न सन्तोषं ग्राम्यधर्मेण गच्छति।

रजःस्राव उचित प्रकार से होने पर भी बहुत सी स्त्रियाँ ऐसी हैं जिन्हें गर्भाधान नहीं होता। उन्हीं को "वन्ध्या" कहा भी जाता है।

कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते ॥८॥
मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते ।
बहुशश्चातिचरणा तयोर्बीजं न विन्दति ॥९॥
श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूग्रस्ताऽतिशीतला ।
चतसृष्वपि चाद्यासु श्लेष्मलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥१०॥

सु० उ० अ० ३८

अर्थ—जिसे मैथुन से सन्तोष या तृप्ति का लाभ नहीं होता उसे "[1]अत्यानन्दा", कफ-रक्त की विकृति से योनि के भीतर गाँठ हो जाती है उसे "कर्णिनी", मैथुन करते समय पुरुष की सन्तुष्टी के पूर्व ही जो सन्तुष्ट हो जाती उसे "अचरणा" (इसकी मैथुनाभिलाषा शीघ्र शान्त हो जाती है), जो बहुत अधिक मैथुनाभिलाषिणी होती है उसे "[2]अतिचरणा", जो चिपचिपी, कण्डूयुक्त, अत्यन्त शीत होती है उसे "श्लेष्मला" कहते हैं। उपर्युक्त अत्यानन्दा आदि चारों व्याधियों में कफ के लक्षणों की अधिकता पाई जाती है।

सान्निपातिकानां योनिव्यापत्तीनां लक्षणानि ।

अनार्तवाऽस्तनी षण्ढी खरस्पर्शा च मैथुने ।
अतिकायगृहीतायास्तरुण्यास्त्वण्डली भवेत् ॥११॥
विवृता च महायोनिः सूचीवक्त्राऽतिसंवृता ।
सर्वलिङ्गसमुत्थाना सर्वदोषप्रकोपजा ॥१२॥
चतसृष्वपि चाद्यासु सर्वलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ।
पञ्चासाध्या भवन्तीह योनयः सर्वदोषजाः ॥१३॥ सु० उ० अ० ३८

अर्थ—आर्त्तव रहित, अत्यन्त छोटे स्तनोंवाली एवं मैथुन में स्त्रियोचित गुणों से शून्य स्त्री की योनि को "षण्ढी", अत्यन्त स्थूललिंगवाले

१—इस रोग से पीडित स्त्रियाँ लोकलज्जा आदि का परित्याग कर बहुपुरुषगामिनी हो जाती हैं।

२—यह रोग भी कुलांगनाओं को कुलटा बना देता है

पुरुष के साथ छोटी आयु अथवा छोटे कद्वाली स्त्री का संयोग होने से "अण्डली[१]" अत्यन्त खुली "महायोनि" अत्यन्त संकीर्ण या ढँकी हुई "सूचीवक्त्रा[२]", और सब दोषों के लक्षणों से युक्त "सर्वजा" जानना चाहिये। और उपर्युक्त षण्ढी आदि चारों व्याधियों में सन्निपात के लक्षण पाये जाते हैं। एवं ये असाध्य मानी जाती हैं।

योनिकन्दनिदानम्।

योनिकन्दाख्यरोगस्य सम्प्राप्तिः।

दिवास्वप्नादतिक्रोधाद्व्यायामादतिमैथुनात्।
क्षताच्च नखदन्ताद्यैर्वाताद्याः कुपिता यदा॥ १॥
पूय-शोणित-संकाशं लकुचाकृतिसंनिभम्।
जनयन्ति तदा योनौ नाम्ना कन्दः स योनिजः॥ २॥

अर्थ—दिन में सोने से, अति क्रोध से, व्यायाम से, अति मैथुन से, दन्त-नख आदि के द्वारा क्षत होने से जब वायु आदि दोष कुपित हो जाते हैं तो योनि में पीब तथा रक्त के वर्ण (श्वेतरक्त) वाले एवं बड़हर के फलके समान उभारदार गाँठ उत्पन्न कर देते हैं। इसे "योनि-कन्द" कहा जाता है।

रक्तवातजादिभेदेन लक्षणानि।

रूक्षं विवर्णं स्फुटितं वातिकं तं विनिर्दिशेत्।
दाह-राग-ज्वर-युतं विद्यात् पित्तात्मकं तु तम्॥ ३॥

१—यह रोग छोटी आयुवाली अथवा नाटे कद की स्त्रियों को अथवा वात्स्यायन महर्षि के बतलाये हुए जोड़े न मिलने से हो सकता है।

२—"सूचीवक्त्राऽतिसंवृता" योनिच्छद की दृढ़ता के कारण पूर्णतया न फटने से गर्भाधान तो हो जाता है, किन्तु गर्भजनन में बड़ी कठिनाई पड़ती है। योनिमार्ग इतना (विटपास्थि के संकोच के कारण) छोटा होता है कि गर्भ उस मार्ग से बाहर निकल ही नहीं सकता। ऐसी दशा में उदर विदारण करके बच्चा निकाला जाता है। सम्भव है इन दोनों दोषों का निर्देश "सूचीवक्त्रा" से किया हो।

नीलपुष्पप्रतीकाशं कण्डूमन्तं कफात्मकम् ।
सर्वलिङ्गसमायुक्तं सन्निपातात्मकं विदुः ॥ ४ ॥

अर्थ—जो उक्त कन्द रूक्ष, मलिन एवं फटा फटा-सा हो उसे "वातज-कन्द" कहना चाहिये। जो दाह, लाल वर्ण एवं ज्वर से युक्त हो उसे "पित्तज कन्द" जानना चाहिये। जो आसमानी पुष्प के वर्णवाला एवं खुजली से युक्त हो उसे "कफज कन्द" जानना चाहिये। सभी दोषों के उपर्युक्त लक्षणों से युक्त कन्द को सन्निपातज कहा जाता है।

मूढगर्भनिदानम्[1] ।

गर्भपातस्य निदापूर्विका सम्प्राप्तिः ।

भयाभिघातात् तीक्ष्णोष्णपानाशननिषेवणात् ।
गर्भे पतति रक्तस्य सशूलं दर्शनं भवेत् ॥ १ ॥

अर्थ—भय से, गर्भाशयादि पर आघात पहुँचने से (मानसिक आघातों से भी), तीक्ष्ण एवं उष्ण पान भोजनों के सेवन से जब गर्भ गिरने को होता है तो शूल के साथ रक्त दिखाई पड़ने लगता है।

गर्भस्य स्राव-पातयोः कालभेदात् भेदः ।

आचतुर्थात् ततो मासात् प्रस्रवेत् गर्भविद्रवः ।
ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥ २॥ सु० नि० अ० ८

अर्थ—चौथे महीने तक यदि गर्भ गिर जाता है तो उसे "गर्भ-स्राव" अथवा पाँचवें और छठें महीने में कठिन काय गर्भ गिरता है तो उसे "गर्भपात" कहा जाता है[2] ।

गर्भस्याकालपाते सहेतुकं निदर्शनम् ।

गर्भोऽभिघातविषमाशनपीडनाद्यैः पक्वं
द्रुमादिव फलं पतति क्षणेन ।

१—गर्भाधान से गर्भ जन्म पर्यन्त सम्भाव्य रोगों का वर्णन इस प्रकरण में किया गया है।

२—स्मरण रखिये—सातवें मास में जन्मनेवाले बच्चे जी जाते हैं। आठवें

मूढः करोति पवनः खलु मूढगर्भं
शूलं च योनिजठरादिषु मूत्रसङ्गम् ॥ ३ ॥

अर्थ—शारीरिक अथवा मानसिक अभिघात से, विषम भोजन एवं पीड़न (पेट का मर्दन अथवा उसका अत्यन्त दबना) से गर्भ वृक्ष से पके फल के समान शीघ्र ही गिर जाता है[1] किन्तु कभी-कभी इस गिरते हुए गर्भ को प्रतिलोम वायु निकलने भी नहीं देता; बस, इस फँसे गर्भ को "मूढगर्भ" कहा जाता है। इससे योनि एवं उदर आदि में भीषण शूल एवं मूत्र का निरोध हो जाता है।

मूढगर्भस्याष्टौ गतयः

भुग्नोऽनिलेन विगुणेन ततः स गर्भः
संख्यामतीत्य बहुधा समुपैति योनिम्।
द्वारं निरुध्य शिरसा जठरेण कश्चित्
कश्चिच्छरीरपरिवर्तितकुब्जदेहः ॥ ४ ॥
एकेन कश्चिदपरस्तु भुजद्वयेन
तिर्यग्गतो भवति कश्चिदवाङ्मुखोऽन्यः।
पार्श्वापवृत्तगतिरेति तथैव कश्चि-
दित्यष्टधा गतिरियं ह्यपरा चतुर्धा ॥ ५ ॥

अर्थ—यद्यपि वायु की विकृति के कारण उक्त मूढगर्भ अनेक प्रकार से योनि में फँस जाता है तो भी निम्नलिखित आठ प्रकार के मूढगर्भ कहे जाते हैं; यथा—१—सिर के बल योनि में रुक जाता है, २—कोई पेट की ओर से, ३—कोई शरीर के घूम जाने के कारण कुबड़ा होकर,

---

में खोज के स्थिर न होने के कारण माता-पुत्र दोनों में से एक मर जाता है।

१—पके फल की उपमा देकर ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि गर्भिणियों को सर्वथा सावधान रहना चाहिए। परञ्च यदि अकाल में ऐसा होता है तो पके फल नहीं अपितु कच्चे फल के समान प्रसव से भी अधिक वेदना के साथ गिरता है। स्त्रियों में कहावत है कि सुआ से तुआ (अकालिक प्रसव) बुरा होता है।

४—किसी की केवल एक बाहु तो ५—किसी की दोनों बाहु बाहर निकल आती हैं (शेष रुक जाता है), ६—टेढ़ा होकर (कन्धे आदि की ओर से), ७—नीचे को मुख किये, ८—तथा कोई पसलियों की ओर से आकर फँस जाता है। इनसे भिन्न और भी चार प्रकार के मूढगर्भ होते हैं वे नीचे लिखे जाते हैं।

अपरासु चतुर्विधगतिषु संकीलकादीनां लक्षणानि।

संकीलकः प्रतिखुरः परिघोऽथ बीज-
स्तेषूर्ध्व-बाहु-चरणैः शिरसा च योनिम्।
सङ्गी च यो भवति कीलकवत् स कीलो
दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरं स हि कायसङ्गी।
गच्छेद्भुजद्वयशिराः स च बीजकाख्यो
योनौ स्थितः स परिघः परिघेण तुल्यः॥ ६॥

अर्थ—१—संकीलक, २—प्रतिखुर, ३—परिघ, ४—बीज। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—बाहु, पैर एवं सिर ऊपर को किये अर्थात् चूतड़ों की ओर से कील के समान योनि में जो फँसता है उसे "कीलक" कहते हैं। जो हाथ-पाँव के निकलने पर अवशिष्ट शरीर से रुकता है उसे "प्रतिखुर" कहते हैं। जिसमें दोनों बाहु एवं सिर निकल कर अवशिष्ट भाग फँस जाता है उसे "बीज" कहा जाता है। जो परिघ अर्थात् अरली (जो किवाड़ों के पीछे फँसाई जाती है) के समान तिरछा आकर रुकता है उसे "परिघ" कहते हैं।

असाध्यमूढगर्भ-गर्भिण्योर्लक्षणम्।

अपविद्धशिरा या तु शीताङ्गी निरपत्रपा।
नीलोद्गतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा॥७॥ सु० नि० अ० ८

अर्थ—जिसका सिर लटक गया हो, शरीर ठण्डा हो गया हो, जिसको अपना तन ढँकने की भी होश न हो तथा शरीर पर नीली २ सिराएँ दिखाई पड़ने लगें, वह गर्भिणी गर्भ को तथा गर्भ गर्भिणी को मार डालता है अर्थात् माता-पुत्र दोनों की मृत्यु हो जाती है।

मृतगर्भस्य लक्षणम् ।

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता ।
भवेदुच्छ्वासपूतित्वं शूनताऽनन्तर्मृते शिशौ ॥८॥ सु० नि० अ० ८

अर्थ—गर्भ की स्वाभाविक फड़कन (इसका गर्भिणी को अनुभव हुआ करता है) बन्द हो जाय, प्रसवकाल की वेदना भी बन्द हो जाय, शरीर पर कालापन अथवा पीलापन छा जाय, गर्भिणी के श्वास में दुर्गन्धि एवं उदर पर सूजन आ जाय तो समझ लेना चाहिये कि भीतर बच्चे की मृत्यु हो गई है[1] ।

गर्भस्य मरणकारणानि ।

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः ।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च निपीडितः ॥९॥ सु० नि० अ० ८

अर्थ—माता के मानसिक एवं आगन्तुक सन्तापों से अथवा अन्य शारीरिक व्याधियों से पीडित होकर गर्भाशय में ही गर्भ की मृत्यु हो जाती है ।

गर्भिण्या अपराण्यप्यसाध्यलक्षणानि ।

योनिसंवरणं[2] सङ्गः कुक्षौ मक्कल्ल एव च ।

१—इस दशा में यदि शल्यचिकित्सक (डाक्टर) मृत शिशुको काटकर शीघ्र निकाल लेता है तो माता के प्राणों की रक्षा हो जाती है ।

२—योनि संवरणादि के लक्षण इस प्रकार हैं—

वातलान्यन्नपानानि ग्राम्यधर्मं प्रजागरम् । अत्यर्थं सेवमानाया गर्भिण्या योनिमार्गगः ॥
मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम् । कुरुते रुद्धमार्गत्वात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः ॥
निरुणद्ध्याशयद्वारं पीडयन् गर्भसंस्थितिम् । निरुद्धवदनोच्छ्वासो*गर्भश्चाशु विपद्यते ॥
बद्धां संरुद्धहृदयां नाशयत्याशु गर्भिणीम् । योनिसंवरणं विद्याद् व्याधिमेनं सुदारुणम् ॥
अन्तकप्रतिमं घोरं नारभेत चिकित्सितुम् । वायुः प्रकुपितः कुर्यात् संरुध्य रुधिरं स्रुतम् ॥
सूताया हृच्छिरो-बस्तिशूलं मक्कल्लसंज्ञितम् ।

* यह पाठ अनार्ष है क्योंकि गर्भ में शिशु साँस नहीं लेता । देखिये सुश्रुत शा० अ० ३ ।

हन्युः स्त्रियं मूढगर्भां यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः ॥१०॥

अर्थ—योनि अर्थात् गर्भमार्ग का संकुचित होना तथा गर्भाशय का मुख बन्द हो जाना एवं मक्कलशूल और अन्यान्य आक्षेपक श्वासादि उपद्रव मूढगर्भवाली स्त्री को मार डालते हैं।

सूतिकारोगनिदानम्[1]।

सूतिकारोगस्य लक्षणम्।

अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता।
शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम् ॥१॥

अर्थ—अंगों का दुखना, ज्वर, कम्प, प्यास, शरीर का भारीपन, शोथ, शूल एवं अतिसार यह "सूतिकारोग" का लक्षण है।

सूतिकारोगस्य हेतवः।

मिथ्योपचारात् संक्लेशाद् विषमाजीर्णभोजनात्।
सूतिकायाश्च ये रोगा जायन्ते दारुणास्तु ते ॥२॥
ज्वरातीसारशोथाश्च शूलानाहबलक्षयाः।
तन्द्राऽरुचि-प्रसेकाद्याः कफवातामयोद्भवाः ॥३॥
कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीण-मांस-बलाग्नितः।
ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः ॥४॥

अर्थ—प्रसवसमय के उपचारों में गलतियाँ होने से, प्रसवकालीन कष्ट अथवा अन्य प्रकार के कष्टों से, विषम एवं अजीर्ण भोजन से प्रसूता को जो रोग हो जाते हैं वे प्रायः कष्टसाध्य होते हैं। ज्वर, अतिसार, शोथ, शूल, आनाह, दुर्बलता, तन्द्रा, अरुचि, मुखस्राव अथवा योनिस्राव एवं और भी कफ वायु के रोग हो जाते हैं। मांस, बल एवं अग्नि के घट जाने से ये सभी कष्टसाध्य रोग या उनके उपद्रव "सूतिका रोग" कहे जाते हैं।

---

1 प्रसव के बाद (४०-४५ दिन के भीतर) होनेवाले रोगों को "सूतिकारोग" कहा जाता है।

स्तनरोगनिदानम् ।

स्तनरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः ।
प्रदूष्य मांसरुधिरं स्तनरोगाय कल्पते ॥१॥

अर्थ—स्त्री के दूधवाले अथवा दुग्धरहित स्तनों (एक स्तन में भी) में जाकर दोष मांस-रक्त को दूषित कर "स्तनरोग"[1] कर देते हैं।

अस्यातिदैशिकं लक्षणम् ।

पञ्चानामपि तेषां हि रक्तजं विद्रधिं विना ।
लक्षणानि समानानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥२॥

अर्थ—इस स्तनरोग के सब लक्षण रक्तविद्रधि के अतिरिक्त बाह्य-विद्रधि के लक्षणों के समान होते हैं।

स्तन्यदुष्टिनिदानम्[2] ।

स्तन्यदुष्टेः सम्प्राप्तिः ।

गुरुभिर्विविधैरन्नैर्दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितम् ।

१—थनइली अथवा थनइला-इस नाम का रोग भी स्तनों में हो जाता है। इससे स्तनों में वेदना, शोथ एवं ज्वर हो आता है। जरा-सा भी स्पर्श करने से पीडा हो उठती है। इसमें स्तन की मांसपेशी में शोथ हो आता है। इसमें पाक नहीं होता और साधारण संकोचक औषधियों के लेप से तीन चार दिन आराम हो जाता है किसी-किसी को यह बारम्बार हुआ करता है। यह किसी भी प्रकार के आघात से हो सकता है।

२—प्रसव के ३-४ दिन बाद दुग्ध की प्रवृत्ति होती है। केवल माता के दूध पर निर्भर रहने वाले बच्चों के रोगों का कारण दूषित दुग्ध ही होता है। अतः इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये। दूध उतरने में सच्चा प्रेम ही कारण होता है। यही कारण है कि अप्रसूता एवं वृद्धाओं को भी दूध उतर आता है। यथा—

विशत्स्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते । सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥
तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि । शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्तते ॥

क्षीरं मातुः कुमारस्य नानारोगाय कल्पते ॥ १ ॥

अर्थ—अनेक प्रकार के गुरु पदार्थों के सेवन से दुष्ट दोष माता का दूध बिगाड़ देते हैं। इस दूषित दूध के पीने से बच्चे को अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं।

स्तन्यदुष्टेर्लक्षणानि।

कषायं सलिलप्लावि स्तन्यं मारुतदूषितम्।
कट्वम्ललवणं पीतराजीमत् पित्तसंज्ञितम् ॥ २ ॥
कफदुष्टं घनं तोये निमज्जति सपिच्छलम्।
द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं विद्यात् सर्वलिङ्गं त्रिदोषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ—कसैला एवं पानी पर तैरनेवाला दुग्ध वायु से दूषित समझा जाता है। कडुआ, खट्टा, नमकीन तथा पीली २ धारियों से युक्त पित्त से दूषित समझा जाता है। गाढ़ा, पानी में डूब जानेवाला एवं चिपचिपा कफ से दूषित समझा जाता है। दो दोषों के लक्षणों से युक्त द्विदोष-दूषित तथा त्रिदोष के लक्षणों से युक्त त्रिदोष-दुष्ट दूध जानना चाहिये।

विशुद्धस्तन्यस्य लक्षणानि।

अदुष्टं चाम्बुनिक्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम्।
मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तत् प्रशस्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त लक्षणों से रहित, जल में शीघ्र घुलनेवाला, श्वेत, मीठा, स्वाभाविक वर्णवाला एवं साफ दुग्ध प्रशंसा के योग्य होता है।

बालरोगनिदानम्[1]।

वातादिदुष्टस्तन्यपानजातानां बालरोगाणां लक्षणानि।

वातदुष्टं शिशुः स्तन्यं पिबन् वातगदातुरः।

सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते। आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥
तदेवापत्यसंस्पर्शात् दर्शनात् स्मरणादपि। ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत् संप्रवर्तते ॥
स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रस्रवे हेतुरुच्यते ॥

१—बालरोगों का निदान करते समय माता के दुग्ध की परीक्षा परमावश्यक है।

क्षामस्वरः कृशाङ्गः स्याद् बद्ध-विण्-मूत्र-मारुतः ॥
स्विन्नो भिन्नमलो बालः कामला-पित्त-रोगवान् ।
तृष्णालुरुष्णसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिबन् ॥२॥
कफदुष्टं पिबन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान् ।
निद्रान्वितो जडः शूनवक्त्राक्षश्छर्दनः शिशुः ॥३॥
द्वन्द्वजे द्वन्द्वजं रूपं सर्वजे सर्वलक्षणम् ।

अर्थ—वायु से दूषित दुग्ध को पीनेवाला बालक वायु के रोगों से पीड़ित हो जाता है। उसका स्वर बैठ जाता है, शरीर कृश हो जाता है और विष्ठा, मूत्र एवं अधोवायु रुक जाता है अथवा रुक कर आने लगता है। पित्त से दूषित दुग्ध को पीने वाले बच्चे को पसीना अधिक आया करता है और मल-भेद, कामला एवं पित्त के रोग हो जाते हैं, प्यास अधिक लगती है और सम्पूर्ण शरीर गर्म रहता है। कफ से दूषित दुग्ध पीनेवाला बालक लार एवं कफ रोगों से पिड़ित हो जाता है। नींद अधिक आती है, बालक सुस्त या ढीला-ढाला रहता है, मुख और आँख पर सूजन हो जाती है एवं कै हुआ करती है। दो दोषों से दूषित दूध पीने से दो दोषों के लक्षण तथा तीनों दोषों से दूषित दूध पीने से तीनों दोषों के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

वक्तुमशक्तस्य बालस्याभ्यन्तरिकदुःखविज्ञानम् ।
[2]शिशोस्तीव्रामतीव्रां च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम् ॥४॥
स यं स्पृशेद् भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः ।
तत्र विद्याद् रुजं, मूर्ध्नि रुजं, चाक्षिनिमीलनात् ॥५॥
कोष्ठे विबन्ध-वमथु-स्तनदंशान्त्रकूजनैः ।

१—यही "बालशोष" या "सूखा" नामक रोग है। इसमें कभी २ ग्रहदोष भी होता है। क्योंकि दैव-व्यपाश्रय-चिकित्सा से काफी सफलता देखी जाती है।

२—जो बच्चा बतला नहीं सकता उसके रोगों को जानने का यह अच्छा उपाय है।

आध्मान-पृष्ठनमन-जठरोन्नमनैरपि ॥ ६ ॥
बस्तौ गुह्ये च विण्-मूत्र-संग-त्रास-दिगीक्षणैः ।
स्रोतांस्यङ्गानि सन्धींश्च पश्येद्यत्नान्मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

अर्थ—बच्चे की भीषण एवं साधारण पीड़ा को उसके रोने के अनुसार समझना चाहिए। बच्चे के उस अंग में पीड़ा समझना चाहिये जिस अंग को वह बराबर छूए अथवा छूने न दे। और आँखे मीचे रहे तो शिर में, मल मूत्रादि के बन्ध, वमन, स्तन काटने, आतों के बोलने, अफरा, पीठ की ओर झुकने एवं पेट को ऊँचा करने के यत्न से कोष्ठ अर्थात् आमाशयादि में और बस्ति एवं लिंग, योनि तथा गुदा में मल-मूत्र के रुकने, तड़पने और इधर उधर देखने से पीड़ा का निश्चय करना चाहिऐ। शेष व्याधियों को जानने के लिये चिकित्सक को चाहिये कि बालक के स्रोतों अंगों एवं सन्धियों को बारबार भली प्रकार देख लेवे।

कुकूणकरोगस्य लक्षणम् ।

कुकूणकः क्षीरदोषात् शिशूनामेव वर्त्मनि ।
जायते तेन तन्नेत्रं कण्डूरं च स्रवेन्मुहुः ॥ ८ ॥
शिशुः कुर्याल्ललाटाक्षिकूट-नासा-ऽवघर्षणम् ।
शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मोन्मीलनक्षमः ॥ ९ ॥

अर्थ—दूध के विकार से बालकों की बरौनी में "कुकूणक"[1] नामक रोग हो जाता है। इससे उसकी आँखों में खुजली चलती है और पानी जाता है। बालक हाथों से अपने माथे, आँख एवं नाक को रगड़ता है और वह सूर्य के प्रकाश की ओर देख भी नहीं सकता अथवा कदाचित् आँखें सर्वथा बन्द किये रहता है।

पारिगर्भिकस्य लक्षणानि ।

मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि ।

१—इसे "रोहा" कहा जाता है। वर्त्म के भीतरी भाग में लाल २ अङ्कुर हो जाते हैं।

कासाग्निसाद्-वमथु-तन्द्रा-कार्श्यारुचि-भ्रमैः ॥ १० ॥
युज्यते कोष्ठवृद्ध्या च तमाहुः पारिगर्भिकम् ।
रोगं परिभवाख्यं च युञ्ज्यात्तत्राग्निदीपनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—गर्भवती माता का दुग्ध पीनेवाले बच्चे को प्रायः खाँसी, अग्निमान्द्य, कै, उँघाई, कृशता, अरुचि एवं भ्रमरोग हो जाता है और उसका पेट भी बढ़ जाता है। इसमें अग्निदीपन औषधिओं का प्रयोग करना चाहिये।

तालुकण्टकस्य लक्षणानि ।

तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकम् ।
तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥ १२ ॥
तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शकृद्द्रवम् ।
तृडक्षि-कण्ठा-[illegible]स्य-रुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः ॥ १३ ॥

अर्थ—तालु में कफ कुपित होकर "तालुकंटक" नामक रोग को उत्पन्न कर देता है। इस रोग से ठीक तालु के ऊपर सिर में गड्ढा सा पड़ जाता है। तालु नीचा हो जाता है। बच्चा दूध पीना छोड़ देता है अथवा बड़ी कठिनता से पीता है। दस्त लग जाते हैं, प्यास अधिक लगती है, आँख, कण्ठ, एवं मुख के रोग हो जाते हैं। बच्चा सिर उठाने में असमर्थ हो जाता है और कै होने लगती है।

महापद्मविसर्पस्य लक्षणानि ।

विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो बस्तिशीर्षजः ।

अर्थ—बस्तिप्रदेश पर एवं सिर पर होनेवाला विसर्प (पूर्वोक्त) बच्चे को मार डालता है।

[1]पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः ॥ १४ ॥

१—एक गुलाबी रङ्ग का दाग चार छः अङ्गुल चौड़ा पार्श्वप्रदेश में होता देखा गया है, किन्तु वह किसी ओर को गया कि नहीं पता नहीं। वह बच्चा दूसरे ही दिन मर भी जाता है।

शङ्खाभ्यां हृदयं याति हृदयाद्व वा गुदं व्रजेत् ।

अर्थ—लाल (गुलाबी) रंगवाला "महापद्म" नामक त्रिदोषज रोग होता है। यह पुटपुटी पर उत्पन्न होकर हृदय की ओर और हृदय से गुद की ओर चलता है यह भी असाध्य है।

क्षुद्ररोगोक्ताजगल्ल्यहिपूतनयोर्बालकेषु प्रभाववत्त्वम् ।

क्षुद्ररोगे च कथिते त्वजगल्ल्यहिपूतने ॥ १५ ॥

अर्थ—बालकों के अजगल्ली एवं अहिपूतना नामक रोग क्षुद्ररोगाधिकार में कह चुके हैं।

अथान्येषामपि रोगाणां बालेष्वतिदेशः ॥

ज्वराद्या व्याधयः सर्वे महतां ये पुरेरिताः ।

बालदेहेऽपि ते तद्वद्विज्ञेयाः कुशलैः सदा ॥ १६ ॥

अर्थ—ज्वर आदि जो सभी रोग बड़ी अवस्थावाले प्राणियों के सम्बन्ध में पहिले कहे जा चुके हैं, वे बालकों के शरीर में भी हो जाते हैं। यह बात कुशल चिकित्सक को स्मरण रखनी चाहिये।

स्कन्दादिबालग्रहगृहीतानां शिशूनां सामान्यलक्षणानि ।

[1]क्षणादुद्विजते बालः क्षणात् त्रस्यति रोदिति ।

नखैर्दन्तैर्दारयति धात्रीमात्मानमेव वा ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान् खादेत् कूजति जृम्भते ।

भ्रुवौ क्षिपति दन्तौष्ठं फेनं वमति चासकृत् ॥ १८ ॥

क्षामोऽति निशि जागर्ति शूनाक्षो भिन्न-विट्-स्वरः ।

मांस-शोणित-गन्धिश्च न चाश्नाति यथा पुरा ॥ १९ ॥

सामान्यं ग्रहजुष्टानां लक्षणं समुदाहृतम् ।

अर्थ—क्षण भर में बालक घबराता है, तड़प उठता है, रोता है, नाखून एवं दाँतों से धात्री को और अपने को काटता है, ऊपर देखता है, दाँत काटता (दाँत लग जाना या सिकुड़ पड़ना) है, कराहता

1—बालकों की ग्रहपीड़ा में बलि मंगलादि पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

(ऊँः ऊँः करता) है, जँभाई लेता है, भौं चढ़ाता है, दाँत कटकटाता है, ओठ फड़काता है, कृश हो जाता है, रात में जागता है (सोता नहीं)। उसकी आँखें सूज जाती हैं। अतिसार एवं स्वर-भेद हो जाता है। उसके शरीर से मांस तथा रक्त की-सी गन्ध आने लगती है एवं बालक पूर्ववत् खाता-पीता नहीं है। यह बालग्रहों का सामान्य (बहुव्यापी) लक्षण कहा गया है।

अथैषां विशेषलक्षणानि।

एकनेत्रस्य गात्रस्य स्रावः स्पन्दनकम्पनम् ॥ २० ॥
ऊर्ध्वं दृष्ट्या निरीक्षेत वक्रास्यो रक्तगन्धिकः।
दन्तान् खादति वित्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दति ॥ २१ ॥
स्कन्दग्रहगृहीतानां रोदनं चाल्पमेव च।

अर्थ—स्कन्द नामक ग्रह से आविष्ट बालकों में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—एक नेत्र से पानी जाना, एक अंग का धड़कना अथवा काँपना, ऊपर को देखना, मुख का टेढ़ापन (अर्दित-लकवा) शरीर से रक्त की गन्ध आना, दाँत लगना, तड़पना, माता के दूध को न चाहना एवं थोड़ा रोना।

स्कन्दापस्मारस्य लक्षणानि।

नष्टसंज्ञो वमेत् फेनं संज्ञावानतिरोदिति।
पूय-शोणित-गन्धित्वं स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥ २२ ॥

अर्थ—स्कन्दापस्मार का लक्षण यह है कि—संज्ञा-नाश, मुख से झाग निकलना, होश होने पर अत्यन्त रोना एवं शरीर से पीब तथा रक्त की सी गन्ध आना।

शकुनीग्रहगृहीतस्य शिशोर्लक्षणानि।

स्रस्ताङ्गो भयचकितो विहङ्गगन्धिः
सास्रावव्रणपरिपीडितः समन्तात्।
स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकै-
र्विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या ॥ २३ ॥

अर्थ—निम्न लक्षणों से युक्त बालक को "शकुनि" नामक ग्रह से पीड़ित समझना चाहिये। यथा—अंग का ढीलापन, डरकर चौंकना, पक्षी (गिद्ध) की सी गन्ध आना, सम्पूर्ण शरीर पर स्राव युक्त व्रणों का हो जाना अथवा दाह एवं पाक से युक्त फफोले निकलना।

रेवत्यादिबालग्रहगृहीतानां शिशूनां लक्षणानि।

व्रणैः स्फोटैश्चितं गात्रं पङ्कगन्धं स्रवेदसृक्।
भिन्नवर्चा ज्वरी दाही रेवतीग्रहलक्षणम् ॥ २४ ॥

अर्थ—"रेवती" ग्रहका लक्षण यह है—व्रण अथवा फफोलोंसे सम्पूर्ण शरीरका भर जाना, कीचड़ (सड़े हुए) की सी गन्धवाले (व्रणों या फफोलोंमेंसे) रक्तका निकलना, अतिसार, ज्वर एवं दाह होना।

अतीसारो ज्वरस्तृष्णा तिर्यक्प्रेक्षणरोदनम्।
नष्टनिद्रस्तथोद्विग्नो ग्रस्तः पूतनया शिशुः ॥२५॥

अर्थ—निम्न लक्षणों को देखकर बालक को "पूतना" ग्रह से ग्रस्त समझना चाहिये—अतिसार, ज्वर, प्यास, टेढ़ा देखना (टीरा हो जाना), रोना, नींद न आना एवं डरना।

छर्दिः कासो ज्वरस्तृष्णा वसागन्धोऽतिरोदनम्।
स्तन्यद्वेषोऽतिसारश्च अन्धपूतनया भवेत् ॥ २६ ॥

अर्थ—"अन्धपूतना" ग्रस्त बालकके लक्षण ये हैं—कै, खांसी, ज्वर, प्यास, वसाकी सी गन्ध, अत्यन्त रोना, दूध न पीना एवं अतिसार।

वेपते कासते क्षीणो नेत्ररोगी विगन्धिता।
छर्द्यतीसारयुक्तश्च शीतपूतनया शिशुः ॥ २७ ॥

अर्थ—"शीतपूतना" से पीड़ित बच्चा काँपता है, खाँसता है, कृश हो जाता है, नेत्ररोगी हो जाता है, शरीर से विशेष प्रकार की गन्ध आती है, कै और दस्त होने लगते हैं।

प्रसन्न-वर्ण-वदनः सिराभिरभिसंवृतः।
मूत्रगन्धी च बह्वाशी मुखमण्डिकया भवेत् ॥ २८ ॥

अर्थ—"मुखमण्डिका" के लक्षण ये हैं—मुख प्रसन्न तथा कान्ति-

मान् हो जाता है। शरीर पर शिराएँ दिखाई देने लगती हैं, मूत्र की सी गन्ध आती है और बच्चा पहिले से अधिक खाने-पीने लगता है।

छर्दि-स्पन्दन-कण्ठाऽऽस्य-शोष-मूर्च्छा-विगन्धिताः।
ऊर्ध्वं पश्येद्द दशेद्दन्तान् नैगमेयग्रहं वदेत् ॥ २९ ॥

अर्थ—निम्न लक्षणों से "नैगमेय" ग्रह की पीड़ा जाननी चाहिये—कै, कम्पन, कण्ठ तथा मुख का सूखना, मूर्च्छा, शरीर में दुर्गन्ध, ऊपर को देखना और दाँत काटना।

प्रस्तब्धाक्षः स्तनद्वेषो मुह्यते चानिशं मुहुः।
तं बालमचिराद्द हन्ति ग्रहः संपूर्णलक्षणः ॥ ३० ॥

अर्थ—उपर्युक्त ग्रह ऐसे बालक के शीघ्र मार देते हैं। यथा—जिसकी आँखे स्तब्ध हो गई हों अर्थात् टकटकी लग गई हो, सर्वथा दूध न पीता हो, बार २ मूर्च्छित हो जाता हो एवं ग्रह के अपने सभी लक्षण उत्पन्न हो गये हों।

विषरोगनिदानम्[१]।

विषस्य द्वैविध्यम्।

स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते।
मूलाद्यात्मकमाद्यं स्यात् परं सर्पादिसंभवम् ॥ १ ॥ सु० क० अ० २

अर्थ—विष दो प्रकार का होता है १—स्थावर, २—जङ्गम। इनमें पहिला अर्थात् स्थावर विष मूल या फल आदि के रूप में प्राप्त होता है और दूसरा (जंगम) साँप-बिच्छू आदि जन्तुओं से उत्पन्न होता है।

जङ्गमविषस्य सामान्यलक्षणानि।

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहमपाकं लोमहर्षणम्।
शोथं चैवातिसारं च जङ्गमं कुरुते विषम् ॥ २ ॥

अर्थ—जङ्गम विष किसी प्रकार शरीर में प्रवेश पाकर नींद, तन्द्रा,

---

१—संसार के वे द्रव्य जो प्राणी के शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर जीवनी शक्ति को नष्ट करने का यत्न करते (सफल हों या असफल) हैं, उन्हें विष कहा जाता है; किन्तु वे औषधके रूप में लाभदायक भी होते हैं।

सुस्ती, दाह, अपच, रोमहर्ष, शोथ एवं अतिसार को उत्पन्न कर देता है।

स्थावरविषस्य सामान्यलक्षणानि।

स्थावरं च ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम्।
फेनच्छर्द्यरुचिश्वासं मूर्च्छां च कुरुते भृशम्॥ ३॥

अर्थ—स्थावर विष ज्वर, हिचकी, दन्तहर्ष, गलरोध, भाग की कै, अरुचि एवं श्वास को उत्पन्न कर देता है।

विषदातुः पुरुषस्य लक्षणम्।

इङ्गितज्ञो[1] मनुष्याणां वाक्-चेष्टा-मुख-वैकृतैः।
जानीयाद् विषदातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान्॥ ४॥
न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षुर्मोहमेति च।
अपार्थं बहु संकीर्णं भाषते चापि मूढवत्॥ ५॥
हसत्यकस्मात् स्फोटत्यङ्गुलीर्विलिखेन् महीम्।
वेपथुश्चास्य भवति त्रस्तश्चान्योऽन्यमीक्षते॥ ६॥
विवर्णवक्त्रो ध्यामश्च नखैः किंचिच्छिनत्त्यपि।
आलभेतासनं दीनः करेण च शिरोरुहम्॥ ७॥
वर्तते विपरीतं च विषदाता विचेतनः। सु० क० अ० १

अर्थ—लोगों के संकेतों (इशारों) को भली प्रकार समझनेवाला बुद्धिमान् वैद्य या कोई भी व्यक्ति आस-पासवाले स्त्री-पुरुषों की बातचीत, चेष्टा, (कर्तव्य) एवं मुख के उतार-चढ़ाव को समझकर विष देनेवाले

१—प्रायः लोग अपने शत्रु को स्वयं विष नहीं देते या दे नहीं सकते-ऐसी दशा में वे उसके आस-पास रहनेवालों को मिलाकर उनके द्वारा भी यह निकृष्ट कार्य सिद्ध करते हैं। किसी प्रकार के प्रलोभनादि से वह कर तो गुजरता है, किन्तु फिर घबराकर इन कुचेष्टाओं को करने लगता है। जिनके कारण वह पापी पकड़ा भी जाता है और अपने किये दुष्फल को भोगता है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि इन लक्षणों से धोखा भी हो सकता है। अतः सावधानी से काम करना चाहिये।

को पहचानने का यत्न करे। विष देनेवाले में प्रायः यह लक्षण पाये जाते हैं जैसे—कुछ पूछने पर उत्तर नहीं देता, कुछ बोलना चाहता है तो मूर्च्छित या व्यग्र हो जाता है अथवा मूर्ख के समान व्यर्थ, आवश्यकता से अधिक एवं गड़बड़ सड़बड़ बोलता रहता है। बेमौके हँस देता है, अङ्गुलियों को मटकाता है, भूमि को कुरेदता है, काँपता है, दूसरों की ओर घबड़ा कर देखता है, मुख की कान्ति बिगड़ जाती है, मैला-कुचैला रहने लगता है, नखों से तृण आदि को काटता रहता है, सुस्त होकर आसन अथवा सिर के बालों को तोड़ता रहता है अधिक क्या विषदाता पागल के समान उलटे ही काम करता रहता है।

मूलादिविषाणां लक्षणानि।

उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च ॥ ८ ॥
जृम्भणं वेपनं श्वासो मोहः पत्रविषेण तु।
मुष्कशोथः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च ॥ ९ ॥
भवेत् पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं श्वास एव च।
त्वक्सार-निर्यास-विषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि ॥ १० ॥
आस्यदौर्गन्ध्य-पारुष्य-शिरोरुक्कफसंस्रवाः।
फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुगात्रता ॥ ११ ॥
हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि।
प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत् ॥ १२ ॥ सु० क० अ० २

अर्थ—मूलविषों के भक्षण से शरीर में ऐंठन, प्रलाप एवं मोह। पत्रविषों से जम्भाई, कम्पन, श्वास एवं अरुचि। फल विषों से अंडकोश में सूजन, दाह एवं अरुचि पुष्पविषों से कै, अफरा तथा श्वास। छाल, सार (मध्यकाष्ठ) गोंद विषों के उपयोग से मुख में दुर्गन्ध, शरीर में रूखापन, सिर में पीड़ा एवं कफ जाना। क्षीरविषों से मुख से झाग आना, अतिसार तथा शरीर में भारीपन। धातुविषों (संखिया हड़ताल आदि) से हृदय में पीड़ा, मूर्च्छा एवं तालु में दाह। प्रायः

येसभी अपनी तीक्ष्णता अथवा[1] मृदुता के अनुसार भिन्न २ समयों में मारक होते हैं[1] ।

विषाक्तशस्त्राघातस्य लक्षणानि ।

सद्यः क्षतं पच्यते यस्य जन्तोः स्रवेद्र रक्तं पच्यते चाप्यभीक्ष्णम् ।
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति क्षताद्र मांसं शीर्यते चापि यस्य ॥१३॥
तृष्णा मूर्च्छा ज्वरदाहौ च यस्य दिग्धाहतं तं पुरुषं व्यवस्येत् ।
लिङ्गान्येतान्येव कुर्याद्मित्रैर्व्रणे विषं यस्य दत्तं प्रमादात् ॥१४॥

सु० क० अ० ५

अर्थ—जिस व्यक्ति का घाव शीघ्र पक जाय, अधिक रक्त निकले, बार २ पके, काला हो जाय, सड़ जाय, अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त हो अथवा जिसके घाव में से कट २ कर मांस गिरे एवं प्यास, मूर्च्छा, ज्वर तथा दाह हो, उसे विष में बुझाए शस्त्र से घायल समझ लेना चाहिये और जिसके घाव में शत्रुओं ने अथवा किसी ने मूल विष दे दिया हो उसके भी यही लक्षण हैं[2] ।

विषपीतस्य लक्षणम् ।

सपीतं गृहधूमाभं पुरीषं योऽतिसार्यते ।
फेनमुद्वमते चापि विषपीतं तमादिशेत् ॥१५॥

अर्थ—जिसको कुछ पीला तथा घर के धूएँ का-सा दस्त हो और झाग की कै हो, उसने विष पिया है ऐसा समझना चाहिये ।

जंगम विषों का विवरण—

सर्पाणां कतिचिद् भेदाः ।

वात-पित्त-कफात्मानो भोगि-मण्डलि-राजिलाः ।

१—कन्दविष (वत्सनाभ, सिंगिया आदि) प्रायः तीक्ष्ण होते हैं । रसशास्त्र से "विष" शब्द में इन्हीं का ग्रहण होता है ।

२—जो शस्त्र तलवार-भाला आदि तरा कर विष के द्रव में बुझा लिये जाते हैं, उन्हें, "दिग्ध" कहा जाता है । ऐसे शस्त्रों से यदि शत्रु के शरीर में थोड़ा भी घाव हो जाता है तो वह बहुत दिनों तक युद्ध के योग्य नहीं रहता अथवा मर ही जाता है और शत्रु बहुधा चिकित्सकों से मिलकर व्रणों में विष दिलवा देते हैं ।

यथाक्रमं समाख्याता द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपिणः ॥१६॥

अर्थ—भोगी (फणियर या फनवाले), मण्डली (कौड़ियों वाले) एवं राजिल (धारियोंवाले) सांप क्रमशः वातप्रकृति, पित्तप्रकृति एवं कफप्रकृतिवाले होते हैं तथा वर्णसंकर साँपों में मिले-जुले पाये जाते हैं।

सर्पदंशेषु वातादीनां लक्षणानि ।

दंशो भोगिकृतः कृष्णः सर्ववातविकारकृत् ।
पीतो मण्डलिजः शोथो मृदुः पित्तविकारवान् ॥१७॥
राजिलोत्थो भवेद् दंशः स्थिरशोथश्च पिच्छिलः ।
पाण्डुः स्निग्धोऽतिसान्द्रासृक् सर्वश्लेष्मविकारकृत् ॥१८॥

अर्थ—भोगी[1] का दंश (काटा हुआ स्थान) काला तथा वायु के रोगों (आक्षेपक आदि) को उत्पन्न करता है । मण्डली का दंश पीला, शोथयुक्त, कोमल तथा पित्त के रोगों (दाहादि) को करता है । राजिल का दंश स्थायी शोथ से युक्त एवं चिपचिपा, कुछ श्वेत तथा चिकना होता है । उसमें से गाढ़ा रक्त निकलता है और कफ के सभी रोग (वमन आदि) को करता है ।

विशिष्टदेशादिषु दष्टस्यासाध्यलक्षणानि ।

अश्वत्थ-देवायतन-श्मशान-वल्मीक-सन्ध्यासु चतुष्पथेषु ।
याम्ये च दष्टाः परिवर्जनीया ऋक्षे सिरामर्मसु ये च दष्टाः ॥१९॥

सु० क० अ० ३

अर्थ—पीपल के वृक्ष पर, देवमन्दिर में, श्मशान में, बाम्बी पर, सन्ध्याकाल में, भरणी नक्षत्र के दिन अथवा सिरा एवं मर्म स्थानों में डसे या काटे हुए प्राणी असाध्य होते हैं ।

फणिविषस्य कालवशादाशुघातित्वम् ।

दर्वीकराणां विषमाशुघाति सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति ।

1—इन लक्षणों के द्वारा दंश देखकर ही काटनेवाले सर्प की प्रकृति का पता चल जाता है और चिकित्सा करने में सरलता होती है ।

अजीर्ण-पित्ताऽऽतप-पीडितेषु बालेषु वृद्धेषु बुभुक्षितेषु ॥ २० ॥
क्षीणक्षते मेहिनि कुष्ठयुक्ते रूक्षेऽबले गर्भवतीषु चापि । सु० उ० अ०३

अर्थ—दर्वीकर (फणियर) साँपों का विष बहुत शीघ्र मार देता है और उष्णकाल में सभी विष दूना प्रभाव दिखाते हैं। और इसी प्रकार अजीर्ण, पित्त एवं धूप से पीड़ित बालक, वृद्ध, भूखे, क्षय के रोगी अथवा कृश, दुर्बल, प्रमेह के रोगी, कोढ़ी, रूक्ष, तथा गर्भिणियों में भी दूना प्रभाव दिखाते हैं।

सर्पदष्टस्य सर्वथा वर्ज्जनीयलक्षणानि ।

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति राज्यो लताभिश्च न संभवन्ति ॥२१॥
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम् ।

अर्थ—सर्प के काटे जिस रोगी के शरीर पर शस्त्र द्वारा किये घाव में से रक्त नहीं निकलता अथवा जिसके शरीर पर बेत आदि मारने से लोथड़ा (साटी) नहीं उभरता अथवा जिसके शरीर पर शीतल जल छिड़कने से रोमांच नहीं होता, उसे असाध्य होने के कारण छोड़ देवे अर्थात् चिकित्सा न करे।

जिह्मं मुखं यस्य च केशशातो नासावसादश्च सकण्ठभङ्गः ॥२२॥
कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे हन्वोः स्थिरत्वं च विवर्जनीयः ।

अर्थ—सर्पदष्ट जिस रोगी का मुख टेढ़ा हो जाय, (थोड़ा भी खींचने से) केश उखड़ जायँ, नाक बैठ जाय या गन्धज्ञान का नाश हो जाय या मिन्मिनाया हो जाय, स्वरभेद या ग्रीवा धारण में असमर्थता, दंश के स्थान पर काला या कुछ लाल सूजन हो तथा हनुस्तम्भ (दांत लगना या दँद सिक्कड़ पड़ना) अथवा (मुख खुला रह जाय) हो जाय तो उसे त्याग देना चाहिये।

वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राद्द रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ॥ २३ ॥
दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्च यस्य तं चापि वैद्यः परिवर्जयेच्च ।

अर्थ—जिसके मुख में से बत्ती-सी गाढ़ी लार निकल रही हो, मुख, नासा आदि ऊपरी तथा गुद आदि निचले स्रोतों के रास्ते रक्त

निकल रहा हो तथा जिसके शरीर पर सांप के चारों दांतों के घाव हों उसे भी त्याग देना चाहिये।

उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम् ॥ २४ ॥
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च ज्ञात्वा नरं कर्म न तत्र कुर्यात् ।

सु० उ० अ० ३

अर्थ—जो अत्यन्त पागल हो गया हो, ज्वरातिसारादि उपद्रवों से पीड़ित हो, स्वरभेद से युक्त हो, कान्तिहीन हो गया हो, उपर्युक्त असाध्य लक्षणों से युक्त हो तथा जिसके विषवेग सर्वथा शान्त हो गये हों, ऐसे रोगी को देखकर उसकी चिकित्सा न करे।

किंचिदवस्थान्तरगतस्यास्यैव विषस्य दूषीविषसंज्ञा ।

जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥२५॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति ।

सु० क० अ० २

अर्थ—स्थावर (कन्द आदि) जङ्गम (सांप आदि का) विष ही पुराना, विषनाशक ओषधियों द्वारा हीनवीर्य, वनाग्नि, वायु तथा धूप के द्वारा सूखा हुआ अथवा स्वभाव से गुणहीन "दूषीविष" हो जाता है।

दूषीविषस्य लक्षणानि ।

वीर्याल्पभावाद् न निपातयेत् तत् कफान्वितं वर्षगणानुबन्धि ॥२६॥
तेनार्दितो भिन्न-पुरीष-वर्णो वैगन्ध्य-वैरस्ययुतः पिपासी ।
मूर्च्छां भ्रमं गद्गदवाग्वमिं च विचेष्टमानोऽरतिमाप्नुयाद्वा ॥२७॥

सु० क० अ० २

अर्थ—दूषीविष शक्ति घट जाने के कारण प्राणी को मार नहीं सकता, किन्तु कफ के साथ मिलकर वर्षों तक कष्ट देता रहता है। यथा—दूषीविष से पीड़ित रोगी को अतिसार होते रहते हैं, उसकी कान्ति नष्ट हो जाती है, शरीर या मुख से दुर्गन्ध आती रहती है, मुख बेस्वाद रहता है, प्यास अधिक लगती है, मूर्च्छा, भ्रम, हकलापन, कै, हाथ-पांव पटकना तथा बेचैनी होती रहती है।

अथैतस्य स्थानविशेषस्थित्या विशिष्टलक्षणानि ।

आमाशयस्थे कफवातरोगी पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी ।
भवेत् समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥२८॥
सु० क० अ० २

अर्थ—यदि विष आमाशय में रहता है तो रोगी कफ-वायु के रोगों से पीड़ित रहता है और यदि पक्वाशय में रहता है तो रोगी वायु-पित्त के रोगों से पीड़ित रहता है तथा उसके केश उखड़ जाते हैं, अंग ढीले पड़ जाते हैं, पंख नोच लेने पर जो पक्षी की दशा होती है ठीक वही दशा इस रोगी की हो जाती है। अर्थात् बाल (पंख) झड़ जाते हैं और रोगी उठने (उड़ने) में असमर्थ हो जाता है।

रसादिधातुगतदूषीविषस्य लक्षणानि ।

स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारान् ।
कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु यात्याशु पूर्वं शृणु तस्य रूपम् ॥२९॥
सु० क० अ० २

अर्थ—जब वही विष रस आदि धातुओं में चला जाता है तो उस २ धातु में[1] होनेवाले रोगों को कर देता है तथा वह शीत काल, अधिक वायु चलते समय, एवं दुर्दिन (जिस दिन बादल घिरे हों) में अधिक कष्ट देता है। उक्त समयों में होनेवाले रोगों को सुनिये—

निद्रां गुरुत्वं च विजृम्भणं च विश्लेषहर्षावथवाङ्गमर्दम् ।
ततः करोत्यन्नमदाविपाकावरोचकं मण्डलकोठजन्म ॥३०॥
मांसक्षयं पाद-कर-प्रशोथं मूर्च्छां तथा छर्दिमथातिसारम् ।
दूषीविषं श्वास-तृषा-ज्वरांश्च कुर्यात् प्रवृद्धिं जठरस्य चापि ॥३१॥
सु० क० अ० २

अर्थ—वे कष्टप्रद रोग यह हैं। यथा—अधिक नींद आना, शरीर में भारीपन, जम्भाई आना, अंगों में शिथिलता, रोमाञ्च, अंगों में मर्दन की सी पीड़ा, इसके अनन्तर भोजन करने पर मद, आहार का

१—सु० सू० अ० ३४ (व्याधिसमुद्देशीय) देखिये।

न पचना, अरुचि, गोल २ चकत्तों का उभरना, मांस का सूखना, हाथ-पाँव पर सूजन, मूर्छा, कै, अतिसार, श्वास, प्यास, ज्वर तथा उदर का बढ़ना या जलोदर। बस, दूषीविष इन रोगों को उत्पन्न कर देता है।

नानाविधविषस्यानेकविकारकर्तृत्वम्।

उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्यदानाहमन्यत् क्षपयेच्च शुक्रम्।

गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं तांस्तान् विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥३२॥

सु० क० अ० २

अर्थ—कोई दूषीविष उन्माद को तो कोई आनाह को उत्पन्न कर देता है। कोई शुक्र में कमी करता है तो कोई हकलेपन को तथा कोई कुष्ठ को उत्पन्न करता है अथवा कोई उन २ विसर्पविस्फोट आदि बहुत से रोगों को उत्पन्न कर देता है।

दूषीविषशब्दस्य निरुक्तिः।

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः।

यस्मात् संदूषयेद्‌ धातून् तस्माद्‌दूषीविषं स्मृतम् ॥३३॥

अर्थ—क्योंकि उक्त प्रकार का विष देश (आनूपादि) काल (शीत प्रवात दुर्दिन आदि) अन्न (तिल कुलत्थादि) तथा दिवास्वप्न आदि कारणों से दूषित होकर बार २ धातुओं को दूषित कर देता है अतः उसे "दूषीविष" कहा जाता है।

साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम्।

दूषीविषमसाध्यं स्यात् क्षीणस्याहितसेविनः ॥३४॥

सु० क० अ० २

अर्थ—दूषीविष का दोष आत्मवान् (सत्त्वगुण युक्त या पथ्यादि का उचित व्यवहार करनेवाले) मनुष्य का साध्य होता है यदि शीघ्र उसकी उचित चिकित्सा की जाय। वर्ष भर का पुराना याप्य होता है तथा बल-मांस हीन एवं मिथ्याहार विहार करनेवाले का असाध्य हो जाता है।

कृत्रिमविषस्य लक्षणानि।

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदं रजो नानाङ्गजान् मलान्।

शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥३५॥
तैः स्यात् पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते ।
मर्मप्रधमनाध्मानं हस्तयोः शोथलक्षणम् ॥३६॥
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः ।
एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥३७॥

अर्थ—स्त्रियाँ सौभाग्यवती बनने के लिये (किसी के बहकावे में आकर) पसीना, रजः (ऋतु-काल का स्राव), भिन्न-भिन्न अंगों के मल अथवा शत्रुओं द्वारा दिये हुए गरसंज्ञक विषों को अन्न (भोजन) में मिलाकर दे देती हैं। उनके कारण वह मनुष्य पीला तथा कृश हो जाता है, अग्निमान्द्य एवं निम्नलिखित लक्षणों वाला गर नामक रोग हो जाता है। यथा—बस्ति-नाभि आदि मर्मस्थान फूल जाते हैं। हाथ-पांव पर सूजन आ जाती है अथवा उदररोग, ग्रहणीदोष, यक्ष्मा, वायुगोला, धातुक्षय तथा ज्वर अथवा इसी प्रकार के दूसरे रोगों के लक्षण भी दिखाई पड़ने लगते हैं।

लूताविषस्योत्पत्तिः ।

यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिन्दवः ।
तस्माल्लूतास्तु भाष्यन्ते संख्यया ताश्च षोडश ॥३८॥ सु क० अ० ८

अर्थ—महर्षि वसिष्ठ के पसीने की बूंदें काटकर रखी हुई घास पर गिर पड़ीं, उन्हीं से सोलह प्रकार की "लूताएँ" उत्पन्न हो गईं।

लूतादंशस्य सामान्यलक्षणानि ।

ताभिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः ॥३९॥

१—"संयोगजं" च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते ।
गरः स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम् । वृद्धकाश्यपः ।
गर से होनेवाले ये वही पूर्वोक्त रोग हैं, जिनके कारण अभागा मनुष्य घुल-घुलकर मरता है ।

पिडका विविधाकारा मण्डलानि महान्ति च ।
शोथा महान्तो मृदवो रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥४०॥
सामान्यं सर्वलूतानामेतद्द् दंशस्य लक्षणम् । सु० क० अ० ८

अर्थ—उक्त लूताओं के काटने पर दंश (डंक) स्थान सड़ जाता है। उसमें से रक्त निकलता है। ज्वर, दाह, अतिसार एवं त्रिदोषज रोग हो जाते हैं। अनेक प्रकार की फुन्सियाँ तथा बड़े २ धप्पड़ निकल आते हैं। कोमल, लाल, काले एवं फैलनेवाले बड़े २ शोथ हो जाते हैं। यह सभी लूताओं का सामान्य लक्षण है।

दूषीविषाख्यलूतानां दंशलक्षणानि ।

दंशमध्ये तु यत् कृष्णं श्यावं वा जालकाचितम् ॥४१॥
ऊर्ध्वाकृति भृशं पाकं क्लेद-शोथ-ज्वरान्वितम् ।
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तद्दष्टमिति निर्दिशेत् ॥४२॥ च० चि० अ० २३

अर्थ—दंशस्थान (डंक) यदि काला, कुछ काला, सिराजाल से से व्याप्त, ऊँचा, अधिक पाक युक्त तथा सड़न, शोथ एवं ज्वर से युक्त हो तो समझना चाहिये कि दूषीविषवाली अर्थात् धातुओं को दूषित करनेवाली विष से युक्त लूताओं द्वारा काटा गया है (मारक विषवाली लूताओं द्वारा नहीं)।

प्राणहरलूतानां दंशलक्षणानि ।

शोथाः श्वेताः सिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः ।
प्राणान्तिकाश्च जायन्ते श्वास-हिक्का-शिरोग्रहाः ॥४३॥
च० चि० अ० २३

अर्थ—श्वेत वर्ण के शोथ हो गये हों, श्वेत, लाल अथवा पीली २ फुन्सियाँ निकल आई हों, ज्वर, श्वास, हिचकी एवं शिर में पीड़ा हो तो प्राणनाशक लूताओं का काटा जानना चाहिये।

अथाखुदूषीविषस्य लक्षणानि ।

आदंशात् शोणितं पाण्डुमण्डलानि ज्वरोऽरुचिः ।

लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥४४॥ च० चि० अ० २३

अर्थ—दूषी विषवाले मूसे (चूहे) के काटने से दंशस्थान में से रक्त निकलता है, कुछ पीले धप्पड़ पड़ जाते हैं, ज्वर, अरुचि, रोमाञ्च एवं दाह होता है।

प्राणहरमूषिकविषस्य लक्षणानि।

मूर्च्छाङ्ग-शोथ-वैवर्ण्य-क्लेद-शब्दाश्रुति-ज्वराः।

शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥४५॥ च० चि० अ० २३

अर्थ—असाध्य अर्थात् मारक मूसे के काटने से मूर्च्छा, शरीर में सूजन, विवर्णता, सड़न, बहरापन, ज्वर, सिर में भारीपन, लार जाना, एवं रक्त की कै यह लक्षण होते हैं (रोगी मर जाता है)।

कृकलासदष्टस्य लक्षणानि।

कार्ण्यं श्यावत्वमथवा नानावर्णत्वमेव वा।

मोहोऽथ वर्चसो भेदो दष्टे स्यात् कृकलासकैः ॥४६॥ च० चि० अ० २३

अर्थ—किरले (गिरगिट) के काटने से दंशस्थान अथवा शरीर पर कालापन अथवा कुछ कालापन अथवा कई प्रकार के रंग दिखाई पड़ते हैं और मोह एवं अतिसार हो जाता है।

वृश्चिकविषस्य लक्षणानि।

दहत्यग्निरिवादौ च भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च।

वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥ ४७ ॥

दष्टोऽसाध्यश्च हृद्-घ्राण-रसनोपहतो नरः।

मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्त्तो जहात्यसून् ॥४८॥ च० चि० अ० २३

अर्थ—बिच्छू का विष पहिले तो अग्नि के समान दाह करता है, तदनन्तर फाड़ने की सी पीड़ा करता हुआ ऊपर (वेग के साथ) को (हाथ में काटने से काँख तक पैर से कुल्ले तक) जाता है। इसके पश्चात् (३-४ कभी ५-७ घण्टे के बाद) केवल दंश स्थान में ही रह जाता है अर्थात् वहीं दाह और पीड़ा (दो-तीन दिन तक) होती रहती

है। यदि बिच्छू के काटे मनुष्य के हृदय, नाक एवं जीभ की क्रिया बन्द हो जाय अर्थात् रक्तसञ्चालन, गन्धग्रहण या बोलना बन्द हो जाय तो असाध्य समझना चाहिये और यदि शरीर का मांस कट २ कर गिरने लग जाय एवं अत्यन्त वेदना हो तो रोगी शीघ्र ही मर जाता है।

कणभदष्टस्य लक्षणानि।

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि च।
लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैवावसीदति ॥ ४९ ॥ च० चि० अ० २३

अर्थ—कणभ नामक कीड़े के काटने से विसर्प, सूजन, शूल, ज्वर एवं कै होती है और दंश स्थान गलने लग जाता है।

अथोच्चिटिङ्गदष्टस्य लक्षणम्।

हृष्टलोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान्।
दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥ ५० ॥ च०चि०अ०२३

अर्थ—उच्चिटिंग नामक कीटविशेष के काटने से रोमाञ्च एवं रोगी का लिंग कड़ा हो जाता है तथा अत्यन्त वेदना होती है। रोगी अपने शरीर को शीत जल से सींचा हुआ सा समझता है।

सविषमण्डूकदष्टस्य लक्षणम्।

एकदंष्ट्रार्दितः शूनः सरुजः पीतकः सतृट्।
छर्दिर्निद्रा च सविषैर्मण्डूकैर्दष्टलक्षणम् ॥ ५१ ॥

अर्थ—विषैले मेंढक (डण्डू) के काटने से पीड़ा युक्त पीला शोथ हो जाता है, प्यास, कै एवं नींद आती है तथा केवल एक दाँत का घाव होता है।

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहं शोथं रुजं तथा।
कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः ॥५२॥ च०चि०अ०२३

अर्थ—विषैली मछलियों के काटने से दाह, शोथ एवं पीड़ा होती है और विषैली जोंक के काटने या भूल से लगाने से खुजली, शोथ, ज्वर एवं मूर्च्छा होती है।

गृहगोधिकाशतपद्योर्दष्टस्य लक्षणम् ।

विदाहं श्वयथुं तोदं स्वेदं च गृहगोधिका ।
दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्यात् शतपदीविषम् ॥५३॥ च० चि० अ० २३

अर्थ—छिपकली[1] के काटने से भीषण दाह, सूजन, सूई के चुभने की सी पीड़ा एवं पसीना होता है और गोजर (कानखजूरा) के काटने से दंशस्थान पर पसीना, पीड़ा एवं दाह होता है ।

मशकदष्टस्य लक्षणम् ।

कण्डूमान् मशकैरीषत् शोथः स्यान्मन्दवेदनः ।
असाध्यकीटसदृशमसाध्यं मशकक्षतम् ॥ ५४ ॥ च० चि० अ० २३

अर्थ—मच्छड़ के काटने से कण्डू तथा थोड़ी सी वेदना युक्त छोटा सा धप्पड़ पड़ जाता है और पहाड़ी मच्छड़ के काटने से असाध्य लूता आदि के समान लक्षण होने के कारण रोगी असाध्य हो जाता है ।

सविषमक्षिकादष्टस्य लक्षणम् ।

सद्यः प्रस्ताविणी श्यावा दाह–मूर्च्छा–ज्वरान्विता ।
पिडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥५५॥
च० चि० अ० २३

अर्थ—मक्खी (मधुमक्खी आदि) के काटने से दंशस्थान पर शीघ्र बहनेवाली, काली, दाह, मूर्च्छा एवं ज्वर से युक्त फुन्सी हो जाती है । इन मक्खियों में "स्थगिका" नामक मक्खी मारक होती है ।

नख-दन्तयोः सामान्यविषलक्षणम् ।

चतुष्पद्भिर्द्विपद्भिश्च नख-दन्त-विषं च यत् ।
शूयते पच्यते वापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥५६॥

अर्थ—चौपाये (व्याघ्र सिंह आदि), दोपाये (मनुष्य, वनमानुष

१—इसके मूत्र लगने से भी फफोले पड़ जाते हैं । उसमें भी दाह होता है । यह सभी विषैले कीड़ों को तो खा ही जाती है, किन्तु बिच्छू को भी पकड़ कर मार डालती और खा जाती है ।

आदि) के दाँत तथा नख का विष जो होता है, उससे सूजन, पाक, पन्छा एवं ज्वर हो जाता है।

व्याघ्रादिहिंस्रजन्तूनां विषलक्षणानि ।

श्व-शृगाल-तरक्ष्वर्क्ष-व्याघ्रादीनां यदाऽनिलः ।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥५७॥
तदा-प्रस्रस्त-लाङ्गूल-हनु-स्कन्धोऽतिलालवान् ।
अव्यक्तबधिरान्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥५८॥
प्रमूढोऽन्यतमस्त्वेषां खादन् विपरिधावति ।
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु ॥५९॥
सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक् ।
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः ॥६०॥
येन चापि भवेद्दष्टस्तस्य चेष्टां रुतं नरः ।
बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विनश्यति ॥६१॥

अर्थ—कुत्ता, सियार (गीदड़), तरख, भालू (रीछ) तथा बाघ आदि की संज्ञा (पूर्ण ज्ञान) को जब संज्ञावाही स्रोतों में स्थित कफ दूषित वायु हर लेता है तो उन (कुत्ता आदि) की पूंछ हनु एवं कन्धा शिथिल हो जाता है अर्थात् पूंछ सीधी हो जाती है, मुख को इच्छा-नुसार खोल नहीं सकता और गर्दन झुक जाती है, अत्यन्त लार जाती है, कुछ बहरा तथा कुछ अन्धा (कभी २ सुनता तथा देखता भी है) हो जाता है। जो भी सामने आता है उसी की ओर दौड़ता है। अधिक पागल होने पर दूसरों को काटता हुआ इधर उधर दौड़ता रहता है। पागल कुत्ते सियार आदि के काटने से दष्टस्थान शून्य हो जाता है। काला रक्त निकलता है तथा प्रायः दिग्धविद्ध के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। जिनके द्वारा काटा जाता है रोगी उसो (कुत्ता सियार) की चेष्टाएँ करता है तथा उसी के समान रोता है। जब बार २ उसी का

अनुकरण करता है और अपनी मनुष्योचित क्रियाएँ छोड़ देता है तो मर जाता है।

दंष्ट्रिणा येन दष्टश्च तद्रूपं यस्तु पश्यति।
अप्सु चादर्शबिम्बे वा तस्य तद् रिष्टमादिशेत् ॥६२॥

अर्थ—यदि रोगी जल में या शीशे (दर्पण) में उसी की आकृति देखता है, जिसके द्वारा वह काटा गया है तो मर जाता है।

त्रस्यत्यकस्माद् योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपि वा जलम्।
जलत्रासं तु तं विद्याद् रिष्टं तदपि कीर्तितम् ॥६३॥
अदष्टो वा जलत्रासी न कथंचन सिद्ध्यति।
प्रसुप्तो वोत्थितो वापि स्वस्थस्त्रस्तो न सिद्ध्यति ॥६४॥

अर्थ—यदि कोई किसी कारण के बिना ही जल को देखकर या छूकर डरता या तड़पता है तो इस रोग को "जलत्रास" कहते हैं। यह भी अरिष्ट होता है। कुत्ते आदि के काटे बिना ही जो जलत्रासी होता है अथवा स्वस्थ मनुष्य सोकर जागने पर जलत्रासी होता है तो वह भी मर जाता है।

निर्विषमनुष्यस्य लक्षणानि।

प्रशान्तदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकामं सममूत्र-विट्कम्।
प्रसन्न-वर्णेन्द्रिय-चित्त-चेष्टं वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम् ॥६५॥

अर्थ—दोष शान्त हो जायँ, धातुयें निर्विकार हो जायँ, भोजन में रुचि हो, उचित रीति से मलमूत्र का त्याग हो तथा वर्ण (कान्ति), इन्द्रियाँ, मन एवं चेष्टा साफ हो तो जानना चाहिए कि यह मनुष्य निर्विष हो गया है।

विषयानुक्रमणिका।

ज्वरोऽतिसारो ग्रहणी चार्शोऽजीर्णं विसूचिका।
अलसश्च विलम्बी च क्रिमिरुक्-पाण्डु-कामलाः ॥ १ ॥

हलीमकं रक्तपित्तं राजयक्ष्मा उरःक्षतम् ।
कासो हिक्का सह श्वासैः स्वरभेदस्त्वरोचकः ॥ २ ॥
छर्दिस्तृष्णा च मूर्च्छाद्या रोगाः पानात्ययादयः ।
दाहोन्मादावपस्मारः कथितोऽथानिलामयः ॥ ३ ॥
वातरक्तमुरुस्तम्भ आमवातोऽथ शूलरुक् ।
पक्तिजं शूलमानाह उदावर्तोऽथ गुल्मरुक् ॥ ४ ॥
हृद्रोगो मूत्रकृच्छ्रं च मूत्राघातस्तथाऽश्मरी ।
प्रमेहो मधुमेहश्च पिडकाश्च प्रमेहजाः ॥ ५ ॥
मेदस्तथोदरं शोथो वृद्धिश्च गलगण्डकः ।
गण्डमालाऽपची ग्रन्थिरर्बुदः श्लीपदं तथा ॥ ६ ॥
विद्रधिर्व्रणशोथश्च द्वौ व्रणौ भग्ननाडिके ।
भगन्दरोपदंशौ च शूकदोषस्त्वगामयः ॥ ७ ॥
शीतपित्तमुदर्दश्च कोठश्चैवाम्लपित्तकम् ।
विसर्पश्च सविस्फोटः सरोमान्त्यो मसूरिकाः ॥ ८ ॥
क्षुद्राऽऽस्य-कर्ण-नासा-ऽक्षि-शिरः-स्त्री-बालकामयाः ।
विषं चेत्ययमुद्दिष्टो रुग्विनिश्चयसंग्रहः ॥ ९ ॥

अर्थ—सुगम ही ।

सुभाषितं यत्र यदस्ति किंचित् तत् सर्वमेकीकृतमत्र यत्नात् ।
विनिश्चये सर्वरुजां नराणां श्रीमाधवेनेन्दुकरात्मजेन ॥१०॥

अर्थ—"श्री इन्दुकर" के पुत्र श्री माधवजी ने इस ग्रन्थ में उन सब रोगनिर्णायक वचनों का संग्रह बड़े ही यत्न से किया है जो कि भिन्न २ ग्रन्थों के भिन्न २ स्थलों में लिखे हुए थे ।

यत् कृतं सुकृतं किंचित् कृत्वैवं रुग्विनिश्चयम् ।

मुञ्चन्तु जन्तवस्तेन नित्यमातङ्कसन्ततिम् ॥११॥

अर्थ—इस ग्रन्थ का निर्माण करके यदि मैंने कुछ भी पुण्य किया है तो उस पुण्य से प्राणिमात्र रोगों से मुक्त हो जायँ[1]।

वक्तव्य—ग्रन्थकर्त्ता ने यह ग्रन्थ के अन्त में मंगलाचरण किया है।

स्नायुकनिदानम्।

शाखासु कुपितो दोषः शोथं कृत्वा विसर्पवत्।
भिनत्ति तत्क्षते तत्र सोष्म स्नायुं विशोष्य च ॥१॥
कुर्यात् तन्तुनिभं जीवं वृत्तं श्वेतद्युतिं बहिः।
शनैः शनैः क्षताद्व याति छेदात् कोपमुपैति च ॥२॥
तत्पातात् शोथशान्तिः स्यात् पुनः स्थानान्तरे भवेत्।
स स्नायुकेति विख्यातः क्रियोक्ताऽत्र विसर्पवत् ॥३॥
बाह्वोर्यदि प्रमादेन त्रुट्यते जङ्घयोरपि।
संकोचं खञ्जतां चैव च्छिन्नतन्तुः करोत्यसौ ॥४॥

अर्थ—टाँगों अथवा बाँहों में कुपित दोष विसर्प रोग के समान (वस्तुतः ग्रन्थि शोथ के समान) सूजन उत्पन्न करके उसे फोड़ देता है, उस घाव में वही दोष स्नायु को सुखाकर धागे-जैसे गोल एवं श्वेतवर्ण के जीव (प्राणी) को उत्पन्न कर देता है। वह जीव उस घाव में से धीरे-धीरे (महीनों में) निकल जाता है। यदि अटूट (सावधानी के कारण पूर्णरूप से) निकल जाने से शोथ (या यह रोग ही) शान्त हो जाता है और टूट जाने से फिर दूसरे स्थान में उसी प्रकार हो जाता है। इसे "स्नायुक" या "नहरुवा" कहा जाता है। यदि उक्त तन्तु असावधानी के कारण टूट जाता है तो (यदि बाँहों में हो तो) संकोच (लुञ्जापन) और यदि टाँगों में हो तो खञ्जता (लँगड़ापन) कर देता है।

---

[1]—कितनी बड़ी सद्भावना है इसके लिए धन्यवाद।

वातेन श्यावरूक्षः सरुगथ दहनान्नीलपीतः सदाहो-
ऽथ श्वेतः श्लेष्मणा स्यात्पृथुगरिमयुतोऽथ द्विदोषो द्विलिङ्गो ।
रक्तेनारक्तकान्तिः समधिकदहनोऽथाखिलैः सर्वलिङ्गी
रोगोऽसावष्टधेत्थं मुनिभिरभिहितः स्नायुकस्तन्तुकीटः ॥५॥

अर्थ—वायु से कुछ काला, खुश्क एवं पीड़ायुक्त; पित्त से नीला, पीला एवं दाहयुक्त; कफ से श्वेत, चौड़ाई (कुछ) एवं भारीपन से युक्त; द्विदोषज दो दो दोषों के लक्षणों से युक्त; रक्त से लाल एवं अत्यन्त दाहयुक्त तथा त्रिदोषज तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होता है । इस प्रकार मुनियों ने इस "स्नायुक" को आठ प्रकार का कहा है ।

वक्तव्य—पर्वतों की तराई में तथा जहाँ कुओं के अभाव के कारण पीने के लिये तालों (जो कि बरसात के पानी से भर लिये जाते हैं) के पानी का प्रयोग होता है । ऐसे प्रदेशों (परगनों) यहमें रोग अधिक होता है । एक घाव में से एक साथ ही एक से अधिक भी कृमि निकलते हैं । इन्हें रुई की बत्ती पर लपेट (जितना निकलता रहे) कर वहीं पर खूब सावधानी के साथ पट्टी से बाँधते रहना चाहिये (ऐसा करने से टूटने का भय नहीं रहता) ।

फिरङ्गरोगनिदानम् ।

फिरङ्गसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद् भवेत् ।
तस्मात् फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः ॥ १ ॥
गन्धरोगः फिरङ्गोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम् ।
फिरङ्गिनोऽङ्गसंसर्गात् फिरङ्गिण्याः प्रसंगतः ॥ २ ॥
व्याधिरागन्तुजो ह्येष दोषाणामत्र संक्रमः ।
भवेत्, तल्लक्षयेत् तेषां लक्षणैर्भिषजां वरः ॥ ३ ॥

अर्थ—फिरंग नामक देश में यह रोग अ धक होताहै । अत एव

विद्वानों ने इसका नाम "फिरंग[1]" रख दिया है। यह फिरंगरोग संक्रामक है अर्थात् फिरंगरोग के साथ स्पर्श करने (मैथुन अथवा और किसी प्रकारसे उसके व्रणका मवाद लगने) से स्त्री को एवं फिरंगरोगवाली स्त्री के स्पर्श से पुरुष को (पुरुष से पुरुष को एवं स्त्री से स्त्री को भी) अवश्य ही हो जाता है। अतएव इसे आगन्तुज रोग कहा जाता है। दोषों का पीछे से सम्बन्ध होता है इसलिये वैद्य को चाहिये कि लक्षणों के अनुसार दोषों का निश्चय कर ले।

फिरङ्गस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्य आभ्यन्तरस्तथा।
बहिरन्तर्भवश्चापि तेषां लिङ्गानि च ब्रुवे ॥ ४ ॥

अर्थ—फिरंग रोग तीन प्रकार का होता है। यथा १—बाह्य (बाहरी), २—आभ्यन्तर (भीतरी) तथा ३—बहिरन्तर्भव। इनके लक्षणों को कहता हूँ।

तत्र बाह्यः फिरङ्गः स्याद् विस्फोटसदृशोऽल्परुक्।
स्फुटितो व्रणवद् वैद्यैः सुखसाध्योऽप्यसौ मतः ॥ ५ ॥

अर्थ—उनमें बाह्य फिरंग होता[2] है जो कि फुन्सी के सदृश थोड़ी

१—यूरोप में एक "पुर्तगाल या पोर्चुगाल" नामक प्रान्त है। कहा जाता है कि पहिले-पहिल वहीं के निवासियों में यह रोग पाया गया था और भारत में उन्हीं के साथ इस दुष्ट रोग का भी प्रचार या प्रसार हुआ था (तीन चार सौ वर्ष पूर्व और आज भी यूरोपियन मात्र को "फिरंगी" कहा जाता है जैसे मुसलमान मात्र को "तुर्क"। देखिये गुरु नानक जी की वाणी। वहाँ के निवासियों को लोग "फिरंगी" कहा करते थे और उनके इस रोग को फिरंग। यही "आतशक" या "गर्मी" है। इसे "पहाड़ो" रोग भी कहा जाता है। इस रोग का श्लोकबद्ध वर्णन भावप्रकाश के अतिरिक्त उपलब्ध पुरातन ग्रन्थों में नहीं मिलता। इसलिये भावमिश्र ही इन श्लोकों के निर्माणकर्ता माने जाते हैं।

२—यह फुन्सी लिंग और योनि के अतिरिक्त अन्यान्य स्थानों पर भी हो जाती है। अर्थात् जहाँ कहीं भी फिरंग-विष लग जाय और शरीर में प्रविष्ट हो जाय। यथा-ओठों, स्तनों, गुद एवं अन्यान्य स्थानों में।

पीड़ा से युक्त होता है। जब वह फुट जाता है तो अन्य व्रणों के समान चिकित्सा करने से अच्छा हो जाता[1] है। अतएव इसे सुख-साध्य कहा है।

सन्धिष्वाभ्यन्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम् ।
शोफं च जनयेदेष कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः ॥ ६ ॥

अर्थ—आभ्यन्तर फिरंग वह होता है, जो अस्थियों में आमवात के समान पीड़ा तथा सूजन[2] कर देता है; यह कष्टसाध्य है।

कार्श्यं बलक्षयो नासाभङ्गो वह्नेश्च मन्दता ।
अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरङ्गोपद्रवा अमी ॥ ७ ॥

अर्थ—कृशता, बल का घटना, नाक का बैठ जाना, अग्नि की दुर्बलता, हड्डियों का सूखना और टेढ़ी हो जाना यह फिरंगरोग के उपद्रव हैं।

बहिर्भवो भवेत् साध्यो नवीनो निरुपद्रवः ।
आभ्यन्तरस्तु कष्टेन साध्यः स्यादयमामयः ॥ ८ ॥
बहिरन्तर्भवश्चापि क्षीणस्योपद्रवैर्युतः ।
व्याप्तो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनयः पुरा ॥ ९ ॥

अर्थ—बाह्य फिरंग, नया एवं उपद्रवों से रहित; सुखसाध्य, आभ्यन्तर[3] कष्टसाध्य तथा बहिरन्तर्भव क्षीण रोगी का उपद्रवों से युक्त एवं सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त फिरंगरोग असाध्य होता है। इस प्रकार मननशील (विचारशील) विद्वान् कहते हैं।

१—प्रायः पारद (यथा—रसकर्पूर) के यौगिकों (नुसखों के बिना यह अच्छा नहीं होता।

२—यही नहीं, कुष्ठ के समान रक्तरोगों को (यथा—भीषण सडनयुक्त व्रण) भी कर देता है। एक स्मरण बात यह है कि गठिया (आमवात) तथा कुष्ठ के रोगियों में अधिकांश को आतशक हो चुका होता है।

३—शुक्र पर्यन्त धातुओं पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि रुग्णों की सन्तान गर्भाशय में ही रुग्ण हो जाती है और रुग्ण ही जन्मती है। खेद है कि माता-पिता की भूलों का फल सन्तति को भोगना पड़ता है।

सोमरोगनिदानम् ।

[1]स्त्रीणामतिप्रसङ्गेन शोकाच्चापि श्रमादपि ।
अतिसारकयोगाद्वा गरयोगात् तथैव च ॥१॥
आपः सर्वशरीरस्थाः क्षुभ्यन्ति प्रस्रवन्ति च ।
तस्यास्ताः प्रच्युताः स्थानान्मूत्रमार्गं व्रजन्ति हि ।
प्रसन्ना विमलाः शीता निर्गन्धा नीरुजः सिताः ।
स्रवन्ति चातिमात्रं ताः सा न शक्नोति दुर्बला ॥३॥
वेगं धारयितुं तासां न विन्दति सुखं क्वचित् ।
शिरःशिथिलता तस्या मुखं तालु च शुष्यति ॥४॥
मूर्च्छा जृम्भा प्रलापश्च त्वग् रूक्षा चातिमात्रतः ।
भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च न तृप्तिं लभते क्वचित् ॥५॥
सन्धारणाच्छरीरस्य ता आपः सोमसंज्ञिताः ।
ततः सोमक्षयात् स्त्रीणां सोमरोग इति स्मृतः ॥६॥

अर्थ—अत्यन्त मैथुन से, शोक से, परिश्रम से, मूत्रल अथवा दस्तावर औषधों के अधिक सेवन से अथवा विषप्रयोग से स्त्रियों के सम्पूर्ण शरीर की जलीय धातु विचलित होकर वृक्कों द्वारा छनती रहती है (मूत्राशय में आ जाती हैं[2]); मूत्राशय से साफ, निर्मल, शीत, गन्ध-रहित, किसी भी प्रकार की पीड़ा से रहित एवं श्वेत मूत्र अत्यन्त आने लगता है। वह स्त्री इतनी दुर्बल हो जाती है कि मूत्र के वेग को थोड़ी देर के लिए भी नहीं रोक सकती और न किसी दशा में उसे आराम ही मिलता है। सिर में शिथिलता आ जाती है। मुख और तालु सूखता

१—यह पाठ भैषज्यरत्नावली में भी है और "अतिसारकयोगाद्" के स्थान में "अभिचारिकदोषाद्वा" पाठ है

२—क्या यह "उदकमेह" ही तो नहीं है ? अथवा रोग का प्रभाव ही ऐसा है कि यह स्त्रियों को ही होता है ! अस्तु ।

रहता है। आगे चल कर मूर्च्छा, जम्भाई, प्रलाप एवं त्वचा पर अत्यन्त रूखापन हो जाता है। किसी भी प्रकार की खाने-पीने की वस्तुओं से उसकी तृप्ति नहीं होती। शरीर के धारण करने के कारण उस जल-धातु को "सोम" कहा जाता है। उस सोम के ह्रास के कारण स्त्रियों के इस रोग को "सोमरोग" कहते हैं।

शीतलारोगनिदानम् ।

देव्या शीतलयाऽऽक्रान्ता मसूर्यः शीतला बहिः ।
ज्वरयेयुर्यथा भूताधिष्ठितो विषमज्वरः ॥ १ ॥
ताश्च सप्तविधाः ख्यातास्तासां भेदान् प्रचक्ष्महे ।

अर्थ—भगवती शीतला (माता) के आवेश से युक्त पूर्वोक्त मसूरिका (मसूरिका एवं विस्फोटनिदान देखिये) ही "शीतला" कहलाती है। इनके साथ २ भूताभिषङ्गज ज्वर के समान भीषण ज्वर[1] होता है। वे सात प्रकार की होती हैं-उनके भेदों को कहते हैं—

ज्वरपूर्वा बृहत्स्फोटैः शीतला बृहती भवेत् ॥ २ ॥
सप्ताहान्निःसरत्येव सप्ताहात् पूर्णतां व्रजेत् ।
ततस्तृतीये सप्ताहे शुष्यति स्खलति स्वयम् ॥ ३ ॥

अर्थ—बड़ी फुन्सियों वाली शीतला को "बृहती" या "बड़ी माता" कहा जाता है। इसका पूर्वरूप होता है ज्वर (३-४ दिन पहिले से)। यह सात दिन में निकलती है, सात दिन में पूर्ण होती है (भरती है या पकती है) और तीसरे सप्ताह में सूखती है और खरूँड (खरींड) उतर जाते[2] हैं।

वातश्लेष्मसमुद्भूता कोद्रवा कोद्रवाकृतिः ।

१—किसी किसी को ज्वर नहीं भी होता।

२—दाग सदा के लिये रह जाते हैं। किसी २ की आँखें भी नष्ट हो जाती हैं या फूला पड़ जाता है जो असाध्य होता है। २-४ दानों से लेकर हजारों तक निकलते हैं।

तां कश्चित् प्राह पक्केति सा तु पाकं न गच्छति ॥ ४ ॥
जलशूकवदङ्गानि सा विध्यति विशेषतः ।
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा शान्तिं याति विनौषधम् ॥ ५ ॥

अर्थ—पित-कफज, कोदो की-सी फुन्सियों वाली शीतला को "कोद्रवा" या "कोदवाँ" कहा जाता है । इसे लोग समझते हैं कि पक गई है, किन्तु यह पकती नहीं। जलशूक के समान अंगों में वेदना होती है। सात अथवा दस दिन में औषधियों के बिना ही शान्त हो जाती है।

ऊष्मणा तूष्मजा रूपा सकण्डूः स्पर्शनप्रिया ।
नाम्ना पाणिसहा ख्याता सप्ताहाच्छुष्यति स्वयम् ॥ ६ ॥

अर्थ—पित्तजनित, अमौरी या पित्ती की सी, कण्डूयुक्त अतएव स्पर्श करने से सुखप्रद जो शीतला होती है, उसे "पाणिसहा" कहते हैं। यह सात दिन में स्वयं सूख जाती है।

चतुर्थी सर्षपाकारा पीतसर्षपवर्णिनी ।
नाम्ना सर्षपिका ज्ञेयाऽभ्यङ्गमत्र विवर्जयेत् ॥ ७ ॥

अर्थ—सरसों की सी छोटी २ तथा पीली सरसों के समान पीली २ जो शीतला होती है उसे "सर्षपिका" कहा जाता है । यह चौथी है। इसमें तैल आदि की मालिश नहीं करनी चाहिये।

किञ्चिदूष्मनिमित्तेन जायते राजिकाकृतिः ।
एषा भवति बालानां सुखं शुष्यति च स्वयम् ॥ ८ ॥

अर्थ—थोड़ी गर्मी के कारण राई की-सी शीतला बच्चों को आ जाती है और स्वयं सुखपूर्वक सूख जाती है।

कोष्ठवज्जायते षष्ठी लोहितोन्नतमण्डला ।
ज्वरपूर्वा व्यथायुक्ता ज्वरस्तिष्ठेद्दिनत्रयम् ॥ ९ ॥

अर्थ—शीत-पित्त के समान लाल एवं ऊँचे-ऊँचे चकत्तों (घप्पड़) वाली छठवीं शीलता होती है। इसका पूर्वरूप ज्वर होता है, व्यथा होती है एवं तीन दिन तक ज्वर रहता है।

स्फोटानां मेलनादेषा बहुस्फोटापि दृश्यते ।
एकस्फोटे च कृष्णा च बोद्धव्या चर्मजाभिधा ॥१०॥ भावप्रकाश ।

अर्थ—उपर्युक्त बड़ी माता में बहुत सी फुन्सियाँ तो होती ही हैं किंतु कभी कभी केवल एक ही काली फुन्सी भी निकलती है तो उसे "चर्मजा" कहा जाता है ।

अशीतिवातरोगनामानि ।

अशीतिर्वातजा रोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिताः ।
आक्षेपको हनुस्तम्भ ऊरुस्तम्भः शिरोग्रहः ॥ १ ॥
बाह्यायामोऽन्तरायामः पार्श्वशूलं कटिग्रहः ।
दण्डापतानकः खल्ली जिह्वास्तम्भस्तथाऽर्दितम् ॥ २ ॥
पक्षाघातः क्रोष्टुशीर्षो मन्यास्तम्भश्च पंगुता ।
कलायखञ्जता तूनी प्रतितूनी च खञ्जता ॥ ३ ॥
पादहर्षो गृध्रसी च विश्वासी चापबाहुकः ।
अपतानो व्रणायामो वातकण्टोऽपतन्त्रकः ॥ ४ ॥
अङ्गभेदोऽङ्गशोषश्च मिन्मिनत्वं च कल्लता ।
प्रत्यष्ठीलाऽष्ठीलिका च वामनत्वं च कुब्जता ॥ ५ ॥
अङ्गपीडाऽङ्गशूलं च संकोचस्तम्भरूक्षताः ।
अङ्गभङ्गोऽङ्गविभ्रंशो विड्ग्रहो बद्धविट्कता ॥ ६ ॥
मूकत्वमतिजृम्भा स्यादत्युद्गारोऽन्त्रकूजनम् ।
वातप्रवृत्तिः स्फुरणं सिराणां पूरणं तथा ॥ ७ ॥
कम्पः कार्श्यं श्यावता च प्रलापः क्षिप्रमूत्रता ।
निद्रानाशः स्वेदनाशो दुर्बलत्वं बलक्षयः ॥ ८ ॥
अतिप्रवृत्तिः शुक्रस्य कार्श्यं नाशश्च रेतसः ।

अनवस्थितचित्तत्वं काठिन्यं विरसास्यता ॥ ९ ॥
कषायवक्त्रताऽऽध्मानं प्रत्याध्मानं च शीतता ।
रोमहर्षश्च भीरुत्वं तोदः कण्डू रसाज्ञता ॥ १० ॥
शब्दाज्ञता प्रसुप्तिश्च गन्धाज्ञत्वं दृशः क्षयः । शा० प्र० खं० अ० ७

अर्थ—विचारशील विद्वानों ने वायु के जो अस्सी [1]रोग कहे हैं, उन्हें कहा जाता है—१-आक्षेपक, २-हनुस्तम्भ, ३-ऊरु-स्तम्भ, ४-शिरोग्रह, ५-बाह्यायाम, ६-आभ्यन्तरायाम, ७-पार्श्वशूल, ८-कटिग्रह, ९-दण्डापतानक, १०-खल्ली, ११-जिह्वा-स्तम्भ, १२-अर्दित, १३-पक्षाघात, १४-क्रोष्टुशीर्ष, १५—मन्यास्तम्भ, १६-पंगुता, १७-कलायखञ्जता, १८—तूनी, १९—प्रतितूनी, २०—खञ्जता, २१—पादहर्ष, २२—गृध्रसी, २३-विश्वाची, २४-अपबाहुक, २५-अपतानक, २६-व्रणायाम, २७-वातकण्टक, २८-अपतन्त्रक, २९-अङ्गभेद, ३०-अङ्गशोष, ३१-मिन्मिनत्व, ३२-कल्लता, ३३-प्रत्यष्ठीला, ३४-अष्ठीला, ३५-वामनत्व, ३६-कुब्जता, ३७-अंगपीड़ा, ३८-अंगशूल, ३९-अंगसंकोच, ४०-अंगस्तम्भ, ४१-रूक्षता, ४२-अंगभंग, ४३-अंगविभ्रंश, ४४-विड्ग्रह, ४५-बद्धविट्कता, ४६-मूकत्व, ४७-अतिजृम्भा, ४८-अत्युद्गार, ४९-अन्त्रकूजन,

---

१—निम्नाङ्क वाले रोगों को वातव्याधिनिदान में तथा पुस्तक में अन्यत्र देखिये।

७—वातज "निमोनिया" में प्रधानतया रहता है ।

८—इसे "चुक" या "चणक" या "हुक" कहते हैं, पैरों के बल जन्मे हुए मनुष्यों के पैर के अंगूठे को छुआने से तुरन्त लाभ हो जाता है ।

२६—अभिघातज आक्षेपक ही व्रणायाम है ।

२८—यही "हिष्टीरिया" है ।

३२—"गद्गदत्व" यही है ।

३५—बौनापन ।

४४—मलाशय में मल का रुकना ।

४५—मल की गाँठें बँधना या सुद्दा पड़ना ।

५०-वातप्रवृत्ति, ५१-स्फुरण, ५२-सिरापूरण, ५३-कम्प, ५४—कार्श्य, ५५-श्यावता, ५६-प्रलाप, ५७-क्षिप्रमूत्रता, ५८-निद्रानाश, ५९—स्वेदनाश, ६०-दुर्बलता, ६१-बलक्षय, ६२-शुक्रातिप्रवृत्ति, ६३-शुक्रकार्श्य, ६४—शुक्रनाश, ६५-अनवस्थितचित्तत्व, ६६—काठिन्य, ६७—विरसास्यता, ६८—कषायवक्त्रता, ६९-आध्मान, ७०—प्रत्याध्मान, ७१—शीतता, ७२-रोमहर्ष, ७३—भीरुत्व, ७४—तोद, ७५—कण्डू, ७६—रसाज्ञता, ७७-शब्दाज्ञता, ७८-प्रसुप्ति, ७९-गन्धाज्ञत्व और ८०-दृष्टिक्षय।

वक्तव्य—उपर्युक्त ८० रोग अथवा लक्षण वायु के विना कदापि हो नहीं सकते इसी प्रकार निम्नलिखित ४० तथा २० रोग अथवा लक्षण पित्त एवं कफ के बिना उत्पन्न नहीं हो सकते, इन्हें भली भाँति स्मरण कर लेने पर दोषों की विवेचना करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हो सकती। च० सू० अ० २० भी देखिये।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।



५०—अधोवायु का अधिक निःसरण।

५२—अंगों का या आँखों का फरकना।

६०—शक्ति का ह्रास।

६१—ओजः का ह्रास।

६३—शुक्र की अल्पता।

६५—उन्मादादि।

७६—रसग्राही संस्थान की, ७७—श्रवण शक्ति की, ७८—स्पर्श ज्ञान की, ७९—घ्राण की एवं ८०—दर्शन शक्ति की दुर्बलता अथवा नाश।

चत्वारिंशत्पित्तरोगनामानि ।

अथ पित्तभवा रोगाश्चत्वारिंशदिहोदिताः ॥ १ ॥
धूमोद्गारो विदाहः स्यादुष्णाङ्गत्वं मतिभ्रमः ।
कान्तिहानिः कण्ठशोषो मुखशोषोऽल्पशुक्रता ॥ २ ॥
तिक्तास्यताऽम्लवक्त्रत्वं स्वेदस्रावोऽङ्गपाकता ।
क्लमो हरितवर्णत्वमतृप्तिः पीतगात्रता ॥ ३ ॥
रक्तस्रावोऽङ्गदरणं लोहगन्धास्यता तथा ।
दौर्गन्ध्यं पीतमूत्रत्वमरतिः पीतविट्कता ॥ ४ ॥
पीतावलोकनं पीतनेत्रता पीतदन्तता ।
शीतेच्छा पीतनखता तेजोद्वेषोऽल्पनिद्रता ॥ ५ ॥
कोपश्च गात्रसादश्च भिन्नविट्कत्वमन्धता ।
उष्णोच्छ्वासत्वमुष्णत्वं मूत्रस्य च मलस्य च ॥ ६ ॥
तमसो दर्शनं पीतमण्डलानां च दर्शनम् ।
निःसरत्वं च पित्तस्य चत्वारिंशद्रुजः स्मृताः ॥७॥ शा॰ प्र॰ खं॰ अ॰ ७

अर्थ—१-उद्गार में धूआँ सा आना, २-जलन होना, ३-शरीर में गर्मी का अनुभव, ४-बुद्धिविभ्रम, ५-कान्ति का ह्रास, ६-गला सूखना, ७-मुख सूखना, ८-शुक्र की कमी, ९-मुख में कड़ुवापन, १०-मुख में खट्टापन, ११-पसीना आना, १२-अंगों का पकना, १३-क्लम, १४-त्वचा आदि पर हरापन, १५-तृप्ति न होना, १६-शरीर आदि पर पीलापन, १७-रक्त में पतलापन, १८-अंगों का फटना, १९-मुख में से लोहे की सी गन्ध आना, २०-शरीर आदि में से दुर्गन्ध आना, २१-मूत्र में पीलापन, २२-बेचैनी, २३-पुरीष में पीलापन, २४-सभी वस्तु पीली दिखाई पड़ना, २५-आँखों में पीलापन, २६-दाँतों में पीलापन, २७-शीत की अभिलाषा, २८-नाखूनों में पीलापन, २९-प्रकाश का न सुहाना,

३०-नींद कम आना, ३१-क्रोध, ३२-शिथिलता, ३३-मलभेद, ३४-अन्धापन, ३५-श्वास में उष्णता, ३६-मूत्र में उष्णता, ३७-मल में उष्णता, ३८-आँखों के सामने अन्धकार, ३९-पीले-पीले मण्डलों का दिखाई पड़ना और ४०-पित्त[1] का निकलना।

विंशतिश्लेष्मरोगनामानि।

कफस्य विंशतिः प्रोक्ता रोगास्तन्द्राऽतिनिद्रता।
गौरवं मुखमाधुर्यं मुखलेपः प्रसेकता ॥ १ ॥
श्वेतावलोकनं श्वेतविट्कत्वं श्वेतमूत्रता।
श्वेताङ्गवर्णता शैत्यमुष्णेच्छा तिक्तकामिता ॥ २ ॥
मलाधिक्यं च शुक्रस्य बाहुल्यं बहुमूत्रता।
आलस्यं मन्दबुद्धित्वं तृप्तिर्घर्घरवाक्यता ॥ ३ ॥
अचैतन्यं च गदिता विंशतिः श्लेष्मजा गदाः। शा० प्र० खं० अ० ७

अर्थ—कफ के बीस रोग होते हैं—१-ऊँघाई, २-अतिनिद्रा, ३-भारीपन, ४-मुख में मधुरता, ५-मुख[2] में चिपचिपाहट, ६-मुख से पानी आना, ७-आँखों में श्वेतता, ८-पुरीष में श्वेतता, ९-मूत्र में श्वेतता, १०-शरीर भर की श्वेतता, ११-शीत लगना, १२-गर्म पदार्थों की इच्छा, १३-कड़ुवे पदार्थों की इच्छा, १४-मल की अधिकता, १५-शुक्र की अधिकता, १६-मूत्र की अधिकता, १७-आलस्य, १८-बुद्धि की दुर्बलता, १९-अरुचि, २०-बोलने में घरघराहट, २१-अचेतनता[3]।

१—मूत्र, पुरीष एवं वमन के अतिरिक्त पसीने के साथ भी पित्त निकलता है।

२—मुख में ही नहीं, अपितु अन्यान्य स्रोतों में तथा त्वचा पर भी चिपचिपाहट या गीलापन।

३—इस प्रकार कफ के २१ रोग हो जाते हैं। सम्भवतः मन्दबुद्धि (१८) की चरमावस्था ही अचैतन्य (२१) है।